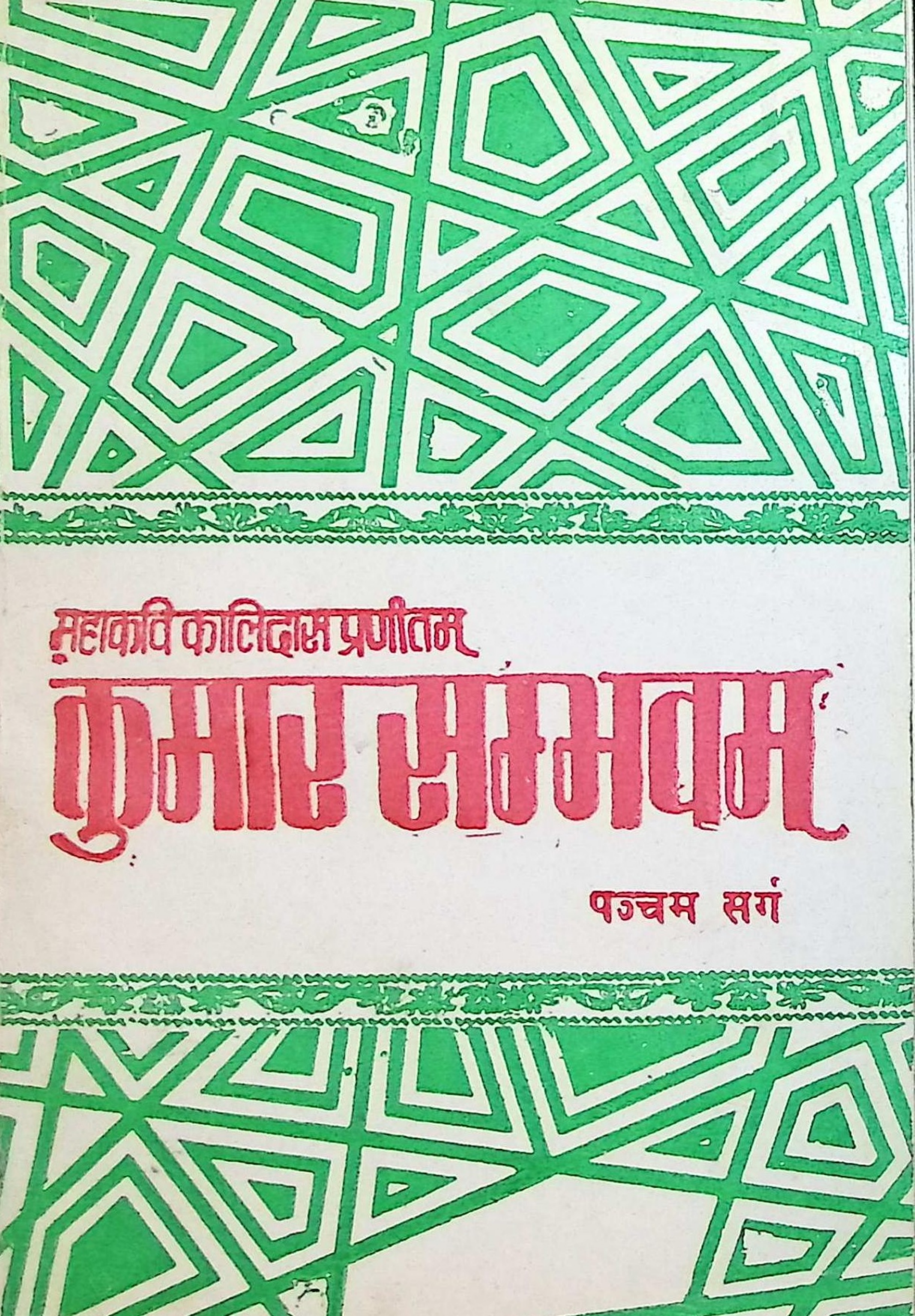

महाकवि कालिदास प्रणीतम्

कुमारसम्भवम्

पञ्चम सर्ग

महाकविकालिदासप्रणीतम्

कुमारसम्भवम्

(पञ्चमः सर्गः)

[अन्वय, सरल संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद, भावार्थ, शब्दार्थ, व्युत्पत्ति,
समास-विग्रह, व्याकरण, व्याख्यात्मक टिप्पणी तथा
सर्वाङ्गपूर्ण समीक्षात्मक भूमिका एवं
उपयोगी परिशिष्टों सहित]

Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
596

व्याख्याकार तथा भूमिका लेखक
डा० सुरेन्द्रदेव शास्त्री
भिषगाचार्य, बी० ए० एम० एस०
एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत), पी-एच० डी०
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
मुरली मनोहर टाउन एरिया डिग्री कालेज, बलिया।

KU-5

साहित्य भण्डार
शिक्षा साहित्य प्रकाशक
सुभाष बाज़ार, मेरठ-२५०००२

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ–२ ।

...hawan's Sri Sankaracharya ... Mahavidyalaya
596

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन ।

संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण 1989

भारतीय विद्या भवन
नई दिल्ली
श्री/श्रीमती/कुमारी साधना पाराशर
को प्रारम्भ परीक्षा (प्रथम) में
उत्तीर्ण होने पर पुरस्कृत की गई।
K. R. Mandla
मंत्री संचालक
दिनांक.................

मूल्य 10/-

मुद्रक :
सर्वोदय प्रेस, मेरठ ।
दूरभाष : ७४३५२

भूमिका

"महाकवि कालिदास का काल तथा जीवन-वृत्त"

संस्कृत-साहित्य में महाकवि कालिदास को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों में उनकी गणना की जाती है। इनके काल के बारे में विद्वानों में अनेक मत हैं। सिद्धान्त-दृष्टि से किसी कवि के काल तथा उसके जीवन-वृत्त को जानने के बारे में मुख्य रूप से दो साधन हुआ करते हैं—(१) अन्तः-साक्ष्य—अर्थात् कवि ने अपनी रचनाओं में अपने बारे में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से क्या लिखा है? (२) बहिःसाक्ष्य—अर्थात् कवि के समकालीन तथा परवर्ती विद्वानों ने उसके बारे में क्या-क्या लिखा है? इन दोनों में प्रथम साक्ष्य को अधिक प्रामाणिक स्वीकार किया जाता है।

महाकवि कालिदास तो स्वभाव से ही अत्यन्त उदार तथा विनयी थे। अतः उन्होंने स्वरचित नाटकों में प्राचीन पद्धति का अनुसरण कर अपने नाम मात्र का ही उल्लेख[1] किया है। उनके काव्यों में तो इसका भी सर्वथा अभाव है। उनकी इस निस्पृहता का दर्शन उनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से मिलता है। यही नहीं कि उन्होंने अपने सम्बन्ध में ही कुछ न लिखा हो, उन्होंने तो अपने आश्रयदाता राजा के सम्बन्ध में भी एक प्रशस्ति पंक्ति तक नहीं लिखी है। यहाँ तक कि अपने काव्यों में आश्रयदाता के नाम तक का भी उन्होंने

---

[1] सूत्रधारः—…"अद्य खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।" (अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रारम्भ में)।

[1] सूत्रधारः—"अहमस्यां कालिदासप्रथितवस्तुना नवेनत्रोटकेनोपस्थास्ये"

(विक्रमोर्वशीय पृष्ठ-१५४)

[1] सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासप्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिवमन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति।

(मालविकाग्नि० के प्रारम्भ में)

कहीं उल्लेख नहीं किया है। अतएव अन्तःसाक्ष्य के आधार पर हम उनके काल अथवा जीवन-वृत के सम्बन्ध में कुछ भी जानने में पूर्णतया असमर्थ हैं।

बाह्यसाक्ष्य के आधार पर महाकवि के काल तथा जीवन-वृत के सम्वन्ध में कुछ सामग्री अवश्य उपलव्ध होती है। किन्तु उसके आधार पर भी किसी निश्चित निर्णय पर पहुँच सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

उनके काल की दो सीमायें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। उन्होंने अपने "मालविकाग्निमित्रम्" नामक नाटक का कथानक शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र के जीवन से लिया है। वह अग्निमित्र सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था। पुष्यमित्र ने मौर्यवंश का उच्छेद कर मगध-साम्राज्य पर अपना अधिकार कर लिया था। इसका काल[1] ईसा से १८४ वर्ष पूर्व स्वीकार किया जाता है। ऐसी स्थिति में कालिदास का समय इससे पूर्व का नहीं हो सकता है।

महाकवि कालिदास के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख हमें कन्नौज के सम्राट हर्ष के आश्रित रहने वाले महाकवि बाणभट्ट द्वारा रचित "हर्षचरित" की प्रस्तावना में मिलता है। सम्राट् हर्ष का समय[2] इतिहासज्ञों ने ६०६ ई० से

---

[1] १. १८४ ई० पू० में राजा वृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र गद्दी पर बैठा–

(i) A Comprehensive History of India—

---Volume II—Page 95. Line—10

(ii) Ancient India—Dr. R. C. Majumdar, page—12

Line—10.

(iii) रतिभानुसिंह नाहर : प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास : सम्राट् हर्षवर्धन का शासन काल—६०६–६४७ : पृष्ठ ४९४–५०८।

[2] २. डॉ रामाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास : हर्ष का राज्यारोहण का काल ६०६ ई०, पृष्ठ २२४ : मृत्युकाल ६४७ अथवा ६४८ ई०—पृष्ठ २३५ पंक्ति १५।

६४७ ईसवी सन् तक माना है। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत के "एहोल" नामक ग्राम में उपलब्ध शिलालेख पर (६३४ ईसवी) खुदी हुई प्रशस्ति[1] में भी कालिदास का नाम मिलता है। ये दोनों ही प्रकार के उल्लेख ईसा की सप्तम शताब्दी के हैं। अतः इसके अनन्तर भी कालिदास का काल निर्धारित किया जाना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त दोनों सीमाओं के मध्य-काल के अन्तर्गत ही महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में विभिन्न आलोचकों की मान्यताओं पर आधारित अनेक मत उपलब्ध होते हैं। इन मतों का विभाजन निम्नलिखित तीन भागों में किया जा सकता है—

इसके अन्तर्गत डॉ० हार्नली का कथन है कि महाराज यशोधर्मन ही कालिदास के विक्रमादित्य थे, क्योंकि इन्होंने ही हूणवंशीय राजा मिहिरकुल को हराया था। किन्तु यह मत पूर्णतया सदोष है। वास्तविकता यह है कि महाराज यशोधर्मन को "विक्रमादित्य" की उपाधि कभी नहीं मिली थी तथा कालिदास के विक्रमादित्य हूणारि न होकर शकारि थे।

द्वितीय कल्पना—फर्ग्युसन महोदय का कथन है कि उज्जयिनी के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने ५४४ ई० में शकों को कहरूर की लड़ाई में हराकर इस विजय के उपलक्ष्य में विक्रम सम्वत् चलाया। इस सम्वत् को प्राचीन तथा चिरस्मरणीय बनाने के लिये उसने इसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाया था अर्थात् उसका आरम्भ ईसा से ५७ वर्ष पूर्व माना था। इनकी इस कल्पना को आधार मानकर प्रो० मैक्समूलर ने भी कहा है कि वस्तुतः ये विक्रम ही कालिदास के विक्रम थे। अतः कालिदास का समय छठी शताब्दी प्रकट होता है। इस मत की पुष्टि में यह भी दिखलाया जाता है कि कालिदास के ग्रन्थों में यवन, शक, पहलव, हूण आदि जातियों के नाम आते हैं। हूणों ने ५०० ई० में भारतवर्ष पर आक्रमण प्रारम्भ किया था अतः उनका उल्लेख कालिदासकृत रचनाओं में होने के कारण कालिदास का काल उसके पश्चात् का ही होना चाहिये।

---

[1] येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स जयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥
ऐहोल शिलालेख—(पुलकेशी द्वितीय) शक संवत् ५५६ (६६४ ई०)

किन्तु यह मत निम्नलिखित आपत्तियों के कारण पूर्णतया अमान्य हो जाता है—

(i) हर्ष विक्रमादित्य द्वारा प्रचलित सम्वत् का प्रारम्भ ६०० वर्ष पूर्व ही क्यों स्वीकार किया गया है, कुछ अधिक अथवा कम वर्ष पूर्व क्यों नहीं ? इसका कोई भी समाधान आज तक नहीं हो सका ? इसके अतिरिक्त ५४४ ई० से पूर्व भी मालव सम्वत् ५२९ तथा विक्रम सम्वत् ४३० के प्रयोग मिलते हैं। अतः उक्त मत पूर्णतया निराधार सिद्ध हो जाता है।

(ii) रघुवंश महाकाव्य में हूणों अथवा अन्य जातियों का वर्णन विदेशी विजेताओं के रूप में नहीं आता। रघु द्वारा अपनी दिग्विजय में उनको भारत की सीमा के बाहर पराजित किया गया था। चीन तथा एशिया के इतिहास से यह भी प्रमाणित हो चुका है कि ई० पू० प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में हूण लोग पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे।

(iii) ४७३ ई० की मन्दसौर वाली वत्सभट्टि रचित प्रशस्ति में ऋतु-संहार और मेघदूत के कितने ही पद्यों की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है।

वास्तविकता तो यह है कि छठी शताब्दी से बहुत पूर्व ही विक्रम संवत भारत में मालव संवत् के नाम से प्रचलित था तथा उसकी स्थापना ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रम नाम के मालवगण के नेता द्वारा की गई थी। इसकी पुष्टि भी उपर्युक्त शिलालेख से हो जाती है।

तृतीय कल्पना—कुछ विद्वानों का कहना है कि कालिदास ने अपने गन्यों में "जामित्र" आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे ग्रीक-ज्योतिष से भली-भाँति परिचित थे। भारत में ग्रीक-ज्योतिष का प्रचार आर्यभट्ट ने किया था। आर्यभट्ट का काल ईसा की पञ्चम शताब्दी का अन्तिम भाग माना गया है। अतः कालिदास का काल ईसा की छठी शताब्दी माना जाना उचित ही है। इसके विरुद्ध डा० मैकडोनेल का कथन है कि आर्यभट्ट से पूर्व भी भारतीय ग्रीक-ज्योतिष के सिद्धान्तों से परिचित थे। इसका प्रमाण "रोमक सिद्धान्त" नामक ग्रन्थ है जो आर्यभट्ट के समय से पूर्व का है।

चतुर्थ कल्पना—टीकाकार मल्लिनाथ ने मेघदूत के चौदहवें श्लोक के दो अर्थ किये हैं। उनके लेखानुसार उक्त पद्य में प्रयुक्त, 'दिङ्नाग' और 'निचुल'

पद क्रमशः बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग और कालिदास के सतीर्थ्य महाकवि निचुल ा संकेत करते हैं। कालिदास के समकालीन दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। वसुबन्धु का समय ईसा की छठी शताब्दी है। अतः कालिदास का भी काल यही हो सकता है। किन्तु यह कल्पना भी पूर्णतया सदोष है क्योंकि वसुबन्धु ईसा की चतुर्थ शताब्दी में विद्यमान थे। चीनी भाषा में उनके ग्रन्थों का अनुवाद चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम चरण तथा पञ्चम शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ था। अतः उक्त कल्पना भी पूर्णतया निराधार है।

गुप्तकालीन मत

योरोपीय आलोचकों तथा विद्वानों ने गुप्तकालीन राजाओं के समुन्नत साम्राज्य-काल में कालिदास का काल माना है। कीथ महोदय ने इस मत का समर्थन किया है। उनका कहना है कि शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले, विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले तथा अपने से पूर्व काल से प्रचलित मालव सम्वत् को विक्रम सम्वत् के नाम से प्रचारित करने वाले, गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय थे। इतिहासज्ञों ने इनका काल ३७६–४१३ ई० माना है। इसी स्वर्णकाल में महाकवि कालिदास ने अपनी कीर्ति-कौमुदी का प्रसार किया होगा। इस मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि कालिदास के कुमारसम्भव नामक महाकाव्य की रचना सम्भवतः चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को लक्ष्य में रखकर की गई है। महाकवि ने गुप् धातु का प्रयोग भी अनेक बार किया है (रघुवंश—१/५५, २/२४, ४/२०, ४/२६ इत्यादि) चतुर्थ शताब्दी ईसवी की हरिषेण कृत प्रयाग वाली प्रशस्ति में किये गये समुद्रगुप्त के विजय-वर्णन तथा रघुवंश में वर्णित रघु द्वारा की गई दिग्विजय की घटनाओं में बहुत साम्य दृष्टिगोचर होता है। कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित सुख एवं शान्ति का समृद्ध-काल गुप्तकाल का ही सूचक प्रतीत होता है। कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र नामक नाटक वाकाटक के राजा रुद्रसेन द्वितीय और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्त के विवाहोत्सव पर लिखा अथवा खेला गया होगा। इसमें जिस अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख मिलता है, उससे भी समुद्रगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ की ओर ही संकेत जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त रघुवंश महाकाव्य में इन्दुमती के स्वयंवर-वर्णन में "**ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः**",

इन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्य" आदि कथनों में चन्द्रमा एवं इन्दु शब्द चन्द्रग द्वितीय के ही द्योतक प्रतीत होते हैं। अतः कालिदास इन्हीं चन्द्रगुप्त द्वितीय समय में हुये होंगे।

इस मत के विरुद्ध प्रधान रूप से निम्नलिखित आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं:-

(१) यह बात बुद्धिसङ्गत प्रतीत नहीं होती कि चन्द्रगुप्त द्वितीय सदृ पराक्रमी राजा ने स्वयं अपना सम्वत् न चलाकर अपने से पूर्व प्रचलित कि अन्य द्वारा प्रचलित मालव सम्वत् को ही अपने नाम से चालू किया हो। इ अतिरिक्त यह भी विचारणीय बात है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन् गुप्त प्रथम द्वारा चलाये गये सम्वत् को छोड़कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मालव संव को पृथक् रूप से अपने सम्वत् के रूप में चलाने की धृष्टता की होगी। चन्द्रगु द्वितीय द्वारा चलाया गया तथाकथित विक्रम सम्वत् उसके बाद की शताब्दिय में कहीं भी उल्लिखित नहीं है। इस चन्द्रगुप्त के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरिना वाले शिलालेख में विक्रम सम्वत् का उल्लेख न होकर गुप्त सम्वत् का ही उल्ले उपलब्ध होता है। "गुप्तप्रकाले गणनां विधाय" इत्यादि। नवम् शताब्दी पूर्व विक्रम सम्वत् का उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता। अतः चन्द्रगुप्त द्विती द्वारा नवीन सम्वत् चलाये जाने की अथवा किसी अपने से पूर्वकालीन सम्वत् को अपना नाम देने की घटना ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाती। ऐसी स्थिति में कालिदास के स्थिति-काल से सम्बन्धित गुप्तकालीन मत का मौलिक आधार ही अप्रमाणित सिद्ध हो जाता है।

इसके अतिरिक्त कुमारसम्भव नामक महाकाव्य में कुमार शब्द का प्रयोग 'पुत्र' 'आत्मज' "सुत" के समान साधारण अर्थ में ही किया गया है किसी विशिष्ट प्रयोजन को ध्यान में रखकर नहीं। मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में जिस अश्वमेध यज्ञ का तथा यवनों की पराजय का वर्णन आया है उसका सम्बन्ध तो शुङ्गवंश के प्रवर्त्तक से है। 'रघवंश' महाकाव्य में किय गया रघु का दिग्विजय-वर्णन ऐतिहासिक होने पर भी एक कवित्व-प्रधान वर्णन है। वह तो प्रायः पुराणों में उपलब्ध वर्णनों के ही सदृश हैं। उसकी ऐतिहासिकता के बारे में अभी और अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है। कालिदास की रचनाओं में जिन उक्तियों में चन्द्रगुप्त द्वितीय की झलक दृष्टि-

गोचर होती है तथा समुद्रगुप्त के काल की झांकी दिखलाई देती है उनमें भी मतैक्य नहीं है। व्याख्या के विशिष्ट प्रकारों के आधार पर उनके विभिन्न अर्थ किये जा सकते हैं।

किसी गुप्त-सम्राट् का नाम **विक्रमादित्य** नहीं था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की उपाधि विक्रमादित्य हो सकती है, नाम नहीं। किसी उपाधि के प्रचलन के लिये यह परम आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति पहले हो चुका हो, जिसके अनुकरण पर बाद में उत्पन्न हुये महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति उस नाम की उपाधि को धारण करें। रोम में भी सीजर उपाधिधारी नरेशों से पूर्व सीजर नामक सम्राट् हो चुका था। इसी भाँति विक्रम उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय से पूर्व 'विक्रमादित्य' नामधारी कोई शासक अवश्य हुआ होगा। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वयं विक्रमादित्य नहीं थे। तब इनके काल में कालिदास की स्थिति का मानना सर्वथा अनुचित ही कहा जायेगा।

ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी का मत

भारत में यह बात परम्परागत रूप से चली आ रही है कि कालिदास महाराज विक्रमादित्य की राजसभा के कवि थे। **ज्योतिर्विदाभरण** नामक ग्रन्थ से उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है। इसमें विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों का उल्लेख आया है। इन रत्नों में एक नाम[1] कालिदास का भी है। इसके अतिरिक्त महाकवि कालिदास विरचित **अभिज्ञानशाकुन्तल** तथा **विक्रमोर्वशीय** नामक नाटकों के कुछ वाक्यों से भी कालिदास एवं विक्रमादित्य का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। अभिज्ञान शाकुन्तल में नान्दी के पश्चात् सूत्रधार एवं नटी के परस्पर वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि

---

१. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटर्परकालिदासाः।
ख्याति वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥
ज्योतिर्विदाभरण—१२/१० ॥

[इस श्लोक में विभिन्न समयों के भिन्न-भिन्न नाम आये हैं अतः इसकी प्रामाणिकता मान्य नहीं कही जा सकती है। यहाँ इस श्लोक से व्यक्तियों को उद्धृत करने का एकमात्र तात्पर्य यही है कि इसमें हिन्दू-परम्परा में प्रचलित विक्रम तथा कालिदास के साहचर्य का उल्लेख है।]

उक्त नाटक का अभिनय विक्रमादित्य की सभा में ही हुआ था।[१] इसी भाँति **विक्रमोर्वशीय** नाटक के नामकरण में भी विक्रम शब्द का प्रयोग विद्यमान है। साथ ही उक्त नाटक के प्रथम अङ्क में चित्ररथ के कथनों में दो बार 'विक्रम' शब्द[२] का उल्लेख आया है।

यद्यपि कुछ विद्वानों ने उपर्युक्त 'विक्रम' शब्द का अर्थ पराक्रम भी किया है किन्तु वह पूर्णतया असम्बद्ध सा ही प्रतीत होता है। वस्तुतः वह 'विक्रम' शब्द कालिदास के आश्रयदाता 'विक्रमादित्य' का ही प्रतीक है। अतः यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी विक्रमादित्य नामधारी राजा के ही दरबारी क[illegible]। अब यदि हम महाराज विक्रमादित्य का काल-निर्धारण कर लें तो [illegible]ाल-निर्धारण स्वयं ही हो जायेगा।

[illegible] विक्रमादित्य के आदर्श न्याय एवं लोकाराधन के कथानक समस्त भारत में प्रायः सर्वत्र प्रचलित है। सभी लोग उनके नाम और कीर्ति से परिचित हैं। उनके सम्बन्ध में यह जनश्रुति है कि वे उज्जयिनी नरेश गन्धर्वसेन के पुत्र थे। उन्होंने शकों को परास्त करके अपनी विजय के उपलक्ष्य में विकास-सम्वत् को प्रारम्भ किया था। वे काव्यमर्मज्ञ थे और कालिदास आदि कवियों के आश्रयदाता भी थे। भारतीय ज्योतिष-गणना से भी इसकी पुष्टि होती है कि ईसा ने ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य ने उक्त सम्वत् का प्रचलन प्रारम्भ किया था।

विक्रमादित्य का प्रथम उल्लेख हमें **गाथासप्तशती** के निम्नलिखित श्लोक में मिलता है—

---

१. सूत्रधार :—आर्ये ! इयं हि रसभावदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्यां च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। इत्यादि—अभि० शा०, पृष्ठ—६।

२. चित्ररथ :—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ॥ विक्रमोर्वशीय पृष्ठ २६—चित्ररथ की उक्ति ॥

२—युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः ॥

।:/ विक्रमो० पृष्ठ २९ पंक्ति १ ॥

"संवाहणं-सुहरस-तोसिएण दन्तेणतुहकरे लक्खम् ।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ।। गाथा० ५/६४

इसकी टीका करते हुए श्री गदाधर ने लिखा है—"पक्षे संवाहण संबाधनम् । लक्खम् लक्षम् ' विक्रमादित्योऽपि भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंबाधनेन तुष्ट सन् भृत्यस्य करे लक्षं ददातीत्यर्थः ।"

उक्त टीका से यह स्पष्ट हो जाता है कि **गाथासप्तशती** के रचना काल में यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे जिन्होंने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में सेवकों को लाखों की भेंट प्रदान की थी । गाथा का रचयिता सातवाहन राजा हाल, प्रथम शताब्दी ई० में हुआ था[1] । महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री[2] तथा म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[3] ने "गाथासप्तशती" के रचयिता का समय उपर्युक्त ही माना है । ऐसी दशा में विक्रमादित्य का समय इससे पूर्व ही मानना उचित होगा । अतः विक्रमादित्य का काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी ही सिद्ध होता है ।

जैन विद्वान् मेरुतुंगाचार्य ने स्वरचित "पदावली"[4] में लिखा है कि नभोवाहन के अनन्तर गर्दभिल्ल ने उज्जयिनी में १३ वर्ष पर्यन्त राज्य किया । उसके अत्याचार से पीड़ित होकर कालकाचार्य ने शकों की सहायता से उसका उन्मूलन किया । इस भाँति शकों ने उज्जयिनी में १४ वर्ष पर्यन्त राज्य किया तत्पश्चात् गर्भभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य वापिस प्राप्त कर लिया । यह घटना 'महावीरनिर्वाण' के चार सौ सत्तरवें वर्ष में घटी । महावीर का निर्वाणकाल ईसा पूर्व ५२७ वर्ष माना गया है ।

---

[1] संस्कृत साहित्य का इतिहास (संस्कृत ट्रांसलेशन ऑफ बी० वरदाचार्याज हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर) । अनुवादक डॉ० कपिलदेव द्विवेदी प्रकाशकः—रामनारायणलाल, इलाहावाद, पृष्ठ १४६-१४७ ।

[2] एपीग्राफिया इण्डिकाः—जिल्द—१२ पृष्ठ ३२० ।

[3] प्राचीन लिपिमाला—पृष्ट—१६८ ।

[4] श्री पट्टावलीसमुच्चय—प्रथम भाग (मुनिदर्शनविजय द्वारा सम्पादित)

अतः ५२७—४७०=५७ वर्ष । इस भाँति यह काल भी ईसा पूर्व ५७ व ही सिद्ध होता है ।

गुणाढ्य कृत (अप्राप्य) बृहत्कथा नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखि सोमदेव विरचित "कथासरित्सागर"[1] में भी उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य क वर्णन आता है । इस ग्रन्थ के अनुसार विक्रमादित्य परमारवंशी उज्जयिनी राजा महेन्द्रादित्य के पुत्र[2] थे, जिन्होंने म्लेच्छों का उन्मूलन, नास्तिक सम्प्रदाय का विकास तथा वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया था । वे परमशैव तथा उज्ज यिनी-स्थित महाकाल-मन्दिर के भी निर्माता थे । इन्हीं विक्रमादित्य ने शक द्वारा किये गए प्रथम आक्रमण में ही शकों को पराजित कर इस विजयो लक्ष्य के फलस्वरूप प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में 'मालवगण स्थिति' नाम संवत् का प्रचलन प्रारम्भ किया था, जो बाद में 'विक्रम-संवत्' नाम से प्रसि हुआ ।

हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के प्राच्य इतिहास एवं संस्कृति विभाग के अध्यक्ष डॉ० राजबलि पाण्डेय ने अपनी पुस्तक विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिन तथा प० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित कालिदास ग्रन्थावली के तृती खण्ड में प्रकाशित अपने विक्रमादित्य शीर्षक निबन्ध में अकाट्य प्रमाण के आधार पर यह सिद्ध किया है कि विक्रमादित्य ही मालवगण में मुख्य थे तथ उन्होंने शकों के प्रथम आक्रमण में ही उनको पराजित कर इस क्रान्तिकार घटना के उपलक्ष्य में मालवगण स्थिति नामक संवत् को प्रचलित किया था, जो बाद में विक्रम-संवत् के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ ।

विक्रमादित्य एवं कालिदास के घनिष्ठ सम्बन्ध का विवेचन इसी प्रकरण में पहले किया जा चुका है । अतः कालिदास का काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मानना उचित ही है ।

---

[1] १. बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रच्याम्यहम् ॥

कथासरित्सागर १ ल०—१ त०—३ ।

वरदाचार्य—संस्कृत साहित्य का इतिहास—पृष्ठ १६९ पंक्ति १८–१९ ।

[2] २. कथासरित्सागर—१८ वां लम्बंक ।

कालिदास की रचनाओं में प्राप्त कुछ अन्य प्रकार के उद्धरणों के आधार पर महाकवि का काल

अभिज्ञानशाकुन्तल के षष्ठ अङ्क के प्रारम्भ में धीवर को चोरी के अपराध जिस कठोर दण्ड[1] का वर्णन प्राप्त होता है तथा इसी अङ्क में उत्तराधिकार[2] सम्बन्धी नियम का जो रूप प्राप्त होता है, इससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अभि० शा० की रचना ईसा से पूर्व की है। उपर्युक्त विधानों का[3] वर्णन मनु,[4] वशिष्ठ एवं आपस्तम्ब आदि द्वारा लिखित स्मृति-ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त कालिदास द्वारा रघुवंश[5] में राजा द्वारा जिस वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था किये जाने का वर्णन उपलब्ध होता है, उसमें भी उन्होंने मनु को ही उद्धृत करते हुए लिखा है "मनु[6] द्वारा प्रणीत राजाओं को धर्म, वर्णों तथा आश्रमों की रक्षा करना है"। किन्तु बृहस्पति, याज्ञवल्क्य इत्यादि द्वारा विरचित स्मृतियों में उपर्युक्त प्रकार के कठोर दण्ड आदि का विधान नहीं मिलता है तथा न कहीं इन लेखकों अथवा स्मृतियों के बारे में कालिदास द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में कोई संकेत ही प्राप्त होता है, ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य आदि द्वारा रचित स्मृतियों के काल से पूर्व तथा मनुस्मृति इत्यादि स्मृति-ग्रन्थों के काल के पश्चात् का काल ही कालिदास का स्थितिकाल होना सम्भव है। मनुस्मृति आदि का काल ईसा पूर्व दो शताब्दी स्वीकार किया

---

[1] अभिज्ञानशाकुन्तल—पृष्ठ ३३६–३३९ पर सूचक तथा जालुक की उक्तियाँ!

[2] अभिज्ञानशाकुन्तल—पृष्ठ ४०७ पर राजा की उक्ति से लेकर पृष्ठ ४०८ की तृतीय पंक्ति तक (राजा की आज्ञा सम्बन्धी उक्ति तक)

[3] मनुस्मृति—८/३२१–३२३ ॥ (दंण्ड विधान)

[4] उत्तराधिकार—ये जाता येऽप्यजाता वा ये च गर्भे व्यवस्थिताः।
वृत्ति तेऽपि हि कांक्षन्ति वृत्तिलोपो विगर्हितः ॥ मनु० ॥

[5] नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ॥ रघु० १४/६७॥

[6] पी० वी० काने—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र : वाल्यूम—१
पृष्ठ १४८ पंक्ति ९-११।

गया है तथा याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों का ईसा की प्रथम[1] अथवा द्वित शताब्दी । अतः कालिदास का स्थितिकाल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मान उचित ही है ।

मालविकाग्निमित्र नामक नाटक कालिदास का प्रथम नाटक है । इस प्रारम्भ में महाकवि ने अपने से पूर्व के भास[2], सौमिल्ल एवं कविपुत्र नाम कवियों का उल्लेख किया है तथा भासादि नाटककारों की शैली को भी अपनाय है । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कालिदास उस समय हुए कि जि समय भासादि नाटककारों के नाटकों को जनता में अत्यधिक सम्मान प्राप्त था तथा उनके नाटकों का अभिनय भी चल रहा था । इतिहास-लेखकों भास का समय ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी[3] से ईसा पूर्व पञ्चम शताब्दी तक मान है । अतः इस आधार पर भी कालिदास का काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी ह सिद्ध होता है ।

प्रथम शताब्दी के प्रसिद्ध बौद्ध-दार्शनिक तथा कवि अश्वघोष और कालिदास की रचनाओं में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है । इस आधार पर भी विद्वानों ने विचार किया और वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि अश्वघोष ने ही कालिदास के भावों को ग्रहण किया होगा क्योंकि यदि कालिदास से पूर्व अश्वघोष हुआ होता तथा कालिदास के लिये वह अनुकरणीय और आदरणीय रहा होता तो वे अपने प्रथम नाटक की प्रस्तावना में भास, सौमिल्ल आदि

---

[1] पी० वी० काने—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र : वाल्यूम—१ पृष्ठ १८७ पंक्ति ३६–३८ ।

[2] 'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य"··· इत्यादि । मालविका० पृष्ठ ६ : चौखम्बा, २००८ संवत् संस्करण ।

[3] संस्कृत साहित्य का इतिहास (वरदाचार्य) डॉ० कपिलदेव द्विवेदी द्वारा अनूदित पृष्ठ २०० पंक्ति १२–१४ ।

[4] संस्कृत साहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय) पञ्चम संस्करण पृष्ठ ४६६–५०१ ।

[5] संस्कृत कवि दर्शन (भोलाशंकर व्यास)—पृष्ठ २३० ।

के साथ अश्वघोष का भी नाम दे सकते थे। किन्तु उन्होंने उनका नाम नहीं दिया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अश्वघोष कालिदास के पश्चात् ही हुए हैं तथा उन्हीं ने कालिदास के भावों का अनुकरण किया है।

अश्वघोष के काव्यों की गणना न तो वृहत्त्रयी में की गई है और न लघुत्रयी में ही। इसी कारण उनकी गणना संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों में न होकर एक सामान्य कवि के रूप में ही की गई है। अतः एक महाकवि ने एक साधारण कवि का अनुकरण किया होगा—यह बात बुद्धिगम्य प्रतीत नहीं होती है। वस्तुतः अश्वघोष तो प्रधान रूप से वौद्ध धर्म के साहित्य-स्रष्टा के ही रूप में हमारे समक्ष आते हैं तथा गौणरूप से कवि के रूप में। अतः उन्होंने अपनी काव्य-रचना के लिये एक प्रसिद्ध कवि को आदर्श रखा होगा और यह कालिदास ही रहे होंगे। कालिदास तो प्रधान रूप से कवि हैं अतः वे किसी महाकवि से भाव ले सकते थे, एक दार्शनिक से नहीं। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अश्वघोष ने ही कालिदास का अनुकरण किया है।

अश्वघोष कुषाण-नरेश कनिष्क के समकालीन थे। अतः उनका समय ईसा की प्रथम[1] शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कालिदास का अश्वघोष से पूर्व होना निश्चित हो चुका है। अतः उनका स्थितिकाल ईसा की प्रथम शताब्दी में स्वीकार किया जाना उपयुक्त ही है।

कालिदास के काल आदि से सम्बन्धित एक नवीन खोज

डॉ० एकान्त बिहारी के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप कालिदास के सम्बन्ध में कुछ नये तत्त्वों की खोज प्रकाश में आई है। १८ अक्टूबर सन् १९६४ के "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" के अंक में एतत्सम्बन्धी कुछ सामग्री का प्रकाशन हुआ था। उज्जयिनी से कुछ दूर भैरवगढ़ नामक स्थान से संलग्न शिप्रा नदी की तटस्थ भूमियों में गहरी खाइयां विद्यमान हैं। वर्षा के कारण भूमि के बह

---

[1] संस्कृत साहित्य का इतिहास (ए० वी० कीथ)
डॉ० मंगलदेव शास्त्री द्वारा अनुदित—पृष्ठ ६८।

जाने से यहाँ पर दो शिलाखण्ड उपलब्ध हुये हैं। इन शिलाखण्डों पर कालिदास के बारे में कुछ लेख अंकित हैं। इनको देखने से प्रतीत होता है कि ये शिलाखण्ड ई० पू० प्रथम शती में उत्कीर्ण हुये। इनका अध्ययन करने से विदित होता है कि—

"कालिदास अवन्ती देश में हुये थे तथा उनका काल शुंग राजा अग्निमित्र से लेकर विक्रमादित्य तक रहा होगा।"

इनमें से एक शिलालेख त्रुटित है तथा गद्य में है। इसमें जो कुछ पढ़ा जा सका है वह निम्नलिखित है—

प्रथम पंक्ति—'जयति व्योम······।'
द्वितीय पंक्ति—'राजच्छी······शीर्षाम्भ(णि:)······महोजा।'
तृतीय पंक्ति—'श्रीमद्विक्रम······क्षासिति······शिप्रातरङ्गोज्ज्वले।'
अन्त में लिखा है—'६४ वत्सरे···श्री हरिस्वामिनो···आज्ञा···।'

इसमें केवल यही स्पष्ट होता है कि यह शिलालेख महाराज विक्रम की आज्ञा से हरिस्वामी नाम के उनके किसी अधिकारी के आदेश से उत्कीर्ण किया गया था।

दूसरे शिलालेख में निम्नलिखित १२ अनुष्टुप् छन्द के श्लोक है। जो कि सुबोधगम्य हैं और इनसे कालिदास के बारे में पर्याप्त जानकारी मिलती है—

"जयति कविमूर्धन्य: कालिदासो द्विजोत्तम:।
अवन्तीप्रभव: श्रीमान् गुणगौरवमण्डित:॥
पूजितश्चाग्निमित्रेण राज्ञा शुंगसुतेन च।
विदिशायां राजपुर्यां मालवेन्द्रसुशोभिताम्॥
निवसन्कृतवान् काव्यं नाटकं च सुधीरयम्।
ऋतुसंहारमारभ्य मेघदूतं मनोरमम्॥
नाटकं चाग्निमित्रस्य रघुवंशमत: परम्।
शाकुन्तलं सुललितमुर्वशीयं तु वैक्रमम्॥
कुमारसंभवकथां पद्यबद्धा मरीरचत्।
ग्रन्थसप्तकस्रष्टायममरत्वमवापृवान्॥

विनयाद् वामनः सोऽयं महनीयतमोऽभवत् ।
राज्ञा समादृतः सख्यं श्रेष्ठं स्वीकृतवानयम् ॥
ततः परं महाप्राज्ञो नीतिमान् समुदारधीः ।
शासकोऽसौ महावीरो विक्रमोऽभूत् महीतले ॥
भूभृता विक्रमार्केण पूजितश्च द्विजाग्रणीः ।
अजरावरवन्मान्यः कालिदासः कलानिधिः ॥
पृथिव्यामीदृशः कोऽपि न भूतो न भविष्यति ।
विद्यावैभवसम्पन्नः कविसम्राट् रसेश्वरः ॥
पञ्चाधिकनवत्यन्तमयं काव्यकलाधरः ।
रत्नालङ्काररुचिरैर्रचयामास भारतीम् ॥
कृतसंवत्सरस्यान्ते विक्रमारम्भतः पुरा ।
पञ्चत्वमगमच्छ्रीमान् महाकालस्य सन्निधौ ॥
कार्तिकेकादशी शुक्ला रविवासरसंयुता ।
कविकीर्तिमयी भूमौ कौमुदीव विराजते ॥

उपर्युक्त श्लोकों का संक्षेप में भाव यह है कि महाकवि कालिदास की त्ति अवन्ती देश में हुयी थी । वहाँ विदिशा नाम की नगरी में शुङ्गपुत्र ग्निमित्र के द्वारा इनका सत्कार किया गया था । कालिदास द्वारा ऋतुसंहार, घदूत, मालविकाग्निमित्र, रघुवंश, अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा ारसम्भव—इन सात ग्रन्थों की रचना की गई थी । महाकवि ने अपने जीवन अन्तिम समय महाराज विक्रमार्क (विक्रमादित्य) के आश्रय में व्यतीत किया । कृत संवत् के अन्त में तथा विक्रम संवत् के प्रारम्भ में कार्तिक शुक्ला कादशी, रविवार के दिन ९५ वर्ष की आयु में ये गोलोकवासी हुये ।

उपर्युक्त श्लोकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि कालिदास का प्रारम्भक जीवन तो शुङ्गवंशी राजा के समीप में बीता था । उनकी काव्यसाधना ा श्रीगणेश भी यहीं हुआ था । इनके जीवन का अन्तिम समय अवन्ती देश के ाजा विक्रमार्क (विक्रम + अर्क + आदित्य = विक्रमादित्य) के आश्रय में व्यतीत ना था । इनकी आयु ९५ वर्ष की हुयी थी । ये अवन्ती देश के ही वासी थे ।

इतिहासज्ञों ने शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र का समय ईसा पूर्व द्वि शताब्दी माना है । अतः ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से प्रारम्भ कर ईसा प्रथम शताब्दी तक कालिदास का समय माना जा सकता है । क्योंकि उप श्लोकों से यह तो स्पष्ट है ही कि उनका अन्तिम समय विक्रमादित्य की में ही बीता था । अतः इस आधार पर भी उनका काल ईसा पूर्व ५७ मानना उचित ही होगा । अथवा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उ विद्यमानता अवश्य ही रही होगी ।

कालिदास का जीवनवृत्त

महाकवि कालिदास के जन्म-स्थान के बारे में कुछ निश्चित रूप से सकना सम्भव नहीं है क्योंकि इस बारे में भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हाँ, इतना तो अवश्य है कि इनके जीवन का उत्तरकाल उज्जयिनी में बीता—इस बारे में प्रायः सभी आलोचक विद्वान् एकमत हैं । किन्तु उ जीवन के आदिकाल के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनायें की जाती हैं । प्रथम यह है कि उनके नाम से ही प्रतीत होता है कि वे काली के दास थे । क का पूजन बंगाल में सर्वत्र होता है । इसके अतिरिक्त, 'कालिदास' नाम बंगाल निवासियों के सदृश ही प्रतीत होता है । अतः उनका जन्म-स्थान बं ही रहा होगा । दूसरी कल्पना कश्मीर निवासी होने के बारे में तथा तृ कल्पना मालव निवासी होने के सम्बन्ध में की जाती है क्योंकि इन दोनों स्थानों के प्रति कवि के हृदय में स्थान तथा अपनत्व है । साथ ही उ रचनाओं में दोनों ही स्थानों का विस्तृत वर्णन भी मिलता है ।

प्रथम कल्पना तो वस्तुतः पूर्णतया निराधार-सी प्रतीत होती है क्यों वे यदि काली के दास अर्थात् भक्त अथवा उपासक रहे होते और 'काली' के वरदान से यदि उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई होती तो वे अपनी किसी रचना तो 'काली' की स्तुति अवश्य करते । किन्तु उनकी किसी रचना में काली स्तुति उपलब्ध नहीं होती । उनके द्वारा लिखित प्रमाणित सातों ग्रन्थों केवल 'कुमारसम्भव' के एक श्लोक (कु० सं० ७/३९) में जब भगवान् श विवाह के निमित्त राजा हिमवान् के घर जा रहे थे, उस समय काली उनके सेवक परिवार में विद्यमान थीं । अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है

काली के भक्त ही थे और न काली की भक्ति के कारण उनका नाम ादास रखा गया था। वस्तुतः उनके माँ, बाप ने ही उनका कालिदास ा होगा।

मीर विषयक द्वितीय कल्पना के बारे में महामहोपाध्याय श्री लक्ष्मीधर ने अवश्य विस्तृत रूप से स्वीकार करते हुए लिखा है कि कालिदास ने न्थों में हिमालय का विस्तृत वर्णन किया है। अतः हिमालय के प्रति आत्मीयता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। 'कुमारसम्भव' के प्रथम प्रारम्भ में ही हिमालय का विस्तृत वर्णन किया गया है। 'मेघदूत' में 'अलकापुरी' नामक नगरी हिमालय पर ही थी। 'विक्रमोर्वशीय' में ुरुरवा तथा अप्सरा उर्वशी का प्रथम मिलन कश्मीर के समीप स्थित ादन' पर्वत पर हुआ था। उर्वशी के वियोग के पश्चात् राजा उसी र विचरण भी करता रहा था। 'रघुवंश' में यह राजा दिलीप के ठाश्रम' जाने का वर्णन प्रारम्भ में ही आता है, यह आश्रम भी हिमालय स्थित था। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के सप्तम अंक में वर्णित मारीच ऋषि ाश्रम भी हिमालय पर ही स्थित था। ये सभी स्थान कश्मीर में सिन्धु- में थे। इसके अतिरिक्त रघुवंश के द्वितीय सर्ग में गाय चरती-चरती एक में प्रविष्ट हो जाती है। उस गुफा में एक सिंह उस पर झपटता है। वि ने इस सिंह को "भूतेश्वर-पार्श्ववर्ती" कहा है। 'भूतेश्वर' नामक तीर्थ र में 'गंगाप्रपात' के पास में ही स्थित है।

० म० कल्ला ने यह भी सिद्ध किया है कि सिन्धु तथा मालिनी नामक ाँ, शचीतीर्थ, सोमतीर्थ तथा ब्रह्मसर आदि तीर्थस्थान और शक्रघाट स्थान भी कश्मीर में ही विद्यमान हैं। कथानक की सुविधा की दृष्टि से ने उनका (शचीतीर्थ तथा शक्रघाट) वर्णन हस्तिनापुर के समीप दिखाया है। पूर्वपरिचित होने के कारण कालिदास को इन स्थानों का स्मरण ाया होगा। नाना प्रकार के कुसुमों, नृत्यों, गीतों आदि का जो वर्णन ूत में उपलब्ध होता है वह भी कश्मीर पर ही घटता है क्योंकि इसी [illegible] कश्मीर-वर्णन कल्हणकृत 'राजतरंगिणी' में तथा बिल्हणकृत 'विक्रमाङ्क- रित' आदि ग्रन्थों में भी मिलता है।

अतः उपर्युक्त वर्णनों द्वारा कालिदास के कश्मीरी होने की बात जाती है ।

किन्तु भलि-भाँति विचार एवं परीक्षण किये जाने पर यह क उपयुक्त प्रतीत नहीं हो पाती है। प्रथम तो यह कि कालिदास नाम ही क्षेत्रीय नाम नहीं कहा जा सकता है । दूसरे यह कि भामह, रुद्रट आदि कश्मीरी पण्डितों और आचार्यों का उल्लेख 'राजतरंगिणी' आ में आता है किन्तु इस नामावली के अन्तर्गत कालिदास के नाम का कहीं भी नहीं आता है । यदि ये वस्तुतः कश्मीरी रहे होते तो कल्ह सुयोग्य इतिहासकार कालिदास के कश्मीरी होने का वर्णन अपनी अवश्य करता ।

कालिदास का भूगोल-सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त वास्तविक है। उन्हे प्रदेशों अथवा स्थलों का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है उनमें किसी प्र त्रुटि दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतः उन्होंने अप्सरस्तीर्थ, शचीतीर्थ आ का वर्णन कश्मीर से प्राप्त कर हस्तिनापुर के समीप में दिखला दिया बात पूर्णतया असंगत-सी ही प्रतीत होती हैं ।

उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर उनका कश्मीरी होना भी प्रमाणि नहीं होता है।

यद्यपि कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अनेक प्रान्तों का वर्णन किन्तु केवल प्रान्तों का वर्णन कर देने मात्र से ही कवि को उस प्र निवासी मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता । हाँ, यह अवश्य सम्भव कवि को किसी प्रदेश विशेष अथवा किसी स्थान विशेष का वर्णन स प्रिय और रुचिकर रहा हो तथा उस प्रदेश के प्रति कवि का विशेष भी रहा हो। साथ ही उस स्थल अथवा प्रदेश से उसके जीवन का सम्बन्ध भी रहा हो तो उस स्थान विशेष को कवि के जन्म-स्थान के माना जा सकता है। उसकी रचना का अध्ययन करने से यह बात स जाती है कि उनको 'मालवा' अधिक प्रिय था 'मेघदूत' में तो, मेघ दिशा की ओर जाने के मार्ग के सीधे होने पर भी उस सीधे मार्ग को टेढ़े मार्ग पर चलकर उज्जयिनी होकर जाने तथा सत्रस्थ महाकाल के

, उसकी नर्तकियों और नगरवासियों के हावभाव, अंगविलास आदि क्षण करते हुए जाने के बारे में यक्ष द्वारा मेघ को जो निर्देश दिया वर्णन आता है वह तो कवि के उज्जयिनी विषयक पक्षपात की ओर ध्यान अवश्य आकर्षित करता है। अतः कवि की इस प्रकार की पक्ष-भावना केवल स्थान के सौन्दर्य के कारण से ही नहीं बन गई होगी, उज्जयिनी से उनका अवश्य ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। महाकवि के वर्णन-प्रसंग में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि उज्जयिनी नरेश विक्रमा- दरबारी कवि थे। अतः कालिदास का मालवा (उज्जयिनी) में अधिक तक निवास उस अपनत्व को उत्पन्न कर सकता है कि जो उनकी ों में हमको प्राप्त होता है। इस भाँति यह भी स्पष्ट हो जाता है कि थ्वी पर स्थित किसी दूसरे स्थान पर महाकवि का उतना ही स्नेह दृष्टि- नहीं होता है कि जितना उज्जयिनी पर, ऐसी स्थिति में यह कहना क्त न होगा कि उनका बाल्यकाल उज्जयिनी में ही व्यतीत हुआ होगा।

ालिदास का जीवन-चरित्र—यह सिद्धान्त है—"प्रत्येक ग्रन्थकर्त्ता के र, विद्वत्ता तथा स्वभाव उसकी रचनाओं में किसी न किसी अंश में अवश्य म्बित हुआ करते हैं।" उनके वैदिक ज्ञान तथा वेदों के प्रति प्रेम का पता उनके ग्रन्थों से हमें स्पष्ट रूप से लग जाता है। अतः मनुस्मृति में ब्राह्मण वर्ण के कर्मों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि उनका 'ब्राह्मण' कुल में हुआ था। उन्होंने अपने तीनों नाटकों के प्रारम्भ में शिव तुति की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे शिवोपासक थे। मेघदूत रघुवंश में वर्णित यात्रा सम्बन्धी वर्णनों के आधार पर यह ज्ञात होता है उन्होंने भारतवर्ष की विस्तृत यात्रा भी की होगी। इसी कारण उनके उक्त सत्यता एवं स्वाभाविकता आदि से युक्त भी दृष्टिगोचर होते हैं। उनके किये गये राजद्वारों एवं राजकीय जीवनों के वर्णनों का अध्ययन करने से बात भी स्पष्ट हो जाती है कि उनका राजपरिवारों से अवश्य सम्बन्ध होगा।

कालिदास की विद्वत्ता एवं पाण्डित्य—कालिदास वस्तुतः "विद्या ददाति

विनयम्" इस सिद्धान्त के प्रतीक थे। अपनी इसी विनयशीलता के उन्होंने ग्रन्थों में किसी भी स्थल पर अपनी विद्वत्ता अथवा अपने पाण्डि सम्बन्ध में एक अक्षर तक नहीं लिखा है। साथ ही अपने ग्रन्थों की लेख में भी कहीं पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं किया है। इसी कारण उनकी रचन कहीं भी कृत्रिमता दृष्टिगोचर नहीं होती है। इतना होने पर भी उनकी अनेक विषयों के ज्ञान से ओत-प्रोत हैं जिनके अनेक उल्लेख अनेक स्थ उपलब्ध होते हैं तथा जिनके द्वारा उनके ज्ञान-गाम्भीर्य का स्पष्ट ज्ञ प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः वे सम्पूर्ण वैदिक-वाङ्मय के ज्ञाता थे। सम्भव के निम्नलिखित श्लोक से ही उनके ऋग्वेद सम्बन्धी ज्ञान का स्प लग जाता है—

> उद्घातः प्रणवो या सां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् ।
> कर्मयज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्व प्रभवो गिराम् ॥ कु० सं० २/

राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा यज्ञ की दक्षिणा (रघु० १/३१) वे थीं। इस कल्पना को महाकवि ने "यज्ञो गन्धर्वस्य दक्षिणाप्सरसः" (य १८/४२) इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र से प्राप्त किया होगा। इसी भाँति वे अनेक उद्धरण उनकी रचनाओं में विद्यमान हैं कि जिनके आधार पर यह जा सकता है कि वे अनेक उपनिषदों, स्मृतियों आदि से भली-भाँति परि

वे भारतीय दर्शनशास्त्र के भी पूर्ण ज्ञाता थे। उन्होंने भारतीय दर्श तथा उनकी विभिन्न शाखाओं का भी अध्ययन किया था। सम्पूर्ण ज एक ही तत्व विद्यमान है, वेदान्त दर्शन की यह कल्पना उनके प्रायः ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। पुरुष (आत्मा) उदासीन है, सृष्टि में चारों दृष्टिगोचर होने वाली सभी प्रवृत्तियाँ प्रकृति की हैं, इस प्रकार का सां का सिद्धान्त कुमारसम्भव तथा रघुवंश के निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है—

> "त्वामामनन्ति प्रकृतिपुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
> तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥" कु० सं० २/१३॥
> "वृद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति"...इत्यादि ॥ रघु० १२/६०॥

मनुस्मृति में वर्णित नियमों के अनुसार ही राजा दिलीप की प्रजा व्यवहार या करती थी (रघु० १/१७), अभिज्ञानशाकुन्तल में गान्धर्व विवाह आदि वर्णन (अ० शा० ३२/८) उनके स्मृतिशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का ही परि-यक है। स्मृति-प्रतिपादित उत्तम गृहिणी के कर्त्तव्यों का वर्णन (अ० शा० २०) अभि० शा० के चतुर्थ अङ्क में उपलब्ध होता है। अतः कालिदास को ृति एवं धर्मशास्त्रों का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त था यह कहना नितान्त सत्य है।

इसी प्रकार उनके ग्रन्थों का भली-भाँति अध्ययन करने से पाठक को यह दित हो जाता है कि उनको वस्तुतः राजनीतिशास्त्र, कामशास्त्र तथा नाट्य-स्त्र आदि अनेक शास्त्रों का भी ज्ञान पूर्ण रूप से था।

कालिदासत्रय—कालिद[illegible] के असाधारण प्रसिद्धि के कारण बाद में उनका म उपाधि के रूप में भी प्रचलित हो गया। उनके पश्चात् जो उत्तम कवि ए उनको या तो राजाओं द्वारा कालिदास की उपाधि से विभूषित किया गया थवा उन्होंने अपना 'उपनाम' ही 'कालिदास' रख लिया। परिणामस्वरूप नेक कालिदास भारत में हो गये तथा उनके द्वारा की गई रचनायें भी ालिदासकृत समझी जाने लगीं। इस प्रकार के तीन कालिदासों का ज्ञान जशेखर को था। उन्होंने अपनी "सूक्तीमुक्तावली" में लिखा है :—

"एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ॥
भृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रय किमु ॥"

परम्परागत दन्तकथा के आधार पर उनका वंश-परिचय आदि

कालिदास एक ब्राह्मण बालक थे। जब वे पाँच-छः मास के थे इनके माता-पिता का देहावसान हो गया। एक ग्वाला इस अनाथ-बालक को पालन-पोषण के निमित्त अपने घर ले गया। उसने उत्तम रीति से उनका लालन-पालन किया। ये गौरवर्ण के थे, इनका शरीर सुगठित तथा हृष्ट-पुष्ट था। १८ वर्ष की अवस्था तक इनका अध्ययन न हो सका। जिस नगरी में ये रहते थे वहाँ के राजा की एक अत्यन्त सुन्दर तथा गुणवती कन्या थी जब वह विवाह योग्य हुई तब राजा ने उसके योग्य एक उत्तम वर की खोज की। किन्तु इस कार्य में

सफल न हो सके। विवश होकर उसने इस कार्य को अपने मन्त्री को सौंप मन्त्री किसी कारणवश राजकुमारी से असन्तुष्ट था। अतः वह उस विदुषी क के लिये किसी मूर्ख वर की खोज में था। अतः उसने इन्हीं वज्रमूर्ख कालि के साथ उस विदुषी राजकुमारी का विवाह करने का निश्चय कर राज निवेदन किया। बाद में जब यह ज्ञात हुआ कि उसका पति मूर्ख है तो उ कालिदास को घर से निकाल दिया। वे बड़े दुःखी हुये। उन्होंने भगवती क की आराधना की—परिणामस्वरूप काली ने प्रसन्न होकर अपना वरद उनके मस्तक पर रखा जिससे वे पूर्ण विद्वान् तथा प्रतिभासम्पन्न कवि गये। इसके अनन्तर जब घर लौटे तब राजकुमारी ने उनसे पूछा "अ कश्चिद् वाग्विशेषः" अर्थात् क्या आपकी वाणी में कुछ वैशिष्ट्य आया है महाकवि कालिदास ने उनके इस वाक्य के तीन शब्दों को लेकर इन्हीं शब्दों प्रारम्भ होने वाले तीन काव्यों की रचना की। 'अस्ति' से अस्त्युत्तरस्यां दि इत्यादि से कुमारसम्भव, महाकाव्य, कश्चिद् से "कश्चित्कान्ताविरहगुरु इत्यादि से 'मेघदूत' खण्डकाव्य (गीतिकाव्य), तथा 'वाग्' से "वागर्था सम्पृक्तौ"—इत्यादि से रघुवंश महाकाव्य की रचना की।

जिस राजकुमारी की अवहेलना से वे मूर्ख से विद्वान् तथा महाक बने उसे वे माता एवं गुरु के सदृश मानकर पूजने लगे। राजकुमारी का उन इस व्यवहार से आन्तरिक क्लेश हुआ और उसने कालिदास को अभिश दिया कि उनकी मृत्यु किसी स्त्री के हाथ से होगी। एक बार वह अ मित्र राजा कुमारदास से मिलने सीलोन गये और वहाँ उन्होंने एक वेश्या सुना—"कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते"—अर्थात् एक कमल पर दू कमल की उत्पत्ति सुनी जाती है (किन्तु) देखी नहीं जाती। इस चरण पूर्ति के लिये राजा द्वारा पारितोषिक घोषित किया गया था। कलिदास इसकी पूर्ति पर उस वेश्या से कहा—"बाले तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वय अर्थात् हे बाले! तेरे मुख कमल पर ये दो नेत्ररूपी कमल कैसे आये? इ समस्या पूर्ति के लिये राजा द्वारा प्राप्त होने वाले पुरस्कार के मोह आकर उस वेश्या ने कालिदास की हत्या कर दी। राजा को जब ज्ञात हु

तो उसने भी आवेग में आकर कालिदास की चिता में अपने प्राणों का बलिदान कर दिया ।

महाकवि कालिदास की रचनायें—इनके नाम से ४१ रचनायें[1] प्रसिद्ध कही जाती हैं । इनमें से प्रथम ६ ग्रन्थों को सभी विद्वानों तथा आलोचकों ने कालिदासकृत ही स्वीकार किया है । सप्तम रचना 'ऋतुसंहार' के बारे में मतैक्य नहीं है । आलोचकों का कथन है कि इस ग्रन्थ में कालिदास के अन्य ग्रन्थों जैसी न तो शैली ही उपलब्ध होती है तथा न वाग्वैदग्ध्य ही । इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कालिदासकृत होने का न कोई दृढ़-प्रमाण[2] ही मिलता है । हाँ, इतना अवश्य है कि डॉ॰ मिराशी[3] तथा डॉ कपिलदेव[4] द्विवेदी आदि विद्वानों ने उक्त ग्रन्थ को कालिदासकृत ही माना है । इसके अतिरिक्त कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ "औचित्यविचारचर्चा" से "कुन्तलेश्वर दौत्य" का उद्धरण उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि "कुन्तलेश्वर दौत्य" भी कालिदास

---

[1] (१) रघुवंश, (२) कुमारसम्भव, (३) मेघदूत, (४) मालविकाग्निमित्र, (५) विक्रमोर्वशीय, (६) अभिज्ञानशाकुन्तल, (७) ऋतुसंहार, (८) कुन्तलेश्वर-दौत्य, (९) अम्बास्तव, (१०) कालीस्तोत्र, (११) कल्याणस्तव, (१२) काव्यनाटकालङ्कार, (१३)–(१४) गंगाष्टक, (१५) घटकर्पर, (१६) चर्चास्तव, (१७) चण्डिकादण्डकस्त्रोत, (१८) ज्योतिर्विदाभरण, (१९) दुर्घटकाव्य, (२०) नलोदय, (२१) नवरत्नमाला, (२२) पुण्यवाणविलास, (२३) मकरन्दस्तव' (२४) (२५) मंगलाष्टक, (२६) महपद्यष्टक, (२७) रत्नकोश, (२८) राक्षस काव्य, (२९) लक्ष्मीस्तव, (३०) लघुस्तव, (३१) विद्वद्विनोद काव्य, (३२) वृन्दावन काव्य, (३३) वैद्यमनोरमा, (३४) शुद्धिचन्द्रिका, (३५) श्रृंगारतिलक, (३६) श्रृङ्गाररसाष्टक, (३७) श्रृंगारसारकाव्य, (३८) श्यामलादण्डक, (३९) श्रुतबोध, सप्तश्लोकी, (४०) रामायण, (४१) सेतुबन्ध (विक्रमोर्वशीय-भूमिका पृष्ठ-७) ।

[2] संस्कृत साहित्य का इतिहास : बलदेव उपाध्याय : पृष्ठ : १६७ ।

[3] कालिदास : डॉ॰ मिराशी । पृष्ठ ९७ ।

[4] अभिज्ञान शाकुन्तल (डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी द्वारा अनूदित) की भूमिका पृष्ठ १४ ।

कालिदास की रचना है। शेष ग्रन्थ के बारे में यही कहना पर्याप्त होगा कि ये ग्रन्थ कालिदास उपाधिधारी अथवा नामधारी किन्हीं अन्य कवियों के हो सकते हैं। इन प्रमाणित सात ग्रन्थों में से (१) रघुवंश, (२) कुमारसम्भव ये दो महाकाव्य हैं, (३) मेघदूत तथा (४) ऋतुसंहार गीतिकाव्य तथा शेष तीन नाटक हैं।

"कुमारसम्भव"

उक्त महाकाव्य में १७ सर्ग मिलते हैं। भाषा, कल्पना तथा अर्थ-सौन्दर्य की दृष्टि से सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् विद्वान आलोचक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस काव्य के प्रथम आठ सर्ग महाकवि कालिदास द्वारा रचित है। शेष सर्ग किसी अन्य कवि द्वारा बाद में जोड़ दिये गये हैं। कुछ आलोचकों ने तो अष्टम सर्ग को भी कालिदासकृत स्वीकार नहीं किया है। किन्तु डॉ० कीथ, पं० बलदेव उपाध्याय आदि कतिपय विद्वानों का मत है कि अष्टम सर्ग कालिदास द्वारा रचित है क्योंकि (i) सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ की संजीवनी टीका इस काव्य के प्रथम आठ सर्गों पर ही उपलब्ध होती है। (ii) अलङ्कार-ग्रन्थों के उदाहरण में इन्हीं आठ सर्गों से श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। (iii) भाषा तथा कल्पना-सौन्दर्य की दृष्टि से भी अष्टम सर्ग महाकवि कालिदास द्वारा रचित प्रतीत होता है। (vi) काव्य की मुख्य घटना अर्थात् कुमार का जन्म (जैसा कि कुमारसम्भव' महाकाव्य के नाम से भी स्पष्ट होता है।) अष्टम सर्ग में हो ही गया है। इस भाँति काव्य का लक्ष्यीभूत उद्देश्य भी पूर्ण हो गया है। इसके अतिरिक्त पश्चात् के सर्गों की घटनाओं का मुख्य विषय से कोई विशिष्ट सम्बन्ध भी दृष्टिगोचर नहीं होता है।

इस सम्बन्ध में यह भी कल्पना की जाती है कि सम्भवतः अष्टम सर्ग में वर्णित शिव एवं पार्वती के संभोग की कालिदासकालीन आलोचकों ने कड़ी आलोचना की होगी। इसी से घबराकर कालिदास ने आगे के सर्गों की रचना छोड़ दी होगी। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि शृंगार के नग्न-

वर्णन के कारण पार्वती जी क्रुद्ध हो गई थीं। अतः उन्होंने कालिदास को शाप दे दिया था। इसी कारण यह ग्रन्थ अपूर्ण ही रह गया।

कुमारसम्भव का महाकाव्यत्व—प्रधान रूप से काव्य दो प्रकार का कहा गया है (१) दृश्य, और (२) श्रव्य। इनमें से प्रथम दृश्य-काव्य दो प्रकार के माने गये हैं (i) रूपक (ii) उपरूपक। रूपक दस प्रकार के तथा उपरूपक १८ प्रकार के होते हैं। (२) श्रव्य-काव्य के तीन प्रकार माने गये हैं (i) पद्यकाव्य, (ii) गद्यकाव्य तथा (iii) गद्य-पद्यात्मक काव्य। पद्यकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक आदि काव्यों की गणना की जाती है। गद्य-काव्य के कथा और आख्यायिका नाम से दो भेद माने जाते हैं। गद्यपद्यात्मक काव्य को दूसरे शब्दों में चम्पू कहा जाता है।

काव्य के उक्त भेदों में से कुमारसम्भव की गणना महाकाव्य के अन्तर्गत की गई है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में महाकाव्य के लक्षण निम्न रूप से मिलते हैं।

सर्गबन्धो महाकाव्यं, तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः ।।
एकवंश भवाभूपा कुलजाः बहवोऽपि वा।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक संधयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।।
चत्वारस्तस्य वर्गा स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदी नमस्क्रियाशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा ।।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सत्तां च गुणकीर्तनम्।
एक वृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन् दृश्यते ।।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तवासराः ।।
प्रातर्मध्याह्न मृगयाशैलर्तुवनसागराः।

संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
रणप्रयाणोपयममन्त्र पुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ॥

अर्थात् महाकाव्य सर्गों में बंधा होता है। उसमें एक नायक (प्रधान पात्र) होता है जिसका देवता अथवा अच्छे वंश में उत्पन्न कोई क्षत्रिय पुरुष होना आवश्यक है। साथ ही उसमें धीरोदात्त नायक का होना भी आवश्यक है। (धीरोदात्त नायक, महा पराक्रमी, उत्साही, गम्भीर, क्षमाशील, अभिमान रहित, दृढ़प्रतिज्ञ तथा आत्मश्लाघा न करने वाला होता है:—**"महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानर्विकत्थनः। स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।"**) अथवा एक वंश में ही उत्पन्न, अनेक, कुलीन, राजा भी नायक हो सकते हैं। शृङ्गार, वीर अथवा इन तीनों ही रसों में से किसी एक को अङ्गी (प्रधान) रस के रूप में होना चाहिये। अन्य रसों का प्रयोग गौण अथवा सहायक रसों के रूप में किया जा सकता है। कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक अथवा किसी सज्जन, उदार, धर्मात्मा व्यक्ति का वीरतापूर्ण अथवा अनुकरणीय कार्य होना चाहिये। चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से किसी एक की प्राप्ति महाकाव्य का उद्देश्य होना चाहिये। महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण से होना चाहिये। कहीं पर दुष्टों की निन्दा हो तो कहीं सज्जनों की कीर्ति अथवा उनका गुणगान। न्यूनातिन्यून ८ सर्गों का होना आवश्यक है जो न बहुत छोटे हों तथा न बहुत बड़े। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के छन्द हों—किन्तु सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन भी उचित है। कभी कभी किसी सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग के विषय से सम्बन्धित कुछ संकेत भी होना चाहिये। महाकाव्य में सायंकालीन प्रकृति वर्णन, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि, संध्या, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, विरह तथा मिलन, मुनि,

स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, आक्रमण, विवाह तथा पुत्रोत्पत्ति आदि का यथायोग्य साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना भी आवश्यक है। महाकाव्य का नामकरण कथानक के आधार पर अथवा प्रमुख नायक के नाम पर होना चाहिये।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर कुमारसम्भव के महाकाव्य का परीक्षण कर लेना भी उचित ही होगा। उपर्युक्त लक्षणों में से अधिकांश लक्षण कुमारसम्भव महाकाव्य में विद्यमान हैं। यह सत्रह सर्गों में विभक्त है। आलोचकों ने तो ८ सर्ग ही महाकविप्रणीत स्वीकार किये हैं। अतः यदि ८ सर्ग ही प्रमाणित माने जायें तब भी लक्षणों की दृष्टि से ठीक ही है। इसका नायक धीरोदात्त है तथा वह धीरोदात्त नायक के सभी गुणों से युक्त एक दिव्य पुरुष है। उसका प्रधान रस शृङ्गार है तथा करुण और शान्त उसके सहायक रस हैं। इसकी कथावस्तु पुराणों से ली गई होने के कारण ऐतिहासिक है। इसमें ऋतुओं तथा प्राकृतिक सौन्दर्यों का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। इसमें पार्वती तथा शिव के विवाह का वर्णन तथा कुमार (अर्थात् कार्तिकेय) के जन्म का वर्णन किया गया है। कुमार के जन्म की घटना पर आधारित इस ग्रन्थ का नाम "कुमारसम्भव" भी उचित ही है। "कुमारस्य सम्भव जन्य यस्मिन् (काव्ये) तत् कुमारसम्भवम्" यह इसका समास है।

कुमारसम्भव की कथा का स्रोत—इस महाकाव्य के स्रोत (अथवा आधार) के सम्बन्ध में डा० ए० बी० कीथ ने यह स्वीकार किया है कि इसका मूल स्रोत "बाल्मीकि रामायण" है। रामायण के किष्किन्धा-वन के वर्णन में वसन्त के सौन्दर्य का समुज्ज्वल स्वरूप प्राप्त होता है—इससे प्रवाहित विरहि राम की मानस-पीड़ा अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त हो जाती है। अतः महाकवि कालिदास पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। रति की निराशापूर्ण अवस्था के सदृश ही बालि की स्त्री तारा का निराशा भरा विलाप भी उपलब्ध होता है। तारकासुर के वध का संकेत भी रावणवध से प्राप्त हो जाता है। विवाह के पश्चात् शिव अङ्गदेश में तपश्चर्या कर रहे थे। कामदेव ने वहाँ पहुँचकर तप में संलग्न शिव को प्रेमलीला की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया। उस समय शंकर ने क्रोधित होकर उसे 'अनग' कर दिया। यह वर्णन रामायण के बालकाण्ड के ३३ वें सर्ग में आता है। इस कथा से कालिदास अवश्य प्रभावित

रहे होंगे तथा कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ इस कथा पर आधारित पार्वती के विवाह के पूर्व हिमालय पर्वत पर उन्होंने अपने कुमारसम्भव में भी मदन-दहन कराया है। अतः कालिदास के महाकाव्य 'कुमारसम्भव' का मूल स्रोत रामायण का बालकाण्ड ही रहा होगा। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता कि महाकवि को कथा-वस्तु को महाकाव्योचित बनाने से सम्बन्धी अपनी कल्पनाओं के साथ ही साथ मूलकथानक में कुछ आवश्यक, संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन भी करने पड़े होंगे।

कुछ विद्वानों एवं आलोचकों का मत है कि कुमारसम्भव की मूलकथा 'महाभारत' से ली गई है। हाँ, इतना अवश्य है कि महाकवि ने उक्त कथा में आवश्यक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन अवश्य किये हैं।

वैसे 'कुमारसम्भव' का कथानक 'शिवपुराण' तथा 'स्कन्द पुराण' में निबद्ध कार्तिकेय (कुमार) की कथा से मिलता-जुलता है किन्तु यहाँ यह विचारणीय अवश्य है कि पुराणों का अधिकांश भाग बहुत बाद का बना हुआ है। उक्त दोनों पुराण कालिदास के समय में विद्यमान थे इसका कोई सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

कुमारसम्भव के प्रामाणिक ८ सर्गों की संक्षिप्त कथा—

प्रथम सर्ग—काव्य का प्रारम्भ हिमालय के भव्य वर्णन से होता है। हिमालय और उनकी पत्नी मेना से पार्वती नामक कन्या तथा मैनाक नामक पुत्र की उत्पत्ति होती है। इससे पूर्व के जन्म में पार्वती दक्ष की पुत्री तथा शंकर की पत्नी थी। उस समय उनका नाम सती था। इस भाँति उनके पूर्व जन्म का वृत्तान्त बतलाकर कालिदास ने उनकी बाल्यावस्था तथा युवावस्था का वर्णन प्रस्तुत किया है। जब पार्वती बड़ी हो जाती हैं तो एक दिन नारद जी उनके पिता हिमालय के समीप आते हैं। पार्वती को देखकर उन्होंने कहा कि इनका विवाह शिव के साथ होगा। हिमालय ने विश्वास कर दो सखियों के साथ अपनी पुत्री पार्वती को शिव की सेवा के निमित्त उनके समीप भेजा।

द्वितीय सर्ग—इसी समय तारकासुर से पीड़ित तथा भयभीत देवगण ब्रह्मा की शरण में गये। देवताओं की स्तुति से हर्षित होकर उन्होंने कहा—

BVBSSMV

'मैं' स्वयं उनको वरदान दे चुका हूँ। ऐसी स्थिति में मेरे द्वारा उसका नाश संभव नहीं है। आप लोग प्रयत्न कर शिव तथा पार्वती का विवाह कराइये। उनसे उत्पन्न हुआ पुत्र तारकासुर का वध करेगा और तभी आप लोगों को अभय की प्राप्ति होगी।

तृतीय सर्ग—देवराज इन्द्र ने कामदेव को बुलाया तथा समाधिस्थ शङ्कर के हृदय में पार्वती के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व उसे सौंपा। कामदेव अपनी पत्नी तथा अपने मित्र वसन्त के साथ शिव की समाधि-स्थल पर पहुँचा। वहाँ शङ्कर के हृदय में कामवासना जाग्रत करने हेतु सर्वप्रथम वसन्त ने अपना मोह का विस्तार किया। समाधि-स्थल के द्वार पर नन्दी पहरा दे रहा था। उसकी आँख बचाकर कामदेव अन्दर पहुँच गया। योगस्थ शङ्कर उस समय परमात्मदर्शन में लीन थे। कुछ समय पश्चात् समाधि टूटने पर उनकी अनुमति पाकर नन्दी ने पार्वती को अन्दर जाने की अनुमति दे दी। पार्वती ने शिव के चरणों में पुष्पाञ्जलि अर्पित कर गङ्गा में उत्पन्न हुए कमलों के शुष्क बीजों की माला भी उन्हें समर्पित की। इस माला को स्वीकार करते समय अवसर पाकर कामदेव ने अपने धनुष पर सम्मोहक नामक बाण को चढ़ा लिया। इससे शिवजी का मन एक क्षण के लिये चंचल हो उठा। उन्होंने तत्काल ही अपने मन को शान्त किया तथा मन से उत्पन्न हुई क्षुब्धता का कारण खोजने लगे। उन्होंने अपने समक्ष बाण चढ़ाये हुये कामदेव को देखा। उन्होंने क्रोधित हो अपना तृतीय नेत्र खोल दिया जिससे कामदेव भस्म हो गया। हिमालय ने अपनी पुत्री पार्वती को वापिस घर बुला लिया। इस घटना से देवताओं में भी कुछ निराशा का संचार हुआ।

चतुर्थ सर्ग—कामदेव के भस्म हो जाने पर उसकी पत्नी अत्यन्त दुःखी हुई और मूर्च्छित हो गई। होश आने पर वह करुण विलाप करने लगी। उसे सान्त्वना देने कामदेव का प्रिय मित्र वसन्त आया किन्तु रति का विलाप शान्त न हो सका। वह फूट-फूट कर रोने लगी। अत्यन्त दुःख के कारण वह अपना शरीर त्याग करना चाहती थी कि इतने में आकाशवाणी हुई—'शिवजी जब पाणिग्रहण करेंगे, तब उस समय कामदेव को अवश्य प्राणदान देंगे''। इससे रति को पुनर्मिलन की आशा हुई। परिणामस्वरूप उसने अपना निश्चय त्याग दिया।

596

पञ्चम सर्ग—शङ्कर द्वारा भस्म किये कामदेव को अपने समक्ष देखकर पार्वती को पूर्ण विश्वास हो गया कि अब सौन्दर्य के द्वारा शिव को प्रसन्न किया जाना सम्भव नहीं है। अतएव उसने तपस्या द्वारा शिव को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। पुत्री के इस निश्चय को उसकी सखियों द्वारा ज्ञात कर माता मेना ने उसे बहुत समझाया तथा कठोर साधना करने से रोका किन्तु वह अपने निश्चय से तनिक भी विचलित नहीं हुई और पिता से आज्ञा प्राप्त कर अपनी सखियों के साथ तपस्या करने के निमित्त गौरी-शिखर पर चली गई। पार्वती ने अपने मनोहर वस्त्रों तथा आभूषणों का त्याग कर वल्कल वस्त्रों को धारण कर लिया। उसने कमर में मूंज की मेखला को धारण किया। रञ्जन तथा केशों का प्रसाधन त्याग कर जटाओं को धारण किया। वह प्रतिदिन तीन बार स्नान करती, अग्निहोत्र करती तथा रुद्राक्ष की माला के साथ जाप किया करती थी। वह भूमि पर शयन करती, ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तप करती तथा वर्षाकाल में भी रात भर पानी में खड़े रहकर शङ्कर की आराधना में ही सतत् संलग्न रहा करती थी। जो थोड़ा समय बचता भी था उसमें वह पौधों का सिंचन करती तथा मृगों को वन्य-अन्नों को बीन-बीन कर खिलाया करती थी। इतना घोर तप करने पर भी जब उनको अभीष्ट-सिद्धि में सफलता दिखलाई न दी तो उसने अपनी तपश्चर्या को और कठोर कर दिया। पत्तों को खाकर ही रहना तपश्चर्या की सीमा है किन्तु पार्वती ने स्वयं पतित पत्तों का खाना भी बन्द कर दिया। अतएव वे अपर्णा नाम से भी प्रसिद्ध हुईं। उनके तप के प्रभाव से सम्पूर्ण तपोवन पवित्र हो गया। उनकी तपस्या की प्रसिद्धि के फलस्वरूप ऋषि मुनि उनके दर्शनार्थ आने लगे।

एक दिन स्वयं शिवजी ही ब्रह्मचारी के वेष में उनके समीप आये। पार्वती द्वारा किये गये यथोचित् आतिथ्य को ग्रहण कर उन्होंने पार्वती द्वारा किये गये तप का कारण जानने की इच्छा प्रकट की। पार्वती का संकेत प्राप्त कर पार्वती की अन्तरङ्ग सखी ने शिव के प्रति पार्वती के अनन्य-स्नेह

शिव को प्रति रूप में प्राप्त करने सम्बन्धी उनके दृढ़ निश्चय से अवगत ा। ब्रह्मचारी ने शिव की निर्धनता, अकुलीनता तथा उनके वेष की रता और बीभत्स आदि की चर्चा करते हुए पार्वती को अपने निश्चय चलित होने के निमित्त प्रेरित किया किन्तु वह विचलित न हो सकीं। ने ब्रह्मचारी द्वारा उपस्थित किये गये दोषों आदि का तर्क पूर्वक निराकरण । ब्रह्मचारी ने जब पुनः कुछ कहने का प्रयत्न किया तो शिव की बुराई ुनने में अपने को असमर्थ पाकर पार्वती ने वहाँ से उठकर चले जाने का य किया और तदनुसार वे वहाँ से चल दीं। ज्यों ही वे चलने के लिये र हुई वैसे ही ब्रह्मचारी वेषधारी शिव ने अपना वास्तविक स्वरूप उनके ा प्रकट कर दिया और कहा—"मैं तुम्हारी तपस्या के द्वारा खरीदा हुआ ारा दास हूँ।" इतना सुनना भर था कि तपस्या से पार्वती को जो कष्ट था, वह सब दूर हो गया क्योंकि सफलता प्राप्त हो जाने पर उसके लिये ा हुआ कष्ट आनन्द में परिवर्तित हो जाया करता है।

षष्ठ सर्ग—पार्वती से विवाह करने की स्वीकृति प्राप्त करने के निमित्त जी ने सप्तर्षियों को उनके पिता हिमालय के समीप भेजा। हिमालय ने अपनी े से सम्मत्ति लेकर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। विवाह की लग्न श्चत कर उन्होंने शिवजी को इसकी सूचना दे दी। दोनों ओर विवाह की ारियाँ प्रारम्भ हो गईं।

सप्तम सर्ग—शुभ-मूहुर्त में शिव एवं पार्वती का विवाह सम्पन्न हो जाता बारात का यथेष्ट स्वागत होता है। वर तथा बरातियों को देखकर लोग आनन्द का अनुभव करते हैं। विवाहोपरान्त बारात विदा हो जाती है तु शिव कुछ दिनों के लिये वहीं रुक जाते हैं।

अष्टम सर्ग—एक मास पर्यन्त ससुराल में रहने के पश्चात् शिव पार्वती के थ विदा होते हैं। पार्वती के साथ विचरण करते हुये शिव गन्धमादन नामक त पर पहुंचते हैं। यहीं पर वे दोनों भोग-विलास सम्बन्धी क्रीड़ायें करते हुये ास करते हैं। इस भाँति रति-क्रीड़ा एवं मद्यपान के वर्णन के साथ इस सर्ग कथा समाप्त होती है।

महाकवि कालिदास की भाषा एवं शैली तथा काव्य-सौन्दर्य

भाषा—इनकी भाषा सरल, सुबोध, सरस, परिष्कृत, प्राञ्जल, परि तथा प्रसादगुणपूर्ण है । उसमें कृष्टता अथवा दूरान्वय दोष कहीं भी अ नहीं होता है । सर्वत्र पात्र के अनुरूप ही उन्होंने भाषा का प्रयोग किय उन्होंने भाषा की दृष्टि से कहीं भी पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं किया है । स्थान पर ऐसे मुहावरेदार तथा चुस्त प्रयोगों का सुन्दर सन्निवेश किया है कि कारण भाषा में एक अनोखी सजीवता ही उत्पन्न हो गई है ।

भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है । वे जिस प्रकार के भाव का जिस स्थल पर करना चाहते हैं तदनुकूल भाषा का प्रयोग भी उन-उन पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । स्थान-स्थान पर शब्दों की स के साथ ही साथ भावों की गम्भीरता का दर्शन होता है । उनका शब्द- अगाध है । भाषा तथा शब्द-भंडार पर पूर्ण अधिकार होने के कारण भाषा में एक विचित्र सौन्दर्य तथा सुमधुर-प्रवाह का दर्शन होता है ।

उनके संवाद सरल, सूक्ष्म तथा रोचक और आकर्षक होते हैं । संवा सर्वत्र ही अनावश्यक विस्तार का उन्होंने परित्याग किया है । संवादों में च इतनी सजीव और मधुर है कि वह प्रस्तुत विषय को अत्यन्त रोचक तथा अ बना देती है इसके अतिरिक्त इनके वर्णन भी अत्यन्त सजीव तथा रोचक जिस वस्तु अथवा घटना का वर्णन करते हैं वह वस्तु अथवा घटना ने समक्ष ही उपस्थित होती हुई सी प्रतीत होती है । इतना होने पर भी अस्वाभाविकता का दर्शन तो कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है । कुमार (पंचम सर्ग) में ही विद्यमान ब्रह्मचारी वेषधारी शिव तथा पार्वती का रोचक संवाद इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

शैली—महाकवि कालिदास के अत्यधिक लोकप्रिय होने का मुख्य उनकी प्रसादगुण समन्वित एवं लालित्यपूर्ण तथा परिष्कृत शैली ही है । ये गुण वैदर्भी रीति में विद्यमान हैं । कालिदास इस रीति के सर्वश्रेष्ठ कल माने गये हैं—"वैदर्भी रीति सन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते"

जिस भाँति अग्नि सूखी लकड़ी में अतिशीघ्र ही व्याप्त होकर फैल है उसी भाँति जो गुण सहृदय व्यक्तियों के मानस-पटल को तुरन्त ही

कर, लेता है वही 'प्रसाद गुण' विशिष्ट कविता, सरस, सरल एवं बोधगम्य हुआ करती है। लक्षण ग्रन्थों में इस गुण के बारे में कहा गया है—

"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च॥"

उनकी इस प्रसादगुण युक्त शैली ने ही उनको विश्व के मूर्धन्य कवियों में स्थान प्राप्त कराया है इस गुण से युक्त वैदर्भी रीति का लक्षण आचार्यों ने निम्न प्रकार से किया है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥" साहित्यदर्पण ९-२

मधुर शब्द, ललित पदविन्यास, समासों का पूर्णतया अभाव अथवा अल्प समास युक्त पदों का होना ही वैदर्भी रीति की प्रमुख विशेषतायें हैं।

सुकुमार तथा कोमल भावों का चित्रण करने में महाकवि कालिदास अद्वितीय हैं। इसी कारण प्रसन्नराघवकार जयदेव ने उनको "कविताकामिनी का विलास" कहा है। उनकी शैली की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि वे किसी भावना का चित्रण करते समय उसका स्पष्ट शब्दों में विस्तृत वर्णन करने की अपेक्षा व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय प्राप्त कर उसकी ओर सूक्ष्म संकेत कर देना मात्र ही उचित और आवश्यक समझते हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी शैली सूक्ष्म तथा ध्वन्यात्मक अथवा संकेतात्मक ही है। इसी कारण उनकी रचनाओं में संकेतात्मकता अथवा ध्वन्यात्मकता का स्थान-स्थान पर दर्शन होता है। किसी भाव का मार्मिक चित्रण जिस रूप में जितना रखना परमावश्यक है, उतना ही प्रस्तुत करना उनका कार्य है। उसकी व्यंजना को पूर्णतया समझ लेना सहृदय व्यक्ति की सहायता पर ही आधारित है। उनकी इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुये डॉ० ए० बी० कीथ ने अपनी पुस्तक "संस्कृत ड्रामा" में लिखा है "हिज (कालिदासज) लैंग्वेज हैज आलसो दी मैरिट आफ सजेस्टिवनैस·· ··। ही इज कन्टेन्ट टू इन्डिकेट वाई ऐ टच।" (अर्थात् कालिदास की भाषा में व्यंजना गुण भी विद्यमान है। वह केवल स्पर्शमात्र से, निर्देश करके ही संतुष्ट हो जाता। [illegible] एस० रामास्वामी ने अपनी पुस्तक 'कालिदास' में [illegible] है "कालिदास [illegible] [illegible] इकोनोमिकल इन [illegible] (भाव [illegible] में कालिदास [illegible] संगत [illegible])।

यहाँ दो एक कुमारसम्भव पञ्चम सर्ग के उद्धरण देकर उपर्युक्त विशेष का विश्लेषण कर देना अधिक समीचीन होगा। ब्रह्मचारी वेषधारी शिव ज पार्वती के शिव के प्रति अनन्त प्रेम की परीक्षा लेने जाते हैं तो वहाँ कहते कि यदि तुम योग्य पति पाने के लिये यह तपस्या कर रही हो तब इसके लि कठोर व्रत को लेने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि—

"न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्"

"अर्थात् रत्न अपने ग्राहक को स्वयं नहीं खोजा करता है इसके विपरी ग्राहक ही रत्न को खोजा करता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार र ग्राहक को नहीं खोजा करता है, ठीक उसी प्रकार पार्वती को भी अपना प खोजने की आवश्यकता नहीं है। वह तो साक्षात् रत्न के सदृश है अथ इतनी अधिक सुन्दरी है कि उसके सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसके योग्य प उसे स्वयं ही खोज लेगा। अतः इस साधारण से उद्देश्य को लेकर उसे क तप करने की कोई आवश्यकता नहीं है।" इस विशद भाव को महाकवि कितने सूक्ष्म शब्दों में अभिव्यक्त कर दिया है, दर्शनीय है।

जब पार्वती ने अपने अभीष्ट प्रियतम (शिव) की निन्दा सुनने रूपी से बचने के लिये उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जाने का निश्चय कि ओर उठकर जैसे ही उन्होंने एक पग आगे रखा कि वैसे ही शिव ने अ वास्तविक स्वरूप को उनके समक्ष प्रकट कर उनको पकड़ लिया। उस स लज्जित पार्वती की मानसिक दशा का वर्णन महाकवि ने कितने सूक्ष्म शब्दों प्रकट किया है? देखिये—

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः।
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥

अर्थात् बहती हुई 'नदी के मार्ग में अकस्मात् पर्वत के आ जाने से उसकी दशा होती है वही दशा पार्वती की हुई और वह न तो आगे ही क बढ़ा सकी और न ठहर सकी। तात्पर्य यह है जैसे धारा के मध्य में प के आ जाने से नदी न तो आगे ही बढ़ सकती है और न धारा के वेग

कारण पीछे की ही ओर मुड़ सकती है, उसी प्रकार लज्जा के कारण पार्वती न तो वहाँ ठहरने में ही अपने को समर्थ पाती थीं और न अपने प्रियतम को जी भरकर देख लेने की प्रबलता उत्कण्ठा ही उनके पैर को आगे बढ़ने देती थी। पार्वती के हृदय की विह्वलता तथा विमूढता के इस मार्मिक चित्र को महाकवि ने कितने सूक्ष्म शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

काव्य-सौन्दर्य—कालिदास समस्त विश्व के एक महान् कलाकार हैं। वे जितने भावपक्ष के चित्रण में प्रवीण हैं उतने ही कलापक्ष के चित्रण में भी। उनकी प्रतिभा अपूर्व है। मानवीय-हृद्गत-भावनाओं का (अथवा अन्तजर्गत् का) जितना सुन्दर चित्र उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है उतना ही सुन्दर चित्रण उन्होंने वाह्य जगत का भी किया है। उनकी कला रसवादी है। वे शृंगार रस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनकी अधिकांश रचनायें शृङ्गार रस से ओत-प्रोत हैं। शृङ्गार के दोनों पक्षों का सुन्दर विश्लेषण इनकी कृतियों में हुआ है। इनके तीनों नाटक शृङ्गार के विविध पक्षों के उत्तम उदाहरण हैं। कुमारसम्भव के अष्टम् सर्ग में शंकर-पार्वती के संयोग शृङ्गार का अनुपम वर्णन उपलब्ध होता है। वस्तुतः वे कोमल रसों के सफल चित्रकार हैं। गम्भीर रसों के प्रति उनकी रुचि स्वल्पमात्रा में ही दृष्टिगोचर होती है। कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में रति-विलाप के वर्णन में करुण रस के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। कामदेव के भम्म हो जाने के पश्चात् रति की दशा का वर्णन देखिये—

"गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमस्य दशेव पश्य मामविसह्यव्यसनेन धमिताम् ॥४/३०॥

हे वसन्त! पवन के झोंके से बुझाये गये दीपक के सदृश तुम्हारा मित्र कामदेव चला गया। अब वह लौटकर आता नहीं है और मैं उस बुझे हुये दीपक की धुंध आती हुई बत्ती के समान असह्य दुःख एवं वेदना से अत्यन्त व्याकुल हूँ।

रति के विलाप की तीव्रता से आकृष्ट होकर कामदेव का अभिन्न मित्र वसन्त उसके समक्ष प्रकट होता है। वसन्त को देखते ही रति का दुःख और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हो जाता है और वह—

"तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसम्बाधमुरो जघान च ।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥" कु० सं० ४/२६॥

अर्थात् वसन्त को देखकर वह (रति) और भी फूट-फूटकर तथा छाती पीट-पीटकर रोने लगी क्योंकि दुःख में अपने स्वजनों को देखते ही दुःख उसी प्रकार बढ़ जाता है कि जैसे रुकी हुई वस्तु को बाहर निकालने के लिये बड़ा भारी द्वार प्राप्त हो जाये ।

इनका हास्य भी गम्भीर ही होता है । इनके हास्य चित्रण में केवल मुस्कराना ही आता है, अट्टहास नहीं । कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में पार्वती के तपस्थल पर आये हुये ब्रह्मचारी द्वारा शिवजी की निन्दा सम्बन्धी पद्य ही इसके उदाहरण हैं ।

कालिदास ने अलङ्कारों का भी प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ किया है । इनकी रचनाओं में शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों का प्रयोग अधिक हुआ है । इनका सर्वाधिक प्रिय अलङ्कार उपमा है । वे अपनी उपमाओं के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । कहा भी गया है—

"उपमाकालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ॥"

उपमाओं के प्रयोग में वे निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ तथा अग्रगण्य हैं । कुमारसम्भव पंचम सर्ग के श्लोक सं० ५२ तथा ६१ और ८५ इसके उत्तम उदाहरण हैं । इनकी उपमा स्पष्ट, पूर्ण तथा मनोहर होती है । इसीलिये उपमालङ्कार का तो इन्हें आचार्य ही स्वीकार किया गया है ।

इनकी उत्प्रेक्षायें तथा अर्थान्तरन्यास भी बड़े सुन्दर होते हैं । इनकी कल्पना की उड़ान अत्यन्त मधुर और ऊँची होती है । उन्होंने यमक, दृष्टान्त आदि अनेक अलङ्कारों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है । श्लेष अलङ्कार का प्रयोग इनकी कविता में बहुत स्वल्प मात्रा में उपलब्ध होता है ।

इनकी दृष्टि अत्यन्त ही सूक्ष्म है । उन्होंने मानव-प्रकृति तथा बाह्यप्रकृति का सूक्ष्म विशेषण अपने ग्रन्थों में किया है । प्रकृति से उनका अटूट अनुराग है । वे अपने प्रकृति-प्रेम के लिये प्रसिद्ध हैं । वे प्रकृति के कोमल स्वरूप के उपासक हैं । उन्होंने प्रकृति के आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों ही रूपों का

ग किया है । कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में तथा रघुवंश के द्वितीय सर्ग का
लय-वर्णन प्रकृति के आलम्बन रूप में अंकित है । इन वर्णनों में प्रकृति
वाभाविक सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है । कुमारसम्भव के निम्नलिखित में
लय का कैसा स्वाभाविक चित्र अंकित है—

"भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढाः मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ।।" कु० सं० १/१५।।

अर्थात् गङ्गाजी के झरनों की फुहारों से लदा हुआ, बार-बार देवदारु के
को कँपाने वाला और किरातों की पेटी में बँधे हुये मोर पंखों को फद-
ने वाला यहाँ का शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन उन किरातों की थकावट को
ता चलता है कि जो मृगों की खोज में हिमालय पर इधर-उधर घूमते
हैं ।

कालिदास ने उद्दीपनरूप में प्रकृति का वर्णन करते हुये उसे अधिक
नशील बना दिया है । ऐसे स्थानों पर उन्होंने उत्प्रेक्षा अथवा समासोक्ति
जड़ पदार्थों में मानवीय भावनाओं तथा कार्यों का आरोपण किया है ।
ा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति अलङ्कार प्रकृति के मनोहर रूपों को
क संवेदनापूर्ण बना दिया करते हैं । एक उदाहरण देखिये—

"शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ।।"

।।कु० सं० ५/२५।।

वर्षाकालीन रात्रि का समय है, वर्षा निरन्तर हो रही है, वायु के झोंके
गति से चल रहे हैं, विद्युत चमक रही है, चारों तरफ से खुले एक शिला-
पर बैठी-हुई पार्वती समाधिमग्न हैं । ऐसे समय पर जबकि वहाँ पार्वती
तपस्या को देखने वाला कोई भी नहीं है, कवि कल्पना करते हैं कि ऐसे
य पर रात्रि ही अपने विद्युत रूपी चक्षुओं से साक्षी की भाँति पार्वती को
रही थी ।

इस स्थल पर कालिदास द्वारा की गयी जड़ प्रकृति में चेतना की सौन्दर्य-
प्राणप्रतिष्ठा का स्पष्ट दर्शन होता है ।

इनका मेघदूत काव्य तो प्रकृति-चित्रण का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसके श्लोक में प्रकृति की आशा भरी आत्मा की वेदना का चित्रण है, अन्तर्गत संयत्, गम्भीर एवं प्रशान्त व्याकुलता का स्पष्ट दर्शन पा होता है।

(ब्रह्मचारी वेषधारी) शिव और पार्वती संवाद

काव्य-सौष्ठवता की दृष्टि से प्रवन्ध काव्यों के अन्तर्गत संवादात्म होना आवश्यक है। अपने व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति की वार्ताला की अपनी एक प्रणाली हुआ करती है, वही उसके चरित्र का मानद आया करती हैं। इसी प्रकार काव्य के पात्रों में हुआ पारस्परिक कथ भी उनके चरित्र और उनके क्रिया-कलापों को जानने में सहायक हुआ है। मनुष्य की मानसिक विचारधाराओं और भावों का ज्ञान उसकी चीत से ही हुआ करता है। उसकी सब प्रकार की वृत्तियों तथा भावन विकास कथोपकथन अथवा सम्वाद द्वारा ही होता है। महाकवि कालि महाकाव्यों में दो सम्वाद विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं (१) रघुवंश मह में सिंह व दिलीप संवाद तथा (२) कुमारसम्भव में शिव-पार्वती यहाँ कुमारसम्भव के उक्त संवाद को स्पष्ट कर देना उचित ही होगा—

शिवजी पार्वती के अपने प्रति अनन्य-स्नेह की परीक्षा लेना चाह अतएव वे ब्रह्मचारी का वेष धारण कर स्थल पर पहुँचे कि जहाँ तप कर रही थीं। पार्वती ने आये हुये अतिथि का उचित सत्कार उनके इस आतिथ्य से संतुष्ट ब्रह्मचारी पार्वती से कुशल समाचार हुआ कहता है:—आपको स्नानादि क्रियाओं के निमित्त आश्रय के ज में यथेष्ट,जल मिल जाता है? अग्निहोत्र के निमित्त अपेक्षित समि कुश का अभाव तो नहीं है? आपके द्वारा लगाये गये तथा संवर्द्धित इ से पत्र-पुष्प-फल आदि तो आवश्यकतानुसार आपको प्राप्त होते रहते तपस्या से होने वाली क्षीणता का अनुभव तो आपको नहीं हो रहा है? अपनी तपस्या से इस पर्वत को पवित्र कर दिया है। आपकी तपस्या तपस्वियों के लिये अनुकरणीय बन गई है। हे पार्वती! कुलीनता, असा सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य सुख, जिनकी प्राप्ति के लिये प्रायः लोग तपश्चर्या

करते हैं, आपको तो स्वयं सुलभ है; फिर आपकी यह तपस्या किस फल की दृष्टि से की जा रही है ? प्रायः मनस्विनी स्त्रियाँ गृह में हुये अपमान के कारण भी तप करने में प्रवृत्त हो जाया करती हैं किन्तु यह कारण भी आपकी तपस्या का ज्ञात नहीं होता है। फिर युवावस्था में धारण किये जाने योग्य आभूषणों का परित्याग कर वृद्धावस्था में धारण करने योग्य इन वल्कल वस्त्रों को आपने क्यों धारण कर रक्खा है ? यदि स्वर्ग प्राप्त करना ही आपको अभीष्ट है तो उसके निमित्त की गई यह तपस्या पूर्णतया निरर्थक है, क्योंकि आपके पिता का प्रदेश तो स्वयं स्वर्ग है। यदि किसी वर की प्राप्ति के निमित्त यह तप कर रही हैं तो भी यह तपस्या व्यर्थ है, क्योंकि आप जैसी सुन्दरी को तो आपका चाहा हुआ व्यक्ति प्राप्त करने का स्वयं ही प्रयास करेगा। रत्न ग्राहक को नहीं खोजा करते हैं, ग्राहक ही रत्नों की खोज किया करते हैं। यद्यपि आपकी यह विह्वलता ही इस बात को जता रही है कि आपकी तपस्या का उद्देश्य वर-प्राप्ति है किन्तु मेरे मन का सन्देह अब भी दूर नहीं हो पा रहा है। कौन ऐसा कठोर तथा निष्ठुर हृदय होगा कि जो भीषण तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल चन्द्रमा की रेखा के सदृश तुम्हारी काया देखकर भी द्रवीभूत नहीं होता ? हे पार्वती ! तुम मुझे कोई दूसरा न समझो। अपना अभिन्न मित्र जानकर मुझे यह बताओ कि आपका अभीष्ट वर कौन है ? मैं उसको जानना चाहता हूँ। यदि आवश्यकता हो तो मेरी भी तपस्या का आधा भाग लेकर तुम अपने अभीष्ट वर को प्राप्त कर लो।

ब्रह्मचारी की उपर्युक्त बातों को श्रवणकर पार्वती ने अपनी एक अन्तरंग सखी को उत्तर देने के लिये संकेत किया। पार्वती का संकेत पाकर सखी कहने लगी—'यह हमारी सखी पार्वती इन्द्र आदि देवताओं का अनादर करके पिनाकपाणि शिव को ही पति के रूप में प्राप्त करना चाहती है। एतदर्थ ही यह कठोर तप कर रही है।

सखी के वचनों को श्रवणकर ब्रह्मचारी पुनः पार्वती से प्रश्न करता है—"हे पार्वती ! इनका उक्त कथन सत्य है अथवा परिहास मात्र ही है ?" ब्रह्मचारी के प्रश्न को सुनकर पार्वती कहती हैं—आपने जैसा सुना है वह अक्षरशः सत्य है। वस्तुतः मेरी तपस्या का उद्देश्य शिव प्राप्ति ही है।

शिव का नाम सुनते ही ब्रह्मचारी उनकी निन्दा करना आरम्भ कर देता है। वह कहता है—शिव अकिंचन हैं। उनके कुल तक का पता नहीं है। वे अमाङ्गलिक पदार्थों से प्रेम करते हैं: कङ्कन के स्थान पर वे अपने हाथ में सर्प लपेटे रहते हैं। रक्त-रंजित गजचर्म पहनते हैं। शरीर में चिता-भस्म लपेटे रहते हैं। उनका वाहन बैल है। उनके तीन नेत्र हैं, इसी से उनके सौन्दर्य का अनुमान लगाया जा सकता है। योग्य वर के लिये जिन गुणों का होना परमावश्यक है (धन, सौन्दर्य, कुलीनता आदि) उनमें से एक भी गुण शिव में नहीं दिखलाई पड़ता है। अतः हे पार्वती ! अपने निश्चय को छोड़ दो।

ब्रह्मचारी द्वारा की गई शंकर की निन्दा को सुनकर पार्वती क्रोधित हो जाती हैं तथा उनका अधर कम्पन करने लगता है। ये कहती हैं—"मूर्ख जन महापुरुषों के असाधारण चरित्र को ठीक रूप में समझने में असमर्थ रहा करते हैं, अतएव वे उनकी निन्दा किया करते हैं। वस्तुतः आप शिव को यथार्थ रूप से नहीं जानते हो, इसी कारण उनकी निन्दा करते हो शिव को न तो आपत्तियों से ही भय है तथा न वे सांसारिक वैभव की ही इच्छा करते हैं। फिर उनको माङ्गलिक वस्तुओं से क्या प्रयोजन है ? अकिंचन होने पर भी वे समस्त ऐश्वर्यों के जन्म-दाता हैं, त्रैलोक्य- के अधिपति होने पर भी वे श्मशानवासी हैं, भयंकर आकृति से युक्त होने पर भी वे शिव कहलाते हैं। सत्यता तो यह है कि शिव के असाधारण चरित्र को जानने वाले हैं ही नहीं वे असाधारण शक्ति-सम्पन्न हैं। चिता की भस्म भी उनके अङ्गों का स्पर्श कर पवित्र हो जाती है। देवता भी उस भस्म को अपने मस्तक पर लगाया करते हैं (देखिये श्लोक सं० ७१, ७७ तथा ८०)। विद्वज्जन तो उन्हें ब्रह्मा का भी कारण मानते हैं फिर उनके कुल का पता लगाया जाना कैसे सम्भव है ?', इस भाँति ब्रह्मचारी के तर्कों का उत्तर देती हुई पार्वती खीझकर कहती हैं—'हो सकता है कि तुमने जैसा सुना है शिव वैसे ही हों किन्तु मेरा मन उनके प्रति अनन्यभाव से अनुरक्त है।" इतने में पार्वती ने देखा कि ब्रह्मचारी कुछ और कहना चाहता है। अतः उन्होंने अपनी सखी से कहा—देखो सखी ! इन ब्रह्मचारी के ओष्ठ फड़क रहे हैं। ये पुनः कुछ कहना चाहते हैं। इनसे कह

दो कि अब ये कुछ न बोलें क्योंकि जो बड़ों की निन्दा करता है, वह केवल पाप का भागी नहीं होता, अपितु जो सुनता है, उसे भी पाप लगता है। अथवा मैं ही यहाँ से उठकर चली जाती हूँ। यह कहकर वे चल पड़ती हैं। उनके पैर उठते ही ब्रह्मचारी वेषधारी शिव अपना वास्तविक रूप धारण करके उन्हें पकड़ लेते हैं उक्त सम्वाद यहीं पर समाप्त हो जाता है।

पार्वती का चरित्र-चित्रण—पार्वती का चरित्र वस्तुतः एक अत्यन्त पावन-चरित्र है। पार्वती के चरित्र में महाकवि ने जिन उदात्त एवं उत्कृष्ट गुणों का चित्रण किया है वे पार्वती को एक साधारण मानव की कोटि से उठाकर देवता की कोटि में बिठा देते हैं। भोग और त्याग, आशा और धैर्य, कठोरता और कोमलता, प्रेम और विवेक आदि परस्पर विरोधी गुणों का एकत्र दर्शन महान् व्यक्ति के असाधारण व्यक्तित्व में ही हुआ करता है। विश्व, कवि कालिदास ने इन समस्त विरोधी गुणों का समन्वय पार्वती के चरित्र में बड़ी उत्तमता के साथ प्रदर्शित किया है। प्रेमी का प्रेम, ज्ञानी का विवेक धीरों का धैर्य, वीरों का साहस, तपस्वियों की तपस्विता, सहनशीलों की सहनशीलता, आशावादियों की आशावादिता तथा अध्यवसायियों का अध्यवसाय आदि समस्त उत्तम गुण पार्वती के चरित्र में देखने को उपलब्ध होते हैं। पाठकगण अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनका यथेष्ठ रूप में अनुभव कर सकते हैं।

पार्वती के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट गुण है उनकी प्रेमवृत्ति जो अन्य सभी गुणों का केन्द्र बिन्दु है। उनके कोमल अन्तस् में जो प्रेम की धारा प्रवाहित हो रही है वह वस्तुतः गंगा की धारा के सदृश अत्यन्त पवित्र और निर्मल है। शिव के लिये उनके हृदय में अटूट स्नेह है। उनका प्राप्त कर लेना ही पार्वती के जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। इसके लिये वह महान् से महान् कष्ट को भी सहन करने के लिये उद्यत हैं तथा प्रत्येक प्रकार का त्याग करने के लिये भी।

शिव की प्राप्ति में जब उसे अपना शारीरिक सौन्दर्य निरर्थक प्रतीत होता है (निनिन्द एवं हृदयेन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।) तब उग्र तपस्या द्वारा उन्हें प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय करती है उनकी मां मेना

उसके अति कोमल शरीर की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करते हुए तपस्या के निश्चय को त्याग देने के लिये उससे अनुरोध करती हैं, पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुन पतत्रिणः)। किन्तु पार्वती अपने पूर्व निश्चय से विचलित न हो सकीं। वह अपने सुख दुःख की चिन्ता किये बिना ही, मार्ग में आने वाली विघ्नबाधाओं को चूर-चूर करती हुई तपस्या में संलग्न हो जाती हैं। शिरीष-पुष्प के सदृश उसका कोमल शरीर तपोजन्य क्लेशों को सहन करता हुआ वज्र-सदृश कठोरता को प्राप्त कर लेता। पार्वती के शरीर में एक साथ प्राप्त होने वाली कोमलता और कठोरता का चित्रण महाकवि ने इस स्वाभाविकता और सजीवता के साथ चित्रित किया है कि ये दोनों विपरीत गुण मूर्तिमान् हो उठते हैं—

'ध्रुव वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितम्,
मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥

पार्वती की सहनशीलता पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। वह नग्नभूमि पर शयन करती है, उसने पत्तों का भोजन भी त्याग दिया है। स्वयमेव उपलब्ध होने वाला जल तथा चन्द्र-किरणें ही उसका आहार रह गई हैं। ग्रीष्मकाल में वह पंचाग्नियों का सेवन करती है, शीतकाल रात्रियों में रात-रातभ वह जल में ही खड़ी रहा करती है, और वर्षा ऋतु में वह खुले आकाश में ह निवास करती है। उनकी तपस्या सम्बन्धी उक्त आचरण तपस्वियों औ मुनियों के लिये भी अनुकरणीय बन गया है। ऋषि लोग भी प्रेरणा प्राप्त करने में निमित्त उसके समीप आने लगे हैं। उन्हें अवस्था का भी ध्यान नहीं है। वे भली-भाँति जानते हैं कि धार्मिक आचरणों में जो लोग श्रेष्ठ होते उनकी अवस्था देखी नहीं जाती—

"दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्,
न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥"

पार्वती का प्रेम वासनामय अथवा विवेकहीन नहीं है कि जो प्रिय-प्राप्ति के मार्ग में कष्टों को देखकर विचलित हो जाया करता है। वह शिव बाह्य सौन्दर्य पर ही आकृष्ट नहीं है, उसके लिये तो उनके आन्तरिक गुण ही आकृष्ट होने के कारण हैं। वह इससे भली-भाँति परिचित है। शि

मृत्युञ्जय हैं, उनमें असाधारण तेज है। कामदेव के भस्म होने रूपी कार्य को उसने अपने समक्ष देखा है। पार्वती यह जानती है कि रति और काम जिसे अपनी विभिन्न क्रीड़ाओं द्वारा तनिक भी विचलित नहीं कर सके उसे अपने शारीरिक सौन्दर्य द्वारा प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं है। उसको प्राप्त करने का एकमात्र उपाय तपस्या ही है—

"अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयम्,
तथाविधं प्रेम, पतिश्च तादृशः ॥"

पार्वती के अनन्य-प्रेम की परीक्षा लेने के निमित्त ब्रह्मचारी का वेष बनाकर शिव स्वयं उसके समीप जाते हैं। वे वहाँ पहुँचकर शिव की अनेक प्रकार से निन्दा करते हैं। वे कहते हैं—कि शिव के वंश का पता नहीं है, अतः वे अकुलीन हैं सर्प, मुण्ड तथा श्मशान आदि अमांगलिक वस्तुओं से प्रेम रखते हैं। वे अकिंचन हैं तथा बैल की सवारी करते हैं। स्वयं नंगे रहते तथा शरीर में भस्म लगाये रहते हैं इत्यादि। किन्तु पार्वती इन वातों का उत्तर देते हुये केवल यह कहती है कि—**"न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः।"**

अर्थात् वास्तविक रूप से शिव को जानने वाले व्यक्ति नहीं हैं। जव वह देखती है कि वह ब्रह्मचारी पुनः कुछ कहना चाहता है तव वह यह समझकर कि महापुरुषों की निन्दा करने वाला ही पापी नहीं होता है वरन् उस निन्दा को जो सुनता है वह भी पाप का भागी होता है, वहाँ से अन्यत्र चली जाना चाहती है—

"न केवलं यो महतोऽपभाषते, शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्"

अतएव— **"इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला।"**

इस भाँति वह अपनी प्रेम-परीक्षा में पूर्णतया सफलता प्राप्त करती है। जिस शिव की समाधि को रति और कामदेव भी भ्रष्ट नहीं कर सके थे उस शिव की समाधि को पार्वती ने अपनी कठोर तपस्या से ऐसा छिन्न-भिन्न कर दिया कि शिव को स्वयं ही उसके समीप आने के लिये विवश हो जाना पड़ा और उन्होंने अपने को पार्वती की तपस्या से खरीदे गये दास के रूप में उसके समक्ष उपस्थित कर दिया—

"अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः,
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।।"

इस भाँति पार्वती के चरित्र सम्बन्धी गुणों की समीक्षा करते हुये हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि पार्वती का चरित्र वस्तुतः त्याग, संयम, प्रेम, तपस्या, करुणा, धैर्य, साहस, आशा एवं सहिष्णुता का प्रतीक है, साथ ही अनुकरणीय भी है।

कालिदास की सर्वोत्कृष्टता एवं महानता

महाकवि कालिदास समस्त संस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट कलाकार तो हैं ही; यदि उन्हें विश्वसाहित्य का सर्वश्रेष्ठ कलाकार भी कह दिया जाय तो यह कोई अतिशयोक्तिपूर्ण बात न होगी। उनकी समानता आँग्लभाषा-साहित्य के सर्वोच्च-सफल कलाकार शैक्सपियर से की जाती है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि शैक्सपियर एक योग्य नाटककार अवश्य थे, कालिदास ने तो नाटककार होने के अतिरिक्त दो महाकाव्यों की भी रचना की है—(१) रघुवंश (२) कुमारसम्भव। अतः इस दृष्टि से कालिदास शैक्सपियर से कहीं आगे निकल जाते हैं। यद्यपि दोनों ही उच्चकोटि के कवि अवश्य हैं किन्तु जहाँ तक महाकाव्य का सम्बन्ध है, कालिदास को उनसे अग्रणीय स्थान देना उचित ही होगा। काव्य-मर्मज्ञों द्वारा उनको दी गई महाकवि की उपाधि अक्षरशः सत्य है। कोमलकान्त पदावली, प्रसाद गुण-समन्वित भाषा, भावगाम्भीर्य शैली की मौलिकता, कल्पनाओं की उदात्तता, अलङ्कारों की स्वाभाविकता तथा रसों का पूर्ण परिपाक आदि समस्त उत्कृष्ट गुणों ने एकत्र होकर कालिदास की रचना में एक ऐसा आकर्षक तथा रोचकता को उत्पन्न कर दिया है कि पाठक उसके रसास्वादन से मोहित होकर अपने को ही भूल जाता है तथा आनन्द विभोर हो जाता है। जगद् प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् कवि गेटे उनके 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के अनुवाद मात्र का अध्ययन कर आनन्द विभोर हो गये तथा उन्होंने इस ग्रन्थ की विलक्षण प्रशंसा करते हुये यह कह ही डाला—

Wouldst thou see spring's blossoms and the fruits of its
decline;

Wouldst thou see by what the souls enraptured, feasted, fed.
Wouldst thou have this earth and heaven in one sole name combine.
I name thee, oh Sakuntal ! and all at once is said.

अर्थात् वसन्त-ऋतु के समस्त फूल और फल तथा ग्रीष्मकाल के भी सम्पूर्ण फूल एवं फल और जो कुछ भी मन को रसायन की भाँति सन्तृप्त और मोहित करने वाले पदार्थ हैं उसको तथा स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक दोनों के अभूतपूर्व एकत्रित ऐश्वर्य को हे प्रिय मित्र ! यदि तुम देखना चाहते हो तो 'शाकुन्तल' का सेवन करो।

'प्रोफेसर लैसन (Lassen) ने भी कालिदास की प्रशंसा करते हुये कहा है—

"Kalidas is the brightest star in the firmament of Indian Poetry."

अर्थात् कालिदास भारतीय काव्याकाश के सर्वश्रेष्ठ देदीप्यमान नक्षत्र हैं।

कालिदास की कला की यह एक महान् विशेषता है कि वह समाज के लिये है, केवल कला के लिये नहीं। इनकी कला में समाज के जीवन की दुःख-सुख, हर्ष-विषाद तथा राग-विराग की गम्भीर तथा साधारण सभी प्रकार की भावनाओं का समावेश हुआ है। वे ही एक ऐसे कलाकार हैं कि जिन्होंने अपने युग की चेतना को अपनी कला में मुखरित किया है। वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके पात्र भारतीयता की सजीव मूर्ति है। उनके ग्रन्थों का अध्ययन करने मात्र से तत्कालीन सामाजिक सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान पाठक को सहज ही प्राप्त हो जाता है।

उनकी काव्य शैली का महत्त्व बतलाते हुये डॉ० ए० बी० कीथ ने लिखा है—"कालिदास निस्संदेह भारतीय काव्यशैली के सर्वोत्तम आचार्य हैं।"

[संस्कृत साहित्य का इतिहास मोतीलाल, बनारसीदास द्वारा मुद्रित सन् १९६० ई० के पृष्ठ सं० १२४।]

संस्कृत-साहित्य के सर्वोत्तम गद्य-लेखक महाकवि बाण ने अपने "हर्षचरित" में कालिदास की कविता की प्रशंसा करते हुये लिखा है—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिमधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

अर्थात् नवीन विकसित हुई मंजरियों के स्पर्श मधु एवं सरस कालिदास की सूक्तियों में उच्चारणमात्र से ही किसे आनन्द की अनुभूति नहीं होती है ?

टीकाकार मल्लिनाथ ने तो कालिदास की कला के बारे में यहाँ तक लिखा है कि—

"कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशा ॥

अर्थात् कालिदास की वाणी के सार को आज तक केवल तीन व्यक्तियों ने ही समझा है, एक तो विधाता (ब्रह्मा), दूसरी वाग्देवी सरस्वती और तीसरे कालिदास स्वयं। मेरे समान अल्पज्ञ पुरुष उनको ठीक-ठीक समझने में सर्वथा असमर्थ हैं।"

अमेरिका के 'राइटर' नामक विद्वान् ने कालिदास की श्रेष्ठता को अनेक प्रकार से स्थापित करते हुए अन्त में यही कहा है कि—"We know that Kalidas was a great poet, because the world has not been able to leave him alone. अर्थात् कालिदास के बिना संस्कृत-साहित्य का अध्ययन ही नहीं हो सकता। हम कालिदास को छोड़ नहीं सकते तथा छोड़कर सन्तोष नहीं पा सकते।"

कालिदास का सन्देश—कालिदास ने अपने समस्त चित्रणों के द्वारा मानव-जीवन के मुख्य आदर्श की स्थापना की है। उनके ग्रन्थों का एकमात्र यही सन्देश है कि त्याग, तपस्या और तपोमय जीवन द्वारा मानव अपने वास्तविक कल्याण की प्राप्ति कर सकता है। उनका संदेश तीन तकारादि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—"त्याग, तपस्या, तपोमय जीवन"। तपोवन में पली सभ्यता के द्वारा ही मानवमात्र का सच्चा मंगल हो सकता है। क्षुद्र स्वार्थ का निवारण त्याग द्वारा होता है और सच्ची उन्नति तपस्या के बल पर ही की जा सकती है। मानवयोनि में जन्म पाकर विषयों का दास बनना मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं है। आध्यात्मिक-जीवन में ही सच्ची आत्मा का दर्शन सुलभ है तथा उसी से निःश्रेयस (परमधाम, मोक्ष अथवा सच्चा कल्याण) की प्राप्ति हो सकती है।

—सुरेन्द्रदेव शास्त्री
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०

महाकवि कालिदास द्वारा प्रणीत महाकाव्य

कुमारसम्भवम्

(पञ्चमः सर्गः)

सन्दर्भ—पार्वती पर्वतराज हिमालय की पुत्री थी। नारद ने हिमालय से था कि पार्वती का विवाह शिव से होगा। अतएव मानसिक रूप से पार्वती शव को अपने पति के रूप में वरण करने का निश्चय कर लिया था। अतः शवजी के समीप जाती हैं। इधर देवगण अपने शत्रु तारकासुर नामक दैत्य त्यन्त त्रस्त हो गये थे। बह्मा ने देवताओं को बतलाया कि उनके शत्रु क को शिव तथा पार्वती से उत्पन्न पुत्र ही युद्ध में मार सकता है। अतएव ाओं के राजा इन्द्र ने कामदेव को शिव की तपस्या भंग करके उनके हृदय ार्वती के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के निमित्त भेजा। इस कार्य को स्वीकार वह अपने मित्र वसन्त के साथ शिवजी के तपस्या-स्थल पर पहुँचा और ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप उसे अपने प्राणों से हाथ ा पड़ा। शिव ने अपने तृतीय नेत्र से उसको भस्म कर दिया और तदनन्तर पने गणों को साथ लेकर अन्तर्धान हो गये। बेचारी पार्वती अपने उदासीन से घर लौट आई। उनकी आशायें धूल में मिल गई। अतएव उन्होंने—

तथा समक्षं दहता मनोभवं
पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥१॥

अन्वयः—तथा समक्षं मनोभवं दहता पिनाकिना भग्नमनोरथा सती पार्वती येन (स्व) रूपं निनिन्द, हि चारुता प्रियेषु सौभाग्यफला ॥१॥

संस्कृत-व्याख्या—तथा = तेन प्रकारेण, समक्षं = पुरतः, मनोभवं = का दहता = भस्मी कुर्वता, पिनाकिना = शिवेन, भग्नमनोरथा = खण्डितहृ रूपाभिलाषा, सती = भवन्ती, पार्वती = गौरी, हृदयेन = मानसा, (स्व = स् यम्), रूपं = सौन्दर्यं, निनिन्द = गर्हितवती (धिक् में सौन्दर्य यद् हरमनु णाय न समर्थमिति निन्दितवती)। हि चारुता = सौन्दर्यं, प्रियेषु = पतिषु सौभाग्यफला = प्रियवल्लभ्यफला, भवतीति शेषः (सौन्दर्यस्य तदेव फलं यद्भर्तृसौभाग्यं प्राप्यते, अन्यथानिरर्थकं तदिति भावः।)

भाषा—इस भाँति अपनी आँखों के समक्ष कामदेव को दग्ध कर दे शिव के द्वारा निराशा को प्राप्त हुई पार्वती अन्तस्तल (हृदय) से (स्वाभाविक) सौन्दर्य की निन्दा करने लगी; क्योंकि (वास्तविक) सौन्दर्य कि जो अपने प्रिय के प्रेम रूपी सौभाग्य को पा सके (अर्थात् सच्चा वही है कि जिस (सौन्दर्य) के द्वारा अपने प्रियतम को अपनी ओर किया जा सके।)

व्याकरण—पार्वती = पर्वत + अण् + ङीप्। समक्षम् = सम् + अक्षि दहता = दह + शतृ । पिनाकिना पिनाक + इनि । भग्न = भञ्ज् + सती = अस् + शतृ + ङीप् । चारुता = चारु + तल् । निनिन्द = नन्दि (प्रथम पुरुष, एकवचन)। सौभाग्य = सुभगा + ष्यञ् ।

समास—समक्षम् = अक्ष्णोः समीपम् इति (अव्ययीभाव)। मनोभ मनसि भवतीति मनोभवः तम् (व्यधिकरण—बहुव्रीहि)। दहता = द दहन् तेन दहता। पिनाकिना = पिनाकः अस्यास्तीति पिनाकी तेन। भग्न रथा = भग्नः मनोरथः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। सौभाग्यफला = सौभाग्यं यस्याः सा (बहुव्रीहि)।

छन्द—इस पञ्चम सर्ग में ४८ वें श्लोक तक वंशस्थ नामक वृत्त है। लक्षण है—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ"।

जगण	तगण	जगण	रगण
I S I	S S I	I S I	S I S

टिप्पणियाँ—पार्वती = पर्वत अर्थात् हिमालय की पुत्री। तथा = उस

यह शब्द तृतीय सर्ग के ७२ वें श्लोक की शिवजी द्वारा कामदेव को भस्म ने वाली घटना की ओर संकेत करता है। **समक्षम**=आँखों के सामने। **पिनाकिना**=शिव के द्वारा। **पिनाक**=शिव नुष का नाम है पिनाकोऽजगवं" पिनाक को धारण करने से शिव का पिनाकिना है। **भग्नमनोरथा**=नष्ट हो गई है इच्छा जिसकी। शिव ने देव को भस्म कर दिया—यह देखकर पार्वती की शिव को प्राप्त करने की ा नष्ट हो गई। **सती**=होती हुई। **हृदयेन**=अन्तस्तल से, मन से, "चित्तं तो हृदय स्वान्तं हृन्मानस मनः" इत्यमरः। **रूपम्**=सौन्दर्य को। **निनिन्द** धिक्कारा अथवा निन्दा की। **चारुता**=सौन्दर्य। **सौभाग्यफला**=सौभाग्य फल है जिसका। प्रियेषु "**सौभाग्यफला हि चारुता**"—इस सूक्ति का भाव है कि सौन्दर्य की सार्थकता इसी में है कि सौन्दर्य अपने इष्ट जन को अपनी आकर्षित कर सके। वस्तुतः वह सौन्दर्य सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता जो अपने प्रिय को अपनी ओर आकृष्ट अथवा वशीभूत न कर सके। ऐसा दर्य पूर्णतया निष्फल ही कहा जायेगा। पार्वती अति सुन्दरी थीं किन्तु का सौन्दर्य उनके प्रिय शिव को अपनी ओर आकृष्ट न कर सका। इसी ण उन्होंने अपने रूप को धिक्कारा है ॥१॥

* * *

प्रसङ्ग—अपने अभिलषित पति को अपने सौन्दर्य द्वारा प्राप्त करने में ने को असमर्थ पाकर पार्वती ने तप द्वारा अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त ने का निश्चय किया—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥२॥

अन्वयः—सा समाधिं आस्थाय तपोभिः आत्मनः अवन्ध्यरूपतां कर्तुं इयेष। यथा तथाविधं प्रेम, तादृशः पतिः च (इति एतद्) द्वयं कथं वा अवाप्यते ॥२॥

संस्कृत-व्याख्या—सा=पार्वती, समाधिम्=एकाग्रताम्, आस्थाय=अव-

लम्ब्य, तपोभिः=वक्ष्यमाणैः व्रतविशेषैः, आत्मनः=स्वस्य, अवन्ध्यरूपत सफलसौन्दर्यं, कर्तुम्=विधातुम्, इयेष=इच्छितवती, तपसा शिवं वशी मिच्छितवती—इत्यर्थः । अन्यथा=ततोऽन्यप्रकारेण, तथाविधं=तादृशं, प्रे स्नेहः (येन अर्धाङ्गहरा शिवस्य भवेत्—इति भावः), तादृशः=तथाविधः, च=स्वामी च (यः मृत्युञ्जय इति भावः), इति एतद्, द्वय=उभयं क =केन प्रकारेण वा, अवाप्यते=प्राप्यते ।

भाषा—(तब) पार्वती ने एकाग्रचित्त होकर तप के द्वारा अपने सौन्द सार्थक करने की इच्छा की। नहीं तो (अर्थात् तपस्या के बिना) उस का उत्कृष्ट पति-प्रेम तथा शिव जैसे पति, ये दोनों किस भाँति प्राप्त कि सकते हैं ? (अर्थात् बिना तपस्या के मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाला सदृश पति तथा पति का उत्कृष्ट अनुराग, ये दोनों दुर्लभ बातें प्राप्त कर सम्भव नहीं हैं ऐसी धारणा पार्वती के हृदय में उत्पन्न हुई ।)

व्याकरण—समाधिम्=सम्+आ+धा+किः । आस्थाय=आ+ +ल्यप् । तपोभिः=यहाँ करण में तृतीया विभक्ति हुई है । मूल शब्द तपस् वन्ध्य=वन्ध+ण्यत् । कर्तुम्=कृ+तुमुन् । इयेष=इषु-इच्छायाम् धातु लिट् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन । अन्यथा=अन्य+थाल्, यह अ पद है तथा कारण में तृतीया का भाव रहता है । तादृशः=तद्+दृश्+ यहाँ आ सर्वनामः' सूत्र से तद् के स्थान पर ता हो जाता है । द्वयम्=द्वि अयच् । अवाप्यते=अव+आप्+य+लट्, यह प्रथम पुरुष में एकवचन कर्मवाच्य का रूप है ।

समास—अवन्ध्यरूपताम्= न वन्ध्यं (निष्फल) अवन्ध्यं (नञ् तत् [सफल] । अवन्ध्य च यद्रूपं, अवन्ध्यरूपम् तस्यं भावः अवन्ध्यरूपता, अवन्ध्यरूपताम् अथवा अवन्ध्यं रूपं यस्याः सा अवन्ध्यरूपा तस्याः भावः अव रूपता ताम् । तथाविधम्=तथा विधा (प्रकारैः) यस्य तत् तथा (बहुव्रीहि) । द्वयम्=द्वौ अवयवौ यस्य तद् द्वयम् ।

टिप्पणियाँ—समाधिम्=एकाग्रता को । आस्थाय=लगाकर अथवा आ प्राप्त कर । तपोभिः=तपस्या के द्वारा । अवन्ध्यरूपताम्=सफल सौन्द

= इच्छा की । **तथाविधम्** वैसा—(यह प्रेम का विशेषण है) उस प्रकार
प्रेम जो शिव की प्राप्ति करा सके । **प्रेम** = स्नेह । यह प्रेमन् शब्द की
मा विभक्ति का एकवचन का रूप है । **तादृशः** = वैसा—उस प्रकार का ।
: = वल्लभः । भारतीय स्त्रियाँ अपने पति के विषय में दो ही बातों को
शेष रूप से चाहा करती हैं—(१) दृढ़ स्नेह, (२) दीर्घ जीवन । इस श्लोक
आये हुए "तथाविधं प्रेम" तथा "तादृशः पतिः" इन दोनों से भी उपर्युक्त
भिप्राय ही ध्वनित होता है । **द्वयम्** = ये दोनों । **अवाप्यते** = प्राप्त होता है ।

अतीव दुष्कर मनोरथ की पूर्ति के निमित्त मनु ने भी अपनी स्मृति में तप
मक साधन को ही उचित ठहराया है—

"यद् दुस्तरं यद् दुराप यद दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
तत् सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥" ११/२३८॥

अतः पार्वती द्वारा शिव-प्राप्ति रूपी दुष्कर कार्य के लिये तप का अनुष्ठान
या जाना उचित ही था ॥२॥

....

प्रसङ्ग—तदनन्तर पार्वती की माता को पार्वती की सखी के द्वारा यह ज्ञात
ा कि पार्वती का मन शिव की ही प्राप्ति में संलग्न हो गया है तथा वह इसके
ये तपस्या करने को भी कृतसंकल्प है तो वह चिन्तित हुई और वे.........

निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां
सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा
निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥३॥

अन्वय—मेना गिरीशप्रतिसक्तमानसां सुतां तपसे कृतोद्यमां निशम्य एनां
क्षसा परिरभ्य महतः मुनिव्रतात् निवारयन्ती उवाच ॥३॥

संस्कृत-व्याख्या—मेना = मेनका, हिमालय पत्नीत्यर्थः, गिरीशप्रतिसक्त-
ानसाम् = शिवासक्तचित्ताम्, सुताम् = स्वकीयां पुत्रीं गौरीम्, तपसे = तपश्चर-
ाय, कृतोद्यमाम् = विहितोद्योगाम्, निशम्य = श्रुत्वा, एनां = पार्वती, वक्षसा =

हृदयेन, परिरभ्य=आलिङ्गय, महतः=बृहतः, मुनिव्रतात्=तपसः, निवा उवाच अब्रवीत् ।

भाषा—मेना शिव में आसक्त चित्त वाली अपनी इस पुत्री के सम तपस्या करने के निमित्त उद्यत सुनकर (उसे) हृदय से आलिंगन कर से रोकती हुई बोली—

अर्थात् पार्वती की माँ मेना ने जब यह सुना कि हमारी पुत्री शिव रीझकर उनकी प्राप्ति के निमित्त तप करने पर तुली हुई है तो उन्होंने को अपने हृदय से लगा लिया और उनको इतनी कड़ी तपस्या करने से करने के निमित्त समझाती हुई बोली—

व्याकरण—**प्रतिसक्त**=प्रति+सञ्ज्+क्तः । **मानसाम्**=मनस्+ में) अण् । **तपसे**=इसमें "क्रियार्थोपपदस्य कर्मणि स्थानिनः" सत्र चतुर्थी विभक्ति हो जाती है । **निशम्य**=नि+शम+णिच्+ल्यप् । =परि+रभ्+ल्यप् । **निवारयन्ती** नि+वृ+णिच्+शतृ+ङीप्

समास—**गिरीशप्रतिसक्तमानसाम्**=गिरेः ईशः गिरीशः (षष्ठी त मनः एव मानसम्, गिरीशे प्रतिसक्तं मानसं यस्याः सा गिरीशप्रतिसक्त तां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् (बहुव्रीहि) । **कृतोद्यमाम्**=कृतः उद्यम सा ताम्=कृतोद्यमाम् (बहुव्रीहि) । **मुनिव्रतात्**=मुनीनां व्रतं मुनिव्रतं मुनिव्रतात् (षष्ठी तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**मेना**=मेनका, पार्वती की माता, हिमालय की **गिरीशप्रतिसक्तमानसाम्**=शिव के प्रति आसक्त हो गया है चित्त (पार्वती का विशेषण) ऐसी पार्वती । **सुताम्**=पुत्री को—पार्वती **तपसे**=तपः कर्तुम्—तप करने के निमित्त । **कृतोद्यमाम्**=किया है जिसने तप करने के लिये दृढ निश्चय रखने वाली । **निशम्य**=सुन **वक्षसा**=हृदय से । **परिरभ्य**=आलिंगन करके, हृदय से चिपटाकर उपसर्ग के साथ प्रयुक्त रभ् धातु का अर्थ आलिंगन करना होता है **व्रतात्**=मुनियों का व्रत अर्थात् तपस्या से । **निवारयन्ती**=निवारण हुई, रोकती हुई । **उवाच**=बोली—इस क्रिया का कर्त्ता 'मेना' त एना है ॥३॥

प्रसङ्ग—अतः पार्वती की माता (मेना) ने पार्वती से कहा

मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवताः
तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं
शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥४॥

अन्वयः—हे वत्से ! मनीषिताः देवताः गृहेषुः सन्ति । तपः क्व ? तावकं च क्व ? पेलवं शिरीषपुष्पं भ्रमरस्य पदं सहेत, पतत्रिणः पुनः (पदं) न हेत) ॥४॥

संस्कृत-व्याख्या—हे वत्से ! = हे पुत्रि !, मनीषिताः = अभीष्टाः, देवताः देवाः, गृहेषु = भवनेषु, सन्ति = विद्यन्ते । त्वं ता आरधय इति भावः । : = नियमव्रतं, क्व = कुत्र ? तावकं = त्वदीय, वपुः च = शरीरं च, क्व = ? पेलवं = सुकोमल, शिरीषपुष्पं = शिरीषकुसुमं, भ्रमरस्य = भृङ्गस्य, = चरणस्थितिं, सहेत मर्षयेत्, पतत्रिणः पुनः = पक्षिणस्तु, पदं = चरण-थति, न सहेत् = न मर्षयेत् ।

भाषा—हे पुत्रि ! तुम्हारे मनचाहे देवता तो घर में ही हैं । कहाँ तो ह कठोर तप और कहाँ तुम्हारा यह कोमल शरीर ? शिरीष का कोमल फूल रे के पैर रखने के (भार) को सहन कर सकता है किन्तु पक्षी के पदाघात ा नहीं ।

भावार्थ—प्रिय बेटी पार्वती ! तुम घर में रहते हुये ही इन्द्र आदि वताओं की आराधना करो, क्योंकि तुम्हारा यह शरीर तो सिरस के फूल के मान अत्यन्त कोमल है अतः वह शारीरिक कष्टसाध्य मुनिजनोचित तप-या रूप कार्य को सहन नहीं कर सकेगा । शिरीष के फूल के ऊपर केवल ौंरा ही बैठ सकता है किन्तु यदि अन्य पक्षिगण उस पर बैठना चाहें तो वह उनके भार को सहन करने में नितान्त असमर्थ ही रहेगा । ऐसी स्थिति में तुम्हारे लिये तप करना उचित नहीं है, अपने इस निश्चय को बदल दो ।

व्याकरण—मनीषिताः = मनस्, + ईषा—इस स्थिति में 'अचोन्त्यादिटिः' सूत्र से मनस् के अस् भाग की 'टि' संज्ञा और "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्"

इस वार्तिक सूत्र से पररूप होकर, मनीषा + इतच्—मनीषिता । देव देव + तल् । **तावकम्** = "तवकममकावेकवचने" सूत्र से युष्मद् के स्था तवक् आदेश होकर—तवक् + अण् तथा "तद्धितेष्वचामादेः" से वृद्धि । =भ्रम + अरच् । **पतत्रिणः** = पतत्र + इनि । **सहेत** = सह् धातु के आत् में विधिलिङ्ग प्रथम पुरुष एकवचन का रूप ।

समास—**मनीषिता** = मनसा ईषिता मनीषिताः (तृतीया तत्पुरु **तावकम्** = तव इद तावकम् । **शिरीषपुष्पम्** = शिरीषस्य पुष्पम् (षष्ठी तत्पु **पतत्रिणः** = पत् + शतृ = पतत् । पतन्तं त्रायते यत् तत् पतत्रं (पंख), अस्ति इति पतत्रिन् तस्य पतत्रिणः ।

अलङ्कार—उक्त पद्य में दृष्टान्त अलंकार है । लक्षण चेद्बिम्बप्रतिबि दृष्टान्तस्तदलंकृतिः ।

टिप्पणियाँ—**मनीषिताः** = मन चाहे । **क्व** = कहाँ—दो वस्तुओं के जब क्व शब्द का प्रयोग किया जाता है तब वह अन्तर की अधिकता का होता है—कहाँ यह और कहाँ वह ? **वपुः** = शरीर । मूल शब्द है—व इसके रूप—वपुवपुषी, वपूंषि इत्यादि । तपः और वपुः दोनों ही (भ क्रिया के कर्त्ता हैं—यहाँ क्रिया पद लुप्त है । इसका **अर्थ** = कहाँ (कठोर और कहाँ तुम्हारा (कोमल) शरीर । **भाव**—तुम्हारा यह सुकोमल तपस्या के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है । **शिरीषपुष्पम्** = सिरस का फू फूल कोमलता के लिये प्रसिद्ध है । यहाँ पर यह सहेत क्रिया का कर्त्त **पतत्रिणः** = पक्षी के ॥४॥

* * *

प्रसङ्ग—किन्तु मेना के समझाने का पार्वती पर कोई प्रभाव न पड़ तथा वह अपने दृढ़ निश्चय पर पूर्ववत् अटल रही—

इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां
शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥५॥

अन्वयः—इति अनुशासती मेना ध्रुवेच्छां सुतां उद्यमाद् नियन्तुं न शशाक। ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः निम्नाभिमुखं पयः च कः प्रतीपयेत् ॥५॥

संस्कृत-व्याख्या—इति = एवम्, अनुशासती = उपदिशन्ती, मेना = पार्वत्याः माता, ध्रुवेच्छां = स्थिरव्यवसायां, सुतां = पुत्रीं पार्वती, उद्यमात् = तपोलक्षणात् उद्योगात्, नियन्तुं = निवारयितुं, शशाक = समर्था अभूत्। ईप्सितार्थस्थिरनिश्चय = अभीष्टार्थदृढनिश्चयं, मनः = चित्त, निम्नाभिमुखं = निम्न प्रदेशं कृतप्रवाहमित्यर्थः, पयः च = जलं च, कः प्रतीपयेत् = प्रतिकूलयेत्, न कोऽपि इत्यर्थः।

भाषा—इस भाँति उपदेश देती हुई मेना (तपस्या करने के लिये) दृढ़ संकल्प वाली (अपनी) पुत्री (पार्वती) को (उसके) निश्चय से नहीं हटा सकी। अभीष्ट अर्थ प्राप्ति के लिये दृढ़ निश्चय वाले मन को तथा ढलाव की ओर जाते हुये जल को कौन पलट सकता है ?

भावार्थ—पार्वती की माता मेना ने अपनी पुत्री पार्वती को अनेक प्रकार से समझाया-बुझाया किन्तु वह पार्वती को अपने कठोर तप करने के निश्चय से तनिक भी विचलित न कर सकी। जैसे नीचे ढाल की ओर जाते हुये जल के प्रवाह को रोकना किसी भी दशा में सम्भव नहीं है वैसे ही अभीष्ट की प्राप्ति के लिये दृढ़ निश्चय वाले मन को भी उस ओर से हटाना सम्भव नहीं है।

अलङ्कार—उक्त पद्य में दीपक से अनुप्राणित अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

व्याकरण—**अनुशासती** = अनु शास् + शतृ + ङीप्। **उद्यमात्** = उत् + यम् + घञ = उद्यम। यहाँ "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" वार्तिक सूत्र से पंचमी विभक्ति होती है। **नियन्तुम्** = नि + यम् + तुमुन्। **ईप्सित** = आप् + सन् + क्त = ईप्सित—यहाँ सन् प्रत्यय होने पर आप् के स्थान पर ईय् हो जाता है। **प्रतीपयेत्** = (प्रतीप + य)' प्रतीपय के विधिलिङ् के प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप है।

समास—**ध्रुवेच्छाम्** = ध्रुव (निश्चला) इच्छा यस्याः सा ताम् (बहुव्रीहि), यह सुतां का विशेषण है। **ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयम्** - ईप्सितः अर्थः ईप्सितार्थः। ईप्सितार्थे स्थिरः निश्चयः यस्य तम् (बहुव्रीहि)। **निम्नाभिमुखम्** = अभिगतं मुखं यस्य तत् अभिमुखं (बहुव्रीहि) निम्ने अभिमुखं निम्नाभिमुखम्। **प्रतीपम्** = प्रतिगताः आपः अस्मिन् इति प्रतीपम् (उल्टा, विपरीत)।

टिप्पणियाँ—**इति**=इस प्रकार—यह अव्यय है तथा उपर्युक्त दो पद्यों में वर्णित कथन की ओर संकेत करता है। साथ ही 'अनुशासती' का कर्म भी है। **अनुशासती**=उपदेश देती हुई। **ध्रुवेच्छाम्**=दृढ़ संकल्प से परिपूर्ण। यह सुतां का विशेषण है। **उद्यमात्**=प्रयत्न से (तपस्या करने से)। **नियन्तुम्**=रोकने के लिये। **न शशाक**=समर्थ न हो सकी। इस क्रिया का कर्त्ता मेना है। **ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयम्**=(अपनी) अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में दृढ़ निश्चय रखने वाला—यह मन का विशेषण है। **निम्नाभिमुखम्**=नीचे (ढाल) की ओर बहता हुआ। **प्रतीपयेत्**=पलट सकता है अथवा विपरीत लौटा सकता है ॥५॥

◆

प्रसङ्ग—तदनन्तर एक दिन पार्वती ने अपनी सखी द्वारा अपने पिता से वन में अपने निवास के बारे में आज्ञा माँगी :—

कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा
मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः
फलोदयान्ताय तपः समाधये ॥६॥

अन्वयः—कदाचित् मनस्विनी सा मनोरथज्ञं पितरं आसन्नसखीमुखेन फलोदयान्ताय तपः समाधये आत्मनः अरण्यनिवासं अयाचत ॥६॥

संस्कृत-व्याख्या—कदाचित् = कस्मिंश्चित्काले, मनस्विनी = स्थिरचित्ता, सा=पार्वती, मनोरथज्ञं,=अभिलाषज्ञं, पितरम्=तातं हिमालयं, आसन्नसखीमुखेन=आप्तसखी उपायेन, फलोदयान्ताय=फलोत्पत्तिपर्यन्तं, तपः समाधये =तपो नियमार्थम्, आत्मनः=स्वस्य, अरण्यनिवासं=वनवासं, अयाचत= याचितवती।

भाषा—किसी समय दृढ़ निश्चय वाली उस (पार्वती ने अपनी) एक अभिन्न हृदय वाली सखी के द्वारा अपनी इच्छाओं को जानने वाले अपने पिता जी से फल-प्राप्ति पर्यन्त तप करने के निमित्त वन में अपने निवास की आज्ञा माँगी।

भावार्थ—यद्यपि पार्वती के पिता हिमवान् पार्वती की इच्छा से भलीभाँति परिचित थे किन्तु फिर भी वह (पार्वती) उनकी बिना आज्ञा प्राप्त किये तपस्या करने के लिये वन में जाना उचित नहीं समझती थी। अतः उसने अपनी अभिन्नहृदया सखी को वन में जाकर तपस्या करने के निमित्त पिता से आज्ञा प्राप्त करने हेतु प्रेषित किया। उसने पिता से यह भी कहलवाया कि वह अपनी अभीष्ट पूर्ति पर्यन्त ही वन में तपस्या करेगी।

व्याकरण—मनस्विनी=मनस्+विनि+ङीप्—यहाँ "अस्माया मेघा स्रजो विनिः" सूत्र से विनि प्रत्यय होकर मनस्विन् शब्द वनता है। तदनन्तर स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होकर मनस्विनी, बनता है। **मनोरथज्ञम्**=मनोरथ+ज्ञा+कः। **आसन्न**=आ+सद्+क्तः। **समाधये**=सम+आ+धा+कि =समाधिः (चतुर्थी विभक्ति में—समाधाये) **निवासम्**=नि+वस्+घञ्= निवासः। **अयाचत**=याच् धातु के लङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है। इस क्रिया के नियमानुसार (दुह्याचपच्दण्ड्रुधिप्रच्छिब्रूशास्जिमन्थमुषाम्। कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्) याच् धातु के दो कर्म हैं। (१) अरण्यनिवासं—यह मुख्य कर्म है तथा (२) पितरम्—गौण कर्म है।

समास—मनस्विनी=प्रशस्तं मनः अस्या अस्तीति मनस्विनी। **मनोरथज्ञम्** =जानातीति ज्ञः मनोरथस्य ज्ञः मनोरथज्ञः तम् मनोरथज्ञम्। **आसन्नसखीमुखेन** =(कर्मधारय) अथवा आसन्नायाः सख्याः मुखेन इति (षष्ठी तत्पुरुष)। **फलोदयान्ताय**=फलस्य उदयः (षष्ठी तत्पुरुष) फलोदयः स अन्तः यस्यः स, तस्मै। **तपःसमाधये**=तपसः समाधिः तपःसमाधिः, तस्मै। अथवा—तपसि तपसा वा समाधिः (सप्तमी अथवा तृतीया तत्पुरुष) **तस्यै**। अथवा तपः एव समाधिः तस्मै (कर्मधारय)। **अरण्यनिवासम्**=अरण्ये निवासः इति अरण्यनिवासः, तम्।

टिप्पणियाँ—कदाचित्=किसी समय। **मनस्विनी**=दृढ़ संकल्प वाली अथवा स्वाभिमानी। अनेक विघ्नों के उपस्थित होने पर भी जो प्रारम्भ किये गये कार्य को नहीं छोड़ा करता है वह 'मनस्वी' कहा जाता है। मनस्वी का लक्षण :—

"महाकार्ये कृतोद्योगो विघ्नैराहतमानसः।
प्रारब्धं न त्यजति यः स मनस्वीति कथ्यते॥'

पार्वती ने भी अभीष्टकाल की प्राप्ति पर्यन्त, तप करने का निश्चय किया था तथा वह उसमें आगे चलकर सफल भी हुई है अतः उसी के लिये "मनस्विनी" शब्द का प्रयोग किया गया है और वह उक्त अर्थ में सार्थक भी है । **मनोरथज्ञम्** =(पार्वती की) अभिलाषा को जानने वाला । **आसन्न-सखीमुखेन**=परम् विश्वासपात्र अथवा अभिन्नहृदय सखी के माध्यम से । **फलोदयान्ताय**=फल-प्राप्ति होने तक । यह तपः समाधये का विशेषण है । **तप समाधये**=तपश्चरण अथवा नियम अथवा व्रत की सिद्धि के लिये । यहाँ पर "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" से चतुर्थी विभक्ति हुई है । **अरण्यनिवासम्**=वनवास को यह 'अयाचत' क्रिया का मुख्य कर्म है । **अयाचत**=माँगा ॥६॥

◆

प्रसङ्ग—पिता की आज्ञा प्राप्त कर लेने के पश्चात् पार्वती ने अपनी तपस्या के निमित्त प्रस्थान किया तथा तप के योग्य स्थान चुना :—

अथानुरूपाऽभिनिवेशतोषिणा
कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा ।
प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया
जगाम गौरी शिखरं शिखण्डिमत् ॥७॥

अन्वयः—अथ अनुरूपाऽभिनिवेशतोषिणा गरीयसा गुरुणा कृताभ्यनुज्ञा (सती) गौरी पश्चात् प्रजासु तदाख्यया प्रथितं शिखण्डिमत् शिखरं जगाम ॥७॥

संस्कृत-व्याख्या—अथ=तदनन्तरं, अनुरूपाऽभिनिवेशतोषिणा=स्वानुरूपाग्रहसंतुष्टेन, गरीयसा=पूज्यतमेन, गुरुणा=पित्रा, कृताभ्यनुज्ञा=कृतानुमति सतीं, गौरी=पार्वती, पश्चात्=तपःसिद्ध्यनन्तरं, प्रजासु=जनेषु, तदाख्यया=तन्नाम्ना गौरी नाम्ना इत्यर्थः, प्रथितं=प्रख्यात—गोरीशिखरमतिप्रसिद्धमित्यर्थः, शिखण्डिमत्=मयूरयुक्तं, शिखरं=शृङ्गं, जगाम=ययौ ।

भाषा—तदनन्तर उसके अनुरूप निश्चय से सन्तुष्ट हुए पिता हिमालय द्वारा आज्ञा दी गई हुई पार्वती मोरों से युक्त (हिमालय) की एक चोटी पर गई जो कि बाद में जनता में उन्हीं के नाम की प्रसिद्धि को प्राप्त हुई ।

भावार्थ—पार्वती की सखी के द्वारा जब उनके पिता (हिमालय) को यह ज्ञात हुआ कि उनकी पुत्री की इच्छा शिव जैसे योगी पति को प्राप्त करने की है तब उन्होंने सन्तुष्ट होकर अपनी पुत्री को उसकी इच्छानुसार तप करने की अनुमति प्रदान कर दी। वे भी आज्ञा प्राप्त कर अपनी अभिष्ट सिद्धि की पूर्ति के लिये हिमालय पर्वत के एक ऐसे शिखर पर गईं कि जो बाद में उन्हीं के नाम से (गौरी शिखर नाम से) लोक में प्रसिद्ध हो गया।

व्याकरण—**अभिविनेशः** अधि + नि + विश् घञ्। **अनुरूप** = अनुरूप + अच्। **अनुरूपाभिनिवेशतोषिणा** = अनुरूपाभिनिवेश + तुष् + णिनि = अनुरूपाभिनिवेशतोषिन् (तृतीया में)। **गरीयसा** = गुरु + ईयसुन्। **कृता** = कृ + क्त + टाप्। **अभ्यनुज्ञा** = अभि + नुज् + ज्ञा + अङ्। **आख्या** = आ + ख्या + अङ्। **प्रथितम्** = प्रथ + णिच् + क्त। **शिखण्डिमत्** = शिखण्ड + इनि = शिखण्डि, शिखण्डिमत् = शिखण्डिन् + मतुप्। **जगाम** = गम् + लिट् (प्रथम पुरुष एकवचन)।

समास—**अनुरूपाभिनिवेशतोषिणा** = रूपं अनुगतः अनुरूपः, (प्रादि तत्पुरुष) अथवा अनुगतं रूपं यस्याः (यहाँ "प्रादिभ्यो धातुजस्य वहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः" वार्तिकसूत्र से बहुव्रीहि) अथवा रूपस्य योग्यं अनुरूपम् (अव्ययीभाव) तदस्ति अस्य इति अनुरूपः। अनुरूपः + अभिनिवेशः अनुरूपाभिनिवेशः (कर्मधारय) तेन तुष्यतीति, तेन। **गरीयसा** = अतिशयेन गुरु गरीयान् तेन गरीयसा। **कृताभ्यनुज्ञा** = कृता अभ्यनुज्ञा यस्य सा। **तदाख्यया** = तस्या (गौर्याः) आख्यया तदाख्यया। **शिखण्डिमत्** = प्रशस्ताः शिखण्डिनः सन्ति यस्मिंस्तत्।

टिप्पणियाँ—**अनुरूपाभिनिवेशतोषिणा** = योग्य आग्रह से संतुष्ट हुये। यह गुरुणा का विशेषण है। शिव सदृश असाधारण पति को प्राप्त करने के लिये तपस्या करना पार्वती का आग्रह था जो वस्तुतः उनके अनुरूप ही था। इसी कारण उसके पिता हिमालय उसके इस निश्चय से संतुष्ट भी थे। **गरीयसा**—अत्यन्त पूज्य गरीयस् शब्द के तृतीया विभक्ति का एकवचन का रूप है। **गुरुणा** = पिता से—"गुरुगीष्पति पित्राद्यौ" इत्यमरः। **कृताभ्यनुज्ञा** = दी जा चुकी थी अनुमति जिसको एसी (पार्वती)। **तदाख्यया** = उसी (पार्वती) के

नाम से। यहाँ करण में तृतीया विभक्ति हुई है। **प्रथितम्**=प्रसिद्ध। **शिखण्डिमम्**=मयूरों अथवा तपस्वियों से युक्त। शिखण्ड शब्द के यहाँ वर्ह (चोटी) और चूडा ये दो अर्थ होते हैं—"शिखण्डो वर्हचूडयोः" मेदिनीकोष। शिखण्ड शब्द के चोटी तथा जटा ये दो अर्थ होने के कारण शिखण्डिन् शब्द के भी ये दो अर्थ हो जाते हैं—(१) मोर (२) तपस्वी—"शिखण्डी मुनिभेदे स्यात् मयूरेऽपि च कथ्यते"। **शिखरम्**=चोटी को। शिखण्डिमत् शिखर का विशेषण है। वह शिखर जिसे पार्वती ने अपनी तपस्या के लिये चुना था, मोरों से युक्त था, उस स्थान पर हिंसक जन्तु नहीं रहा करते थे। अतः यह स्थल तपस्या की दृष्टि से उत्तम था। अथवा वह स्थल तपस्वीजनों से युक्त था—इस कारण पार्वती उस शिखर पर गई ॥७॥

....

प्रसङ्ग—अब आगामी ६ श्लोकों में पार्वती द्वारा किये गये तप के उपक्रम का वर्णन है। सर्वप्रथम वह तप के योग्य वल्कल वस्त्र को धारण करती है—

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया
विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्।
ववन्ध बालारुणबभ्रु वल्कल
पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥८॥

अन्वयः—अहार्यनिश्चया सा विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनं हारं विमुच्य बालारुणबभ्रु पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति वल्कलं बबन्ध ॥८॥

संस्कृत-व्याख्या—अहार्यनिश्चया=अनिवार्यनिर्णया, सा=पार्वती, विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्=चञ्चलप्रतिसरप्रमृष्टचन्दनम्, हारं=मुक्तावलीं, विमुच्य=विहाय, बालारुणवभ्रु=बालाऽर्कपिङ्गलं, पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति=स्तनोच्छायविघटिताऽवयवसंश्लेषं, वल्कल=कण्ठलम्बितस्तनोत्तरीयभूतं, ववन्ध=धारयामास। सा स्वशरीराच्छादनाय प्रातःकाले उदितं सूर्यमिव पिङ्गलवर्णं वल्कलं-वस्त्रं धृतवती। इत्यर्थः।

भाषा अटल निश्चय वाली उस पार्वती ने हिलती-डुलती हुई लड़ियों से (वक्षस्थल पर लगे हुये) चन्दन को पोंछने वाले हार को उतार कर, प्रातः-

कालीन सूर्य के सदृश रक्त-पीत, स्तनों की ऊँचाई से छिन्न अवयव वाली वृक्ष की छाल को धारण कर लिया ।

भावार्थ—तप करने के निमित्त अपने निश्चय पर अटल रहने वाली उस पार्वती ने अपने शरीर को सुशोभित करने वाले हार आदि आभूषणों का त्याग कर दिया तथा तप के योग्य वल्कल वस्त्रों को धारण कर लिया ।

अलङ्कार—यहाँ 'परिवृत्ति' नामक अलङ्कार है—लक्षण—"परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः" ।

व्याकरण—**अहार्यनिश्चया**=हार्य+हृ+ण्यत्, निश्चय—निस्+चि+अच् । **प्रविलुप्त**—प्र+वि+लुप्+क्त । **विमुच्य**=वि+मुच्+ल्यप् । **धरः**=धृ+अच् । **उत्सेध**=उत्+सिध्+घञ् । **विशीर्ण**=वि+शृ+क्त । **संहति**=सम्+हन्+क्तिन् ।

समास—**अहार्यनिश्चया**=हर्तुयोग्यः इति हार्यः, न हार्यः अहार्यः, अहार्यः निश्चयः सा (बहुव्रीहि) । **विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्**=विलोलाश्च ताः यष्टयः इति विलोलयष्टयः, ताभिः प्रविलुप्तं चन्दन येन तम् । **बालारुणबभ्रु**—बालः चासौ अरुणः बालारुणः (कर्मधारय) बालारुणः इव बभ्रु इति । **पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहिता**—धरतीति धरः, पयसः (दुग्धस्य) धरः पयोधरः, पयोधरयोः उत्सेधेन विशीर्णा संहतिः यस्य तत् (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियां—**अहार्यनिश्चया**=दृढ़ निश्चय वाली । यह 'सा' का विशेषण है । **विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्**=हिलती हुई लड़ियों से चन्दन को पोंछने वाले (प्रविलुप्त—पोंछने वाले) हार को । यह हारम् का विशेषण है । **बालारुणबभ्रु**=प्रातःकालीन सूर्य के सदृश लाल-पीला । **बालः**=नवोदित । **अरुणः**=सूर्य । **बभ्रु**=पिंगल । 'यह 'वल्कलम्' का विशेषण है । **पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति**=स्तनों की ऊँचाई से छिन्न अवयव वाली । **विशीर्ण**=विघटित, छिन्न-भिन्न । यह भी वल्कलम् का विशेषण । **वल्कलम्**=वृक्षों की छाल को । **बबन्ध**=धारण कर लिया, बाँध लिया । इस क्रिया का कर्त्ता 'सा' है ॥८॥

* * *

प्रसङ्ग—उसने तप के अनुरूप जटाओं को भी धारण किया—

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहै-
जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कज
सशैवल सङ्गमपि प्रकाशते ।।९।।

अन्वयः—तदाननं प्रसिद्धैः शिरोरुहैः यथा मधुरं (अभूत्), जटाभिः अपि एवं (मधुरं) अभूत् । पङ्कजं षट्पदश्रेणिभिः एव न प्रकाशते (किन्तु) सशैवला-सङ्गं अपि प्रकाशते ।।९।।

संस्कृत-व्याख्या—तदाननं = गौरीमुखं, प्रसिद्धैः = भूषितैः, शिरोरुहैः = मूर्धजैः, यथा = येनप्रकारेण, मधुरं = सुन्दरं, अभूत् = अभवत्, जटाभि अपि = सटाभिरपि, एवं = तेनैव प्रकारेण, मधुरं = सुन्दरं, अभूत् = अभवत् पङ्कजं = कमलं, षट्पदश्रेणिभिः = भ्रमरपंक्तिभिः, एव, न प्रकाशते = सुशोभितं भवति । पार्वती = मुखं यथा तपः कालात् पूर्वं चूर्णकुसुमाद्यलंकृतै केशैः मनोहरमासीत् तथैव तपैः कालेऽपि जटाभिर्मनोहर मासीत् । कमल केवलं भ्रमरपंक्तिभिरेव न शोभते अपितु शैवालसम्पर्कसंहितमपि तथैव सुशोभते इति भावः ।

भाषा—उसका (पार्वती का) मुख जिस प्रकार (पुष्पादि से) सजे हुए केशों से सुशोभित लगता था उसी प्रकार जटाओं से भी मनोहर प्रतीत होता था । कमल का पुष्प केवल भ्रमरों की पंक्तियों से ही सुशोभित नहीं हुआ करता है अपितु काई के साथ भी शोभायमान लगा करता है ।

भावार्थ—तपस्या का आचरण करने से पूर्व पार्वती के बाल जैसे पुष्पादि अलङ्करणों से सुसज्जित होने पर मनोहर लगा करते थे—जटाओं को धारण कर लेने पर भी उनके सौन्दर्य में कोई कमी नहीं आई थी क्योंकि उसका प्राकृतिक सौन्दर्य ही इतना, आकर्षक और मनोहर था कि उसे सजाने के लिए किसी वाह्य अलङ्कार के साधनों की आवश्यकता न थी । अतः पार्वती का सौन्दर्य उन जटाओं के धारण कर लेने से भी कुछ न कुछ वृद्धि को ही प्राप्त हो रहा था । वस्तुतः मनोहर आकृतियों के लिये कौन-सी वस्तु अलङ्कार नहीं

करती है ? (इसी भावना को कालिदास ने शकुन्तला के सौन्दर्य का वर्णन हुए "अभिज्ञानशाकुन्तल" में भी प्रदर्शित किया है—"किमिव हि मधुराणां नाकृतीनाम्" ।) जैसे कमल का फूल केवल भ्रमरों से ही सुशोभित नहीं करता है—अपितु सिवार से युक्त होने पर भी वह उतना ही मनोहर हुआ करता है ।

अलङ्कार—इस पद्य में 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है ।

व्याकरण—**प्रसिद्धैः**=प्र+सिध्+क्त । **शिरोरुहैः**=शिरस्+रुह्+क । =भू+लङ्—प्रथम पुरुष एकवचन । **पङ्कजम्**=पङ्क+जन्+ड् । ते=प्र+काश्+लट् (प्रथम पुरुष एकवचन) । **आसङ्ग**=आ+सञ्ज्+

समास—**तदाननम्**=तस्या आननम् (तत्पुरुष) । **शिरोरुहैः**=शिरसि त इति शिरोरुहाः तैः । **पङ्कजम्**=पङ्के पङ्कात वा जायते इति । **षट्पद**भिः=षट् पदानि येषां ते षट्पदाः (बहुव्रीहि) भ्रमराः । तेषां श्रेणिभिः—कपुष्पलिट्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः" इत्यमरः । **सशैवलासङ्गम्**=शैवलानां ङ्गः शैवलासङ्गः तेन सह वर्त्तमानं सशैवलासङ्गम् । यहाँ "तेन सहेति तुल्य-सूत्र के अनुसार बहुव्रीहि समास होता है । सह के स्थान में 'स' हो है ।

टिप्पणियाँ—**तदाननम्**—उसका मुंह । **प्रसिद्धः**—सुसज्जित, अलङ्कृत । रोरुहैः का विशेषण है । **शिरोरुहैः**—बालों से । **जटाभिः**—जटाओं से । केशों को काटा छांटा नहीं जाता तथा जो स्वाभाविक रूप से बढ़ते रहा हैं और जिनको पुष्पादि के द्वारा सजाया नहीं जाता उन्हीं का नाम जटा स्तुतः पार्वती का स्वाभाविक सौन्दर्य जटाओं को धारण कर लेने पर भी ही बना रहा क्योंकि मनोहर आकृतियों के लिये सभी वस्तुयें अलङ्कार या करती हैं । **षट्पदश्रेणिभिः**—भ्रमर समूह से । **प्रकाशते**—चमकता **शैवलासङ्गम्**—सिवार अथवा काई के साथ भी । **आसङ्ग**—साहचर्य, न षट्पदश्रेणिभिरेव प्रकाशते—यह कालिदास की प्रसिद्ध सूक्ति है । इस के भाव को प्रदर्शित करने वाली इनके कुछ अन्य ग्रन्थों में भी सूक्तियाँ ी हैं—"किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्"—(अभिज्ञान० १/२०),

"अहो सर्वास्ववस्थास्वनवद्यता रूपस्य" (मालविकाग्निमित्र), "सर्वास्ववस्थासुरमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्" (शाकुन्तल-अङ्क-६)। कवियों की रचनाओं में भी "न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्" (किराता ४/२१), 'रम्याणां विकृतिरपि प्रियं तनोति" (किरात० ७/५), "सर्वशो सुन्दरं नाम" (प्रतिमानाटक—१), "सर्वमलङ्कारो भवति सुरूपाणाम्" मारक २), "स्वभावसुन्दरं वस्तु न संस्कारमपेक्षते (दृष्टान्तशतक—४९)

◆

प्रसङ्ग—तपस्या-व्रत के लिये मूंज की मेखला का धारण कर परमावश्यक होता है। अतः पार्वती ने उसे भी बाँध लिया—

प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां
व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम्।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया
सरागमस्या रसनागुणास्पदम् ॥१०॥

अन्वयः—सा प्रतिक्षणं कृतरोमविक्रियां त्रिगुणां यां मौञ्जीं व्रताय तत्पूर्वनिबद्धया तया अस्याः रसनागुणास्पदं सरागं अकारि ॥१०॥

संस्कृत-व्याख्या—सा = पार्वती, प्रतिक्षणं = क्षणे-क्षणे, कृतरोमविक्रि पारुष्यात् कृतरोमाञ्चां, त्रिगुणां - त्रिरावृत्तां, यां मौञ्जीं = मुञ्जा मेखलां, व्रताय तपसे, बभार = दधौ, तत्पूर्वनिबद्धया = तत्प्रथमबद्धया = मौञ्जया, अस्याः = पार्वत्याः, रसनागुणास्पदं = मेखलासूत्रस्थानं मित्यर्थः, सरागं सलोहितं, अकारि = कृतम्। स्वजीवनकाले पार्वती वारमेव इमां मेखलामधारयत् अतः अनभ्यासवशात् संघर्षणेन तस्या जघन वर्णं जातमिति भावः।

भाषा—उस पार्वती ने प्रतिक्षण रोमाञ्च उत्पन्न करने वाली, तीन की मूंज की बनी जिस मेखला को अपने तप के निमित्त धारण किया, वार धारण की गई उस (मेखला) ने मेखला बाँधने के स्थान (कमर) को कर दिया।

ावार्थ—पार्वती ने जब तपस्या का व्रत आरम्भ कर दिया तो उसके ह भी आवश्यक हो गया कि वह तप के योग्य सभी साधनों को अपनाये। सने करधनी के स्थान पर तीन लड़ की मूंज की बनी मेखला को कमर लिया। उसने अपने जीवन में इसको प्रथम बार धारण किया था अतः कर्कशता के कारण उसके शरीर में रोमाञ्च भी उत्पन्न हो जाता था रिणामस्वरूप उसकी कमर में जहाँ पर मेखला बंधी हुई थी, वह स्थान र्ण का हो गया था।

लङ्कार—उक्त पद्य में 'परिवृत्ति' नामक अलङ्कार ध्वनित होता है।

याकरण—**मौञ्जीं**—मुञ्ज् + अण् + ङीप्। **बभार** = भृञ् + लिट्—ु० एकवचन) नि + बन्ध् + क्त। **अकारि** = कर्मवाच्य में कृ धातु के लुङ् के प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है।

मास—**प्रतिक्षणं**—क्षणे-क्षणं इति प्रतिक्षणं यहाँ वीप्सा अर्थ में अव्ययी- है। किसी वस्तु के दोहराने का नाम ही 'वीप्सा' है। **कृतरोमविक्रियाम्** = विक्रिया रोमविक्रिया, कृता रोमक्रिया, यया सा ताम्। **त्रिगुणाम्** = णाः यस्याः सा ताम् (बहुव्रीहि)। **तत्पूर्वनिबद्धया** = तदेव पूर्वं (प्रथमं) कर्मणि तत् तत्पूर्वम्, तत्पूर्वं यथास्यात्तथा निबद्धा तया-अथवा-तदेव पूर्वं यस्या सा तया। **रसनागुणास्पदम्** = रसनायाः गुणः रसनागुणः आस्पदम् रसनागुणास्पदम्। **सरागम्** = रागेण सहितं सरागम् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**व्रताय** = तपस्या करने के निमित्त। यहाँ 'क्रियार्थोपपदस्य णि स्थानिनः' से चतुर्थी विभक्ति होती है। **प्रतिक्षणम्** = प्रत्येक क्षण। **विक्रियाम्** = रोमाञ्च उत्पन्न करने वाली। यह 'मौञ्जी' का विशेषण खला अत्यधिक कठोर होने के कारण रोमाञ्च उत्पन्न कर रही थी। **म्** = तीन लड़ की। गुण = रस्सी, आवृत्ति लड़। यह भी 'मौञ्जी' का ण है। **मौञ्जीं** = मूंज से बनी हुई। यह बभार क्रिया का कर्म है। यहाँ ी डोरी से बनी हुई तीन लड़ की करधनी के सदृश होती है—इसी का ूंज की मेखला है। **बभार** = धारण किया, पहन लिया। **तत्पूर्वनिबद्धया** जीवन में प्रथम बार ही बाँधी गई थी—यह 'तया' का विशेषण है जो के लिये प्रयुक्त हुआ है। **रसनागुणास्पदम्** = मेखला (करधनी) बाँधने

का स्थान अर्थात् कमर को। रसना=मेखला, करधनी। गुण=डोरी। आ =स्थान। सरागम्=लाल, रक्तवर्ण का। अकारि=कर दिया ॥१०॥

* * *

प्रसङ्ग—पार्वती ने तपस्या के अंगभूत कुशों का स्वयं लाना तथा अक्ष को धारण करना भी स्वीकार कर लिया—

विसृष्टरागादधरान्निवर्त्तितः
स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात्।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः
कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥११॥

अन्वयः—तया विसृष्टरागात् अधरात् स्तनाङ्गरागारुणितात् कन्दु निर्वातितः करः कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः अक्षसूत्रप्रणयी कृतः ॥११

संस्कृत-व्याख्या—तया=देव्या, पार्वत्या, विसृष्टरागात्=त्यक्तल रञ्जानात्, अधरात्=अधरोष्ठात्, स्तनाङ्गरागारुणितात्=कुचाङ्गराग पतनसमये तस्य स्तनयोरुपरोधादित्यर्थः, कन्दुकात् च=भाषायां "गें नाम्नाख्यातात्, निर्वाततः=निवारितः, कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्ग दर्भाङ्कुरग्रहणव्रणिताङ्गुलिः, करः=हस्तः, अक्षसूत्रप्रणयी=अक्षमाला कृतः=विहितः। पार्वती स्वतपः काले निजकरमधररञ्जनकन्दुक रूपात् कार्यद्वयात् निवार्य कुशाङ्कुरादानाक्षमालापरिवर्त्तनरूपकार्यद्वयम भावः।

भाषा—उस पार्वती ने, छोड़ दिया है रंगना जिसका ऐसे ओष्ठ से तथा स्तन के अंग लेप से लाल हुई गेंद के खेलने से निवृत्त हुए अ को कुशों के अंकुरों के काटने से घायल अंगुलियों वाला तथा रुद्राक्ष से प्रेम करने वाला बना लिया।

भावार्थ—जिन हाथों का उपयोग पार्वती पहले अपने अधरोष्ठ क करने तथा गेंद खेलने में किया करती थी, अब तपस्या का व्रत ले उसने अपने उन्हीं हाथों का उपयोग कुशों के अग्रभागों को तोड़कर ल रुद्राक्षमाला का जप करने में, करना प्रारम्भ कर दिया।

अलङ्कार—इस पद्य में ‘पर्याय’ नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—**विसृष्ट**=वि+सृज्+क्त। **राग**=रञ्ज्+घञ्। **अरुणितात्**
रुण+इतच्। **निर्वर्तित:**=नि+वृत+णिच्+क्त (कर्म में)। **आदान**=
+दा+ल्युट्। **प्रणयी**=प्र+णी+अच भावे—**प्रणय:**=प्रणय+इति
र्थीय)।

समास—**विसृष्टरागात्**=विसृष्ट: राग: यस्मात् (वहुव्रीहि)। **स्तनाङ्ग-
रुणितात्**=स्तनयो: अङ्गराग: स्तनाङ्गराग: तेन अरुणित: स्तनाङ्गरागारु-
: तस्मात्। **कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलि**=कुशानां अंकुरा: कुशाङ्गुरा:,
आदानं तेन परिक्षता: अङ्गुलय: यस्य स: (वहुव्रीहि)। **अक्षसूत्रप्रणयी**=
णां सूत्रं अक्षसूत्रम् अक्षसूत्रे प्रणयी अक्षसूत्रप्रणयी।

टिप्पणियाँ—**विसृष्टरागात्**=लाक्षारस द्वारा जिसका रंगना छोड़ दिया
है ऐसा—यह अधरात् का विशेषण है। तपस्या का व्रत लेने के पश्चात्
ती ने अधरोष्ठ का रंगना छोड़ दिया था। **अधरात्**=नीचे के होठ से,
अधर शब्द का लक्षणा शक्ति द्वारा अधर-रंजन अर्थ होता है। यहाँ
ुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्” वार्तिक से अपादान में पंचमी विभक्ति
है। **स्तनाङ्गरागारुणितात्**=स्तनों पर लगे हुए अंगराग (उवटन) से लाल
ंगराग: विलेपनम्—शरीर में लगने वाला लेप अर्थात् उवटन। **अरुणितात्**
लाल किये हुए अथवा लालिमा से खेलने के समय उछलती हुई गेंद पार्वती
तनों का स्पर्श किया करती थी। अतः स्तनों में लगे हुए अंगराग से गेंद
रंग की हो जाया करती थी। **कन्दुकात्**=गेंद से—अधर को रंगने के
ा पार्वती ने गेंद खेलना त्याग दिया। **निर्वर्तित:**=निवृत्त हुआ। यह
:’ का विशेषण है। **कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुली**=कुश के ऊपरी भागों
काटने से घायल अंगुलियों वाला, यह हाथ का विशेषण है। **परिक्षत**=
ल। कुश का प्रयोग पूजन तथा यज्ञादि कार्यों में किया जाया करता है।
सूत्रप्रणयी=रुद्राक्षों से बनी हुई माला से प्रेम करने वाला। यह भी हाथ
विशेषण है। **प्रणय**=प्रेम, **प्रणयी**=प्रेमी। **अक्षसूत्रम्**=वस्तुत: पार्वती ने
र का रंगना तथा गेंद का खेलना इन दो कार्यों को त्यागकर उसके स्थान
कुशों का लाना तथा रुद्राक्ष माला का जाप करना इन दो कार्यों को स्वीकार
लिया था ॥११॥

……

प्रसङ्ग—इसके साथ ही साथ उसने व्रत के अङ्गभूत भूमि-शयन स्वीकार कर लिया था—

महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः
स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी
निषेदुषी स्थण्डिले एव केवलम् ॥१२॥

अन्वयः—महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैः अपि या दूयते बाहुलतोपधायिनी (सति) केवलं स्थण्डिले एव निषेदुषी अशेत (च) ॥

संस्कृत-व्याख्या—महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः = बहुमूल्यशयनीयलुण स्वकेशपुष्पैः = स्वकीयकुन्तलकुसुमैः, अपि, या = पार्वती, दूयते स्म = कष्टं अनुभवति स्म, पुष्पाधिकसुकुमारत्वादित्यर्थः, सा = पार्वती, बाहु यिनी = भुजलतोपबर्हकारिणी सती, केवले = संस्तरणरहिते, स्थण्डिले भूतले एव, दिवा, निषेदुषी = उपविष्टा सती, रात्रौ अशेत = शयितव कोमलाङ्गी सा पार्वती बहुमूल्ये आस्तरणे शयनं कुर्वाणा यदा लुण्ठन स्म तदा लुण्ठनेन तस्याः केशेभ्यः शय्यायां पुष्पाणि पतन्ति स्म । पति पुष्पैः सा अतिकष्टं अनुभवति स्म यतः तस्याः शरीरं कुसुमादपि कोम सैव पार्वती इदानीं तपोऽनुष्ठानसमये नग्नभूतले एव शयनमकरोत् उपधानमपि त्यक्तम् । तस्य स्थाने तया केवलं स्वभुजयोरेव उपयोगं कृ भावः ।

भाषा—बहुमूल्य सेज पर करवट लेते समय अपने बालों में लगे गिरने से जो पार्वती अत्यधिक कष्ट का अनुभव किया करती थी वही अब अपनी बाहुरूपी लता का तकिया लगाकर बिना विस्तर (नग्न) वा पर दिन के समय बैठती तथा रात्रि के समय शयन किया करती थी ।

भावार्थ—व्रत लेने से पूर्व पार्वती अपने पितृगृह में अत्यधिक विस्तर से युक्त बहुमूल्य पलङ्ग पर शयन किया करती थी । सोने में करवट बदला करती थी तो उस समय उसके बालों से कुछ फूल उसकी पर गिर जाते थे—पुष्पों की भी अपेक्षा अत्यधिक कोमल शरीर वा

ारण वे गिरे हुए फूल भी उसके शरीर में चुभा करते थे। ऐसी सुकोमल र वाली वह पार्वती तपस्या का व्रत ले लेने के अनन्तर अब बिस्तर त नग्न भूमि पर रात्रि के समय शयन किया करती थी तथा दिन के समय करती थी। तकिये के स्थान पर उसकी दोनों भुजायें ही तकिये का किया करती थीं। वस्तुतः तपस्या का कार्य महान कष्टप्रद हुआ ही ता था।

व्याकरण—शय्या=शीङ्+क्यप्। **परिवर्त्तन**=परि+वृत्+ल्युट्। त=च्यु+क्त। दूयते=दूङ्+लट् (प्रथम पु० ए० न०)। **धायिना**=धा णिनि+ङीप्। उपधान=उप+धा+ल्युट्। **अशेत**=शी+लङ् (प्रथम ष एकवचन का रूप)। **निषेदुषी**=नि+सद्+क्वसुः+ङीप्। यहाँ ाषायां सद्वसश्रुवः" सूत्र से क्वसु प्रत्यय और तदनन्तर "उमितश्च" से प् प्रत्यय होता है। यह भूतकालिक क्रिया है।

समास—**महार्हशय्या—परिवर्त्तनच्युतैः**—महार्हायां शय्यायां परिवर्त्तनैः तानि (तत्पुरुष) तैः। स्वकेशपुष्पैः=स्वस्याः केशानां पुष्पैः। बाहुलतोपधा- नी बाहुरेव लता इति बाहुलता तां उपधत्ते इति बाहुलतोपधायिनी।

टिप्पणियाँ—**महार्हशय्या=परिवर्त्तनच्युतैः**—अत्यधिक मूल्य वाली शय्या र करवट बदलने से गिरे हुये। **महार्ह**=अत्यधिक मूल्य वाली (महान् अर्हः स्याः सा)। **शय्या**=विस्तर (शय्यते अत्र इति)। **परिवर्त्तन**=बदलना। युतैः=गिरे हुये। **स्वकेशपुष्पैः**=अपने वालों में लगे हुये फूलों से। **दूयतेस्म**=कष्ट प्राप्त करती थी। इसका कर्त्ता "या" **बाहुलतोपधायिनी**=लता के श सुकोमल अपनी भुजाओं का तकिया लगाने वाली। **उपधान**=तकिया। विले=बिछोने से रहित। **स्थण्डिले**=चबूतरा अथवा साफ की गई हुई भूमि स्थण्डिलं संस्कृता भूमिः". (हलायुध)। **अशेत**=सोती थी या सोया करती ी। इसका 'सा' है। **निषेदुषी**=वैठती थी ॥१२॥

प्रसङ्ग—इस भाँति पार्वती के सभी स्वाभाविक विलासों का वि
गया था—

पुनर्ग्रहीतं नियमस्थया तया
द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं
विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥१३॥

अन्वयः—नियमस्थया तया विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं च इति द्वयं लतासु हरिणाङ्गनासु च इति द्वये अपि पुनः ग्रहीतुं निक्षेपः अर्पितं इव।

संस्कृत-व्याख्या—नियमस्थया = व्रतस्थया, तया = पार्वत्या, विलास = विभ्रमचेष्टितं, विलोलदृष्टं च = चञ्चलावलोकितं च, इति द्वयं = इति तन्वीषु = कृशा वयवासु लतासु = वल्लीषु, हरिणाङ्गनासु च = मृगीषु द्वये अपि - उभयत्र अपि, पुनः भूयः, ग्रहीतुं - स्वीकर्तुं, निक्षेपः = अर्पितम् = दत्तम् इव, पार्वती स्वहावभावादिकं सूक्ष्मासु लतासु चंचल च मृगीषु न्यक्षिपत् । स्वकीयं तपः समाप्य सा एतत् सर्वं पुनः स्वकरिष्यतं भावः ।

भाषा—तपस्या के नियमों के पालन में संलग्न (उस) पार्वती ने हावभाव आदि विलासों तथा चञ्चल दृष्टि इन दोनों को (क्रमशः) लताओं और हरिणियों इन दोनों के पास पुनः (तपस्यासमाप्ति पर) लेने के लिये धरोहर के रूप में रख दिया ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने धन को किसी दूसरे अमानत के रूप में रख दिया करता है और समय पड़ने पर पुनः उसे ले लिया करता है उसी प्रकार पार्वती ने भी अपने हावभाव आदि को सुकोमल लताओं के समीप तथा अपनी चञ्चल दृष्टि को हरिणियों के (तपस्या-समाप्ति के पश्चात् पुनः वापिस ले लेने के लिये) अमानत के रख दिया था ।

अलङ्कार—उक्त पद्य में 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है । तप करते समय का शरीर निश्चल तथा दृष्टि स्थिर थी । अतएव कवि उत्प्रेक्षा करता मानो पार्वती ने अपनी विलास की चेष्टा लताओं के समीप तथा चंचल हरिणियों के समीप धरोधर के रूप में रख दी थीं ।

व्याकरण—नियमस्थया=नियम+स्था+कः (कर्तरि) स्त्रीलिंग में। **चेष्टितम्**=चेष्ट+क्त। नपुंसकलिंग में चेष्टितम्। **दृष्टम्**=दृश्+क्तः। **द्वयम्**=द्वि+अयच्। दौ अवयवौ अस्य इति द्वयम्—यहाँ "द्वित्रिभ्यां तपस्या यज्वा" से 'तय' के स्थान पर विकल्प करके 'अयच्' हो जाता है जहाँ अयच् नहीं होता है वहाँ 'द्वितय' रूप ही बनता है। इसी भाँति त्रि से त्रय और त्रितय दोनों रूप बनते हैं। **तन्वीषु**='तनु' से "वोतो गुणवचनात्" सूत्र से पाक्षिक 'ङीप्' होता है। **अङ्गना**=अंग+न+(स्त्रीलिंग)। **ग्रहीतुम्**=ग्रह+तुम्। **निक्षेप**=नि+क्षिप्+घञ्। **अर्पितम्**=ऋ+णिच्+क्त (कर्म में)।

समास—नियमस्थया=नियमे तिष्ठतीति नियमस्था तया। **विलासचेष्टितम्**=विलासः एव चेष्टितम् (कर्मधारय)। विलासस्य चेष्टितम् (षष्ठी तत्पुरुष)। अथवा विलासजन्य चेष्टितम् (शाकपार्थिवादि तत्पुरुष)। **विलोलदृष्टम्**=विलोलं चंचलं दृष्टम्=विलोलदृष्टम् (कर्मधारय)। **द्वयम्**=द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयम्। **हरिणाङ्गनासु**=प्रशस्तं अंगं अस्ति अस्याः इति अंगना, हरिणानां अंगनाः तासु।

टिप्पणियाँ—नियमस्थया=तपस्या सम्बन्धी नियमों का पालन करने वाली। यह तया का विशेषण है। **विलासचेष्टितम्**=विलास (हावभाव, नाज नखरे) की चेष्टाओं को। "यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्। विशेषस्तु बिलासः स्यादिष्टदर्शनादिना ॥ साहित्यदर्पण ॥ **विलोलदृष्टिम्**=चञ्चल दृष्टि को। **द्वयम्**=दोनों। **तन्वीषु**=कृश–पतली (सुकोमल)। यह लतासु का विशेषण है। **हरिणाङ्गनासु** · हरिणियों में। **द्वये** · दो में। **ग्रहीतुम्**=ग्रहण अथवा स्वीकार करने के लिये (पुनः वापस प्राप्त कर लेने के लिये)। **निक्षेप**=धरोहर, अमानत, थाती (निक्षिप्यते असौ इति निक्षेपः)। **इव**=मानो—यह उत्प्रेक्षावाचक अव्यय है। **अर्पितम्**=रक्खा गया, (रख दिया) ॥७३॥

प्रसङ्ग—पार्वती ने अपने तपस्या काल में मुनियों जैसी वृत्ति को धार कर लिया था। अतएव वह—

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्
घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां
न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥१४॥

अन्वयः—अतन्द्रिता स घटस्तनप्रस्रवणैः वृक्षकान् स्वयमेव व्यवर्धयत्। गु अपि प्रथमाप्तजन्मनां येषां पुत्रवात्सल्यं न अपाकरिष्यति ॥१४॥

संस्कृत-व्याख्या—अतन्द्रिता = आलस्यविहीना, सा = पार्वती, घटस्तनप्र वणैः = घटी एव स्तनौ तयोः प्रस्रवणैः = कलशकुचप्रसृतपयोभिः, वृक्षकान् = स्वल्पवृक्षान्, स्वयमेव = आत्मना एव, व्यवर्धयत् = वर्धयामास। गुहः अपि कुमारोऽपि, प्रथमाप्तजन्मनाम् पूर्वलब्धजन्मनां—अग्रजातानामित्यर्थः, येषां वृक्षकाणां, पुत्रवात्सल्यं = सुतप्रेम, न अपाकरिष्यति = न दूरीकरिष्यति। ये प्रकारेण माता स्वसुतं स्वदुग्धं पाययित्वा संवर्धयति तथैव सा (पार्वती) तपोव स्थान् लघून् पादपान् स्वयमानीतेन घटजलेन असिञ्चत्। तेषु तस्याः एताव स्नेहः आसीत् यत् पश्चाद्भाविनि कुमारे अपि तादृशः स्नेहः नासीदिति भावः

भाषा—आलस्यरहित वह (पार्वती) घड़े रूपी स्तनों के जल से छोटे-छ वृक्षों को स्वयं ही वर्द्धित किया करती थी। (जन्म लेने पर) कार्तिकेय (कुमा भी (अपने से) पूर्व जन्म ग्रहण करने वाले उन वृक्षों के ऊपर (विद्यमान् पार्व के) प्रेम को दूर न कर सकेगा।

भावार्थ—पार्वती की तपश्चर्या में आलस्य तो छू तक नहीं गया था उन्होंने जिन वृक्षों को स्वयं लगाया था उनका सिञ्चन आदि पुत्रवत् स के साथ उनका संवर्द्धन (पालन-पोषण) भी नियमित रूप से वह किया कर थी। जैसे माता अपने दूध को पिलाकर अपने पुत्र का पालन-पोषण त संवर्द्धन किया करती है उसी भाँति पार्वती ने उन स्वयं लगाये हुए वृक्षों संवर्द्धन किया था—वह स्वयं घड़ों में जल ला लाकर उनका सिञ्चन आ किया करतीं थी। उसका वृक्षों के प्रति ऐसा स्वाभाविक स्नेह था कि वै स्नेह उसका अपने भावी पुत्र कुमार के प्रति भी न रहा होगा। तात्पर्य यह

कि उन वृक्षों के प्रति अपने स्वाभाविक प्रेम को अपने जीवन में कभी भी न भुला सकेगी।

अलङ्कार—इस पद में 'विरोध' नामक अलङ्कार है। कुछ विद्वानों ने इसमें 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार भी माना है।

व्याकरण—**अतन्द्रिता** तन्द्रा + इतच्। यहाँ 'तदस्य संजातं तारकादिभ्यः इतच्' से तन्द्रा शब्द में 'इतच्' प्रत्यय जुड़ा है। **वृक्षकान्**=ह्रस्वाः वृक्षाः वृक्षकाः तान्। यहाँ "ह्रस्वे" सूत्र से "कन्" प्रत्यय होता है। **प्रस्रवणैः**=प्र + स्रु + ल्युट्। **व्यवर्धयत्**=वि + वृध + णिच् + लङ्। **आप्त**=आप् + क्त। **वात्सल्य**=वत्सल + ष्यञ्। **अपाकरिष्यति**=अप् + आ + कृ + लृट्।

समास—**अतन्द्रिता** तन्द्रासंजाता अस्याः इति तन्द्रिता, न तन्द्रिता अतन्द्रिता (नञ तत्पुरुष)। **घटस्तनप्रस्रवणैः** घटौ स्तनौ इव (उपमित कर्मधारय) घटस्तनौ तयोः प्रस्रवणैः (षष्ठी तत्पुरुष)। **प्रथमाप्तजन्मनां**=प्रथमं आप्तं जन्म यैः ते—तेषाम् (बहुव्रीहि)। **पुत्रवात्सल्यम्**=वत्सलस्य भावः वात्सल्यम् (प्रेम), पुत्रस्य वात्सल्यम् इति (षष्ठी तत्पुरुष) अथवा पुत्रोचितं वात्सल्यम् (मध्यमपदलोपी समास)।

टिप्पणियाँ—**अतन्द्रिता**=आलस्यविहीन होकर। यह 'सा' का विशेषण है। **वृक्षकान्**=छोटे-छोटे पेड़ों को। **घटस्तनप्रस्रवणैः**=घड़े रूपी स्तनों के पानी से। **प्रस्रवण**=झरना, वहना। **स्वयमेव**=अपने आप ही, स्वयं ही। इसका सम्बन्ध 'व्यवर्धयत्' क्रिया के साथ है किन्तु टीकाकार मल्लिनाथ ने 'अतन्द्रिता' के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। **व्यवर्धयत्**=बढ़ाया, पालन-पोषण किया। **गुहः**=कार्तिकेय। शिवजी के दो पुत्र थे। (१) गजानन (२) षडानन। षडानन के ही अन्य नाम कार्तिकेय और गुह भी हैं। देवताओं की सेना के यह सेनापति थे—गूहति देवसेना इति गुहः। इसके अतिरिक्त गुफा में निवास करने के कारण भी इसका नाम गुह पड़ा था—"स्कन्दत्वात् स्कन्दतां प्राप्तो गुहावासाद् गुहोऽभवत्।" **प्रथमाप्तजन्मनाम्**=अपने से (कुमार से) पहले जन्म लेने वाले। शंकर से पार्वती का विवाह हो जाने के अनन्तर गुह की उत्पत्ति हुई थी। शिवजी को पति के रूप में प्राप्त करने हेतु पार्वती ने जो कठोर तपस्या की थी और उस तपस्या-काल में उन्होंने जिन वृक्षों का आरोपण कर पुनः

उनको सींच-सींच कर बड़ा किया था वे उनके लिए पुत्रवत् थे। अतः गुह की उत्पत्ति से पूर्व इन पुत्रवत् संवर्द्धित वृक्षों का जन्म पहले हो चुका था। पुत्र-वात्सल्यम् = पुत्र-प्रेम को। अपाकरिष्यति = दूर करेगा ॥१४॥

* * *

प्रसङ्ग—वनवासिनी पार्वती सभी वन्य प्राणियों के प्रति अपने हृदय मे अपार दया का भाव रखती थी। अतएव हरिणों की वे पूर्ण विश्वासपात्र बन गई थीं—

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिता-
स्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैनयनैः कुतूहलात्
पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥१५॥

अन्वयः—अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः हरिणाः च तस्यां तथा विशश्वसु यथा कुतूहलात् तदीयैः नयनैः लोचने सखीनां पुरः अमिमीत ॥१५॥

संस्कृत-व्याख्या—अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः = अरण्यबीजानां बनबी जानः नीवारादीनां अञ्जलयः तेषां दानेन लालिताः पोषिताः, हरिणाः च मृगाश्च, तस्यां = पार्वत्यां, तथा = तेन प्रकारेण, विशश्वसुः = विश्वासं जग्मु यथा = येन प्रकारेण, कुतूहलात् = औत्सुक्यात्, तदीयैः = हरिणसम्बन्धिभि नयनैः = नेत्रैः, करणैः, लोचने = नयने—स्वकीये इति शेषः, सखीनां = व स्यानां, पुरः = पुरतः, अमिमीत = मानं चकार। पार्वती मृगाणां अनन्यं विश्वा आत्मीयतां च अवलोक्य औत्सुक्येन अग्रे उपस्थितानां सखीनां नयते तेषां नें सह माति स्म इति भावः।

भाषा—नीवार आदि जंगली दानों की मुट्ठियों के देने से पाले-पोसे ग हिरण उस (पार्वती) में इतना विश्वास करते थे कि वह उत्सुकता-वश अपने सखियों की उपस्थिति में ही उनकी आँखों के साथ अपनी आँखों को नाप करती थी। अथवा—उनके नेत्रों से सखियों के नेत्रों को सामने ही नाप करती थी।

भावार्थ—अपने हाथों द्वारा घास, नीवार आदि के कणों को खिलाने कारण पार्वती उन हरिणों की इतनी अधिक परिचित तथा विश्वासपात्र बन ग

थी कि बालिका-सुलभ चापल्य के कारण वह जब कभी अपनी सखियों के सामने हिरणी को पकड़ कर यह परखा करती थी कि उनके तथा हरिणों के नेत्रों में क्या अन्तर है ? ऐसा करने पर भी वे हिरण उसके समीप से भाग नहीं जाते थे । विश्वास की चरम सीमा देखिये कि पार्वती उन हरिणों की आँखों को पकड़ती थी तब भी वे घबराते नहीं थे ।

व्याकरण—लालिता, लल् + णिच् (चुरादि) + क्त । **विशश्वसुः**= श्वस् + लिट् । **तदीयैः** – तद् + छ (यहाँ 'छ' के स्थान पर ईय हो जाता है ।) **अमिमीत**=माङ् (जुहोत्यादिगणी) धातु के लङ् लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन का रूप है ।

समास—अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः—अरण्यबीजानां अञ्जलयः अरण्यबीजाञ्जलयः तेषां दानं तेन लालिताः (तत्पुरुष समास) । पुरः—पूर्वस्मिन् स्थाने इति पुरः । तदीयैः—तेषां इमानि तैः ।

टिप्पणियाँ—**अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः**=जंगल में उत्पन्न नीवारादि अन्नों से भरी मुट्ठियों के देने से पालित । **अरण्यबीज**=वन में अपने आप उगने वाले नीवार आदि अन्न के दाने । **विशश्वसुः**= विश्वास करते थे । इसका कर्त्ता 'हरिणा' है । **कुतूहलात्**=उत्सुकतावश, 'रम्यवस्तु समालोके लोलता स्यात् कुतूहलम्'' **तदीयैः**=उनसे (मृगों के) सम्बन्धित अथवा मृगों से । यहाँ 'सह' शब्द के योग के कारण—तृतीया विभक्ति हुई है । **नेत्रैः**=आँखों से । **लोचनैः**=आँखों को । **पुरः**=सामने, समक्ष । यह अव्यय है तथा इसका सम्बन्ध 'अमिमीत क्रिया से है । **अमिमीत**=नापती थी ।।१५।।

◆

प्रसङ्ग—अब उसका आचरण ऐसा अनुकरणीय और आकर्षक बन गया था कि अन्य मुनि लोग भी उसके दर्शनों को आने लगे—

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं
त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम् ।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागम—
न्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ।।१६।।

अन्वयः—कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवती अधीतिनीं तां दिदृक्षवः ऋषयः अभ्युपागमन् । धर्मवृद्धेषु वयः न समीक्ष्यते ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या—कृताऽभिषेकां = कृतस्नानां हुतजातवेदसं = हुताग्निकां कृतहोमामित्यर्थः, त्वगुत्तरासङ्गवतीं = वल्कलोत्तरीयवतीं, अधीतिनीं = स्तुति-पाठादिकुर्वन्ती, तां = पार्वती, दिदृक्षवः द्रष्टुं इच्छवः, ऋषयः = मुनयः अभ्युपागमन् = समुपागताः । धर्मवृद्धेषु तपो गरिष्ठेषु, वयः = वाल्यादिकं, न समीक्ष्यते = निरूप्यते । वस्तुतः धर्मवतः सम्मानं तस्य वयसा न भवति, तस्य धर्मेण एव भवति । अतः अल्पवयस्का अपि पार्वती मुनीनां कृते पूज्या अभवतः इति भावः ।

भाषा—त्रिकाल (दिन में तीन बार) स्नान करने वाली, अग्निहोत्र हवन करने वाली, वृक्ष की छाल से निर्मित वल्कल वस्त्रों की धारण करने वाली तथा वेद-पाठ करने वाली उस पार्वती के समीप उसके दर्शनों के अभिलाषी मुनिलोग आया करते थे । धर्म में अग्रगण्य लोगों की आयु नहीं देखी जाया करती है ।

भावार्थ—तपश्चरण में प्रवृत्त पार्वती प्रतिदिन नियम से तीन बार स्नान तथा अग्निहोत्र किया करती थीं । वे वल्कल-वस्त्र पहिनती तथा नित्य वेद-पाठ किया करती थीं । निरन्तर इन नियमों का पालन करते रहने के कारण वे धर्म में ही अग्रणी हो गईं । परिणामस्वरूप अनेक तपस्वी मुनिजन उनके दर्शनार्थ आने लगे । यद्यपि पार्वती अल्पव्यस्का थीं किन्तु उनके समीप उनकी आयु की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े मुनि लोग आया करते थे । अतः महाकवि कालिदास कहते हैं कि जो व्यक्ति धर्मवृद्ध हुआ करता है उसकी आयु की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है । वृद्धत्व चार प्रकार का माना गया है—वैराग्यवृद्धत्व, ज्ञानवृद्धत्व, धर्मवृद्धत्व और वयोवृद्धत्व । इनमें प्रथम तीन प्रकार का वृद्धत्व चतुर्थ प्रकार के वृद्धत्व की उपेक्षा नहीं किया करता है जैसा कि महाराज मनु ने कहा—

"न तेन वृद्धो भवति येनास्यपलितं शिरः ।
यो वै युवाऽप्य धीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥"

व्याकरण—कृताभिषेकाम् = कृत—कृ + क्त, अभिषेक—अभि सिच् +

घञ् । **हुतजातवेदसम्** = हुत—हु + क्त । जातवेद—जात + विद् + असुन् । **त्वगुत्तरासङ्गवतीम्** = उत्तर + आ सञ्ज् + घञ् । अथवा उत्तरा-सङ्ग + मतुप् ङिप् । **अधीतिनीम्** = अधि + इङ् (अध्ययने) क्त—अधीतम् । अधीत + इनि: + ङीप् । स्त्रीलिंग—अधीतिनी । **दिदृक्षव:** = दृश् + सन् + न—दिदृक्षु के प्रथम विभक्ति के बहुवचन का रूप है । **अभ्युपागमन्** = अभि + उप + आ + गम् + लङ्—प्रथम पुरुष बहुवचन का रूप है । **समीक्ष्यते**—सम् + ईक्ष् के लट् लकार के प्रथम एक वचन का रूप (कर्मवाच्य में) ।

समास—कृताभिषेकाम्—कृत: अभिषेक: यया ताम् (बहुव्रीहि) । हुतजातवेदसम्—जातं विन्दति वेत्ति वा इति जातवेदा: । हुत: जातवेदा: यया सा ताम् (बहुव्रीहि) त्वगुत्तरासङ्गवतीम्—त्वक् उत्तरे आसज्यते इति उत्तरासङ्ग: अथवा आसज्यते इति आसङ्ग:, उत्तरस्य आसङ्ग:—उत्तरासङ्ग, उत्तरासङ्ग अस्या: अस्ति इति उत्तरासङ्गवती, त्वचा उत्तरासङ्गवती ताम् (तृतीया तत्पुरुष) अथवा त्वमेव उत्तरासङ्ग (कर्मधारय) त्वगुत्तरासङ्ग: स: विद्यते अस्या इति । अधीतिनीम्—अधीतमस्ति अस्या इति अधीतिनी ताम् । दिदृक्षव:—द्रष्टुं इच्छव: । धर्मवृद्धेषु—धर्मेण वृद्ध: धर्मवद्धा: तेषु ।

टिप्पणियाँ—**कृताभिषेकाम्** = कर लिया है स्नान जिसने उसको । यहाँ स्नान से तात्पर्य त्रिकाल स्नान से है । यह प्रात:, मध्याह्न और सायंकाल तीन बार किया जाता है । **हुतजातवेदसम्** = जिसने अग्नि में हवन कर लिया है । **जातवेद** = अग्नि 'कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्', इत्यमर: । **त्वगुत्तरासङ्गवतीम्** = जिसने वल्कल (पेड़ों की छाल द्वारा निर्मित्त) का उत्तरीय धारण कर लिया है उसको । **उत्तरे** = (पूर्वकाये) शरीर का ऊपरी भाग । **अधीतिनीम्** = वेद-पाठ करने वाली । **दिदृक्षव:** = देखने के इच्छुक (अभिलाषी) । ऋषय: का विशेषण है । 'यहाँ "न लोकाव्ययनिष्ठा खलर्थतृनाम्" से षष्ठी का निषेध हो गया है । अत: यहाँ पर 'तस्या: दिदृक्षव:' न होकर "तां दिदृक्षव" [द्वितीय] ही हुआ है । **अभ्युपागमन्** = आये, पास आते थे । **धर्मवृद्धेषु** = धर्म में श्रेष्ठ लोगों में अथवा अधिक धार्मिक व्यक्तियों के बारे में । **वय:** = अवस्था, आयु । यह 'वयस्' शब्द का रूप है । **समीक्ष्यते** = देखी जाती है । अवस्था में कहीं अधिक ऋषि लोग अल्पवयस्का उस पार्वती के

दर्शनों के निमित्त आया करते थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि पार्वती गुणों तथा धर्म की दृष्टि से उन ऋषियों की अपेक्षा कहीं अधिक आगे थी और उसका तत्कालीन चरित्र अनुकरणीय बन चुका था। जो लोग धर्म में श्रेष्ठता को प्राप्त कर लिया करते हैं उनकी अवस्था के बारे में विचार करने की आवश्यकता नहीं हुआ करती है। महाकवि भवभूति द्वारा रचित उत्तररामचरित में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है:—"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंग न च वयः" ॥१६॥

* * *

प्रसङ्ग—पार्वती के द्वारा जिस स्थान पर तप किया जा रहा था वह स्थान (तपोवन) भी उसके तप के कारण सच्चे अर्थों में तपोवन ही बन गया था—

विरोधिसत्वोज्झितपूर्वमत्सरं
द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चिताऽतिथि
नवोटजाऽभ्यन्तरसंभृतानलं
तपोवनं तच्च बभूव पावनम् ॥१७॥

अन्वयः—च विसेधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैः अभीष्टप्रसवार्चिताऽतिथि नवोटजाभ्यन्तर-सम्भृताऽनलं तत् तपोवनं पावनं बभूव ॥१७॥

संस्कृत-व्याख्या—च, विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं = वैरिजन्तुत्यक्तपूर्ववै हिंसारहितमित्यर्थः द्रुमैः = वृक्षैः अभीष्टप्रसवार्चिताऽतिथि = इष्टफलपूजिता ऽभ्यागतं, नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतानलं = नूतनपर्णशलाऽन्त, संञ्चिताग्नि, तत् = पार्वत्याः, तपोवनं, पावनं = पवित्रं, बभूव = अभवत्। यस्मिन्तपोऽरण्ये गौरी न्यवसत् तत् तस्याः तपसः प्रभावेण अतीव पवित्रमभवत्। जन्मजात विरोधिनः व्याघ्रादयः प्राणिनः अपि स्व-स्व पारस्परिकं वैरं विहाय प्रेम्णा व्यवहर्तुमारभन्त। तत्रस्थाः वृक्षाः स्वकीयैः फलैः अतिथीनां सत्कारमकुर्वन्। आश्रमस्थाः मुनयोऽपि नियमतः अग्निहोत्रादिकं चक्रुः। एवं सकलं वायुमण्डलमेवत पवित्रं बभूवेति भावः।

भाषा—जहाँ परस्पर वैरी प्राणियों ने अपनी जन्मजात शत्रुता छोड़ दी थी, वृक्ष मनोवाञ्छित फलों के द्वारा अतिथियों का सत्कार किया करते

हाँ नवीन पर्णकुटियों में निरन्तर प्रज्वलित रहने वाली हवन की अग्नि रहा करती थी, ऐसा वह पार्वती का तपोवन अत्यन्त पवित्र हो ा ।

ावार्थ—पार्वती जिस स्थान पर तपस्या कर रही थीं, वह स्थान पार्वती के प्रभाव से अत्यन्त शान्त और पवित्र तपोवन ही बन गया था। वहाँ ने वाले वन्य प्राणियों नें अपने जन्मजात स्वाभाविक वैर को त्याग दिया उस तपोवन में स्थित वृक्षों के स्वयं गिरे हुये सुस्वाद फलों से अतिथियों कार किया जाया करता था। उक्त तपोवन के अन्दर विद्यमान पत्तों से कुटियों (पर्णशालाओं) में निरन्तर होमाग्नि प्रज्वलित रहा करती थी। के तप के प्रभाव से प्रभावित ऐसे तपोवन में दर्शनमात्र से ही मनुष्य हो जांता था।

ाकरण—विरोधिन्=विरोध+इनिः। उज्झित=उज्झ+क्त। अभीष्ट +इष्+क्तः। अर्चित=अर्च+क्तः। सम्भृत=सम्+भृ+क्तः। बभूव= लट्=प्रथम पुरुष एकवचन का रूप।

ास—विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरम्=विरोधः अस्यास्तीति विरोधिनः, त्सरः पूर्वमत्सरः, विरोधिनः सत्त्वाः विरोधिसत्त्वाः तैः उज्झितः पूर्वमत्सरः तत् (बहुव्रीहि)। अभीष्टप्रसवार्चितातिथि=अभीष्टैः प्रसवैः अर्चिताः ः यस्मिन् तत्। नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलम्=नवानां उटजानां अभ्यन्तरे अनलाः यस्मिन् तत्। तपोवनम्=तपसः वनम् (तत्पुरुष)। पावनम्= ति पावनम्।

प्पणियाँ—विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरम्=विरोध—वैर, विरोधी= विरोध रखने वाले, सत्त्वप्राणी, उज्झित=त्याग दिया गया, मत्सर= डाह, ईर्ष्या "मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे इत्यादि" इत्यमरः, पूर्व—पहले की त। यहाँ पर परस्पर वैर रखने वाले प्राणियों द्वारा अपनी जन्मजात ाविक) शत्रुता का त्याग कर दिया गया है। तपोवन में महर्षियों के तपः- से परस्पर विरोधी प्राणी अपने स्वाभाविक वैर का त्याग कर दिया हैं। द्रुमैः=वृक्षों के द्वारा। अभीष्टप्रसवार्चितातिथि=जिस तपोवन में फलों द्वारा अतिथियों का सत्कार किया जाता है। अभीष्ट=अभिलषित,

इच्छित । प्रसव फल "स्यादुत्पदे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने" इत्यमरः सत्कार किये गये हुए, पूजित । नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलम्=नवनवीन पत्तों से निर्मित कुटी, पर्णशाला पर्णकुटी "पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्" अभ्यन्तर—अन्दर । सम्भृत—सञ्चित । अनल—अग्नि । उपर्युक्त ती "वनम्" के विशेषण हैं । तपोवनम्=तपस्या करने का स्थल (वन) । =पवित्र । बभूव=हो गया ॥१७॥

* * *

प्रसङ्ग—अपनी उपर्युक्त तपस्या के फलस्वरूप अपने उद्देश्य की पावंती ने और भी अधिक कठोर तप करने का निश्चय कर लिया—

यदा फलं पूर्वतपः समाधिना,
न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम् ।
तदाऽनपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं
तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥१८॥

अन्वयः—सा यदा तावता पूर्वतपः समाधिना काङ्क्षतं फलं लभ्यं तदा स्वशरीरमार्दवं अनपेक्ष्य महत् तपः चरितुं प्रचक्रमे ॥१८॥

संस्कृत-व्याख्या—सा=पार्वती, यदा=यस्मिन् काले, तावता= माणेन, पूर्वतपः समाधिना=प्राक्तपोनियमेन, काङ्क्षतं=वाञ्छितं अ अभीष्टं वा, फलं=हरवशीकरणरूपं प्रयोजनं, लभ्यं=लब्धुं शक्यं; अशक्यम-मंस्त इत्यर्थः, तदा=तत्काले, स्वशरीरमार्दवम्=स्वदेहस अनपेक्ष्य=अविगणय्य, महत्=दुस्तरे, तपः, चरितुं=साधयितुं, आरेभे । सा पार्वती यदा पूर्वोक्तप्रकारेण तपसा स्व अभीष्टं (हरप्राप्ति प्राप्तुं न शक्यमिति मन्यते स्म तदा सा स्वशरीरस्य सौकुमार्यमुपेक्ष्य कर्तुमारेभे ।

भाषा—जब उस (पार्वती) ने (यह) समझ लिया कि पहले तपस्या के द्वारा मनोवाञ्छित फल [शिव प्राप्ति रूप फल] प्राप्त नहीं है तब (उसने) अपने शरीर की सुकुमारता की गणना न करते भी अधिक) कठोर तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया ।

व्याकरण—**तावता**=तत्+वतुप् (परिमाण अर्थ में)। तावत् शब्द के विभक्ति के एकवचन का रूप है। 'तत्' से 'वतुप्' प्रत्यय होने के अनन्तर र्वनाम्नः" से तत् के अ के को दीर्घ हो गया है। **समाधिः**=सम्+आ+कि। **काङ्क्षितम्**=काङ्क्ष+क्त। **लभ्यम्**=लभ्+यत्। **अमंस्त**=मन्ङ्—प्रथम पुरुष एकवचन। **मार्दवम्**=मृदु+अण्। यहाँ 'शान्ताच्वलघु-' सूत्र से 'अण्' होता है। **अनपेक्ष्य**=न+अप्+ईक्ष+ल्यप्। **प्रचक्रमे**=क्रम्+लिट् प्रथम पुरुष एकवचन का रूप।

समास आदि—**तावता**=तत् परिमाणस्य इति। **पूर्वतपः समाधिना**=तपसः धः अथवा तपः एव समाधिः, पूर्वं तपः समाधिः पूर्वतपः समाधिः तेन ारय)। **लभ्यम्**=लब्धुं शक्यम् इति। **स्वशरीरमार्दवम्**=मृदोः भावः स्, स्वस्याः शरीरं तस्य मार्दवम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**तावता**=उतने से। यह पूर्वतपः समाधिना का विशेषण है। **: समाधिना**=पहले की गई हुई तपस्या के द्वारा। **काङ्क्षितम्**=मन-इच्छित, अभिलषित। पार्वती का अभीष्ट था—शिव-सदृश पति तथा अनन्य स्नेह प्राप्त कर लेना। **लभ्यम्**=प्राप्त करने योग्य। **न अमंस्त**=समझा, नहीं माना। **तदा**=तब। **स्वशरीरमार्दवम्**=अपने शरीर की रता को। **अनपेक्ष्य**=ध्यान न देकर, उपेक्षा करके। **महत्**=दुस्तरं, । **चरितुम्**=करने के लिये। **प्रचक्रमे**=प्रारम्भ कर दिया ॥१८॥

* * *

ासङ्ग—उस पार्वती ने पहले की अपेक्षा और अधिक कठोर तप करना भ कर दिया—

क्लमं ययौ कन्दुकलीलयाऽपि या
तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं
मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥१९॥

न्वयः—या कन्दुकलीलया अपि क्लमं ययौ, तया मुनीनां चरितं व्यगा-

ह्यत । ध्रुवं (अस्याः) वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं (आसीत्), (अतएव) प्रकृ
च ससारं एव च (आसीत्) ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या—या=पार्वती, कन्दुकलीलया अपि=कन्दुकक्रीडया क्लमं=ग्लानिं, ययौ=प्रापः, तया=देव्या, मुनीनां=ऋषीणां, चरितं तपः इत्यर्थः, व्यगाह्यत=प्रविष्टम्, ध्रुवं=निश्चयेन, अस्याः=पार्वत्या =शरीरं, काञ्चनपद्मनिर्मितम्=सुवर्णकमलरचितम्, आसीत्, अतएव, =स्वभावेन पद्मवत् सुकोमलस्वभावेन इत्यर्थः, मृदु च=सुकुमारं अपि, स्वभावेन=ससारमेव च कठिनं एव च । पार्वत्याः शरीर कमलेन सु निर्मितमिव आसीत् यतो हि तस्याः शरीरं कमलवत् कोमलं सुवर्णवत् आसीदितिभावः ।

भाषा—जो (पार्वती) गेंद खेलने मात्र से थक जाया करती थी, समय) ऋषियों का आचरण (कठोर तपस्या) कर रही थी । [अत उत्प्रेक्षा करते हुए लिखता है कि] निश्चय ही उस पार्वती का शरीर स कमल से बना हुआ था—इसी कारण उसका शरीर कमल सदृश सुको स्वर्ण सदृश कठोर था ।

भावार्थ—तप प्रारम्भ करने से पूर्व पार्वती का शरीर इतना सु कि वह साधारण गेंद खेलने मात्र से ही थकावट का अनुभव करते थीं—अब वही पार्वती अपने उसी कोमल शरीर से मुनियों की अपे भी अधिक कठोर तप का आचरण करने लग गई थीं । अतएव ऐस होता था कि मानो उस पार्वती का शरीर सोने तथा कमल दोनों से ह हुआ हो क्योंकि वह कमल के समान सुकोमल तथा स्वर्ण के समा भी थीं ।

अलङ्कार—उक्त पद्य में 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है ।

व्याकरण—क्लमम्=क्लम्+घञ् (भावे) । ययौ=या+लिट्— एकवचन । चरितम्=चर्+क्त (नपुंसके भावे) । व्यगाह्यत=वि+अ लङ्—प्रथम पुरुष एकवचन में (कर्मवाच्य में) । प्रकृत्या=तृतीया के एकवचन का रूप । यहाँ "प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्" से तृतीया हुई है ।

समास आदि—**कन्दुकलीलया** – कन्दुकस्य अथवा कन्दुकेन लीला (षष्ठी तृतीया तत्पुरुष) तया। **काञ्चनपद्मनिर्मितम्** = काञ्चनस्य पद्मेन निर्मितम् अथवा—काञ्चनं च पद्मम् च काञ्चनपद्मे (द्वन्द) ताभ्यां निर्मितम् (तृतीया ष)। यहाँ पर दूसरा समासअधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि इससे तथा ससारत्व दोनों का भाव स्पष्ट हो जाता है। **ससारम्** = सारेण र्त्तमानम्।

टिप्पणियाँ—**कन्दुकलीलया** = गेंद खेलने से। कन्दुक = गेंद; लीला = खेल। म् = थकावट को, 'ययौ' क्रिया का यह कर्म है। तया = उस (पार्वती) के। यह 'व्यगाह्यत' क्रिया का अनुक्त कर्त्ता है। **चरितम्** = आचरण, चरित्र। व्यगाह्यत' क्रिया का उक्त कर्म है। **व्यगाह्यत** = आचरित किया गया। म् = निश्चय ही यह 'अव्यय' है। तथा उत्प्रेक्षा को सूचित करता है। **वपुः** पार्वती का) शरीर। **काञ्चनपद्मनिर्मितम्** = सोने तथा कमल का बना हुआ स्वर्णकमल का बना हुआ। यहाँ प्रथम अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता ा उसकी संगति भी इस पद्य के चतुर्थ-चरण के साथ ठीक बैठती है। वह पविती प्रकृति (स्वभाव) से कमल सदृश कोमल तथा स्वर्ण के समान भी थी। **प्रकृत्या** = प्रकृति अर्थात् स्वभाव से। **मृदु** = कोमल। **ससारम्** ठोर, कठिन ॥५६॥

* * *

प्रसङ्गः - अब पार्वती द्वारा किये गये कठोर तप के प्रकारों का वर्णन हैं—

शुचौ चतुर्णाज्वलतां हविर्भुजां,
शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभा-
मनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥२०॥

अन्वय—शुचौ ज्वलतां चतुर्णां हविर्भुजां मध्यगता शुचिस्मिता सुमध्यमा तिघातिनीं प्रभां विजित्य अनन्यदृष्टिः सवितारं ऐक्षत ॥२०॥

संस्कृत-व्याख्या—शुचौ = ग्रीष्मकाले, ज्वलताम् = दीप्तिमतां, चतुर्णां—

चतुःसंख्यकानां, हविर्भुजां = अग्नीनां, मध्यगता = मध्यस्थिता, शुचि विशदमन्दहासा; सुमध्यमा = सुमध्या, (सा पार्वती), नेत्रप्रतिघातिनी हृतिकारिणीं, प्रभां = तेजः सूर्यस्येत्यर्थः, विजित्य = तिरस्कृत्य अनन्य न विद्यते अन्यत्र दृष्टिर्यस्याः सा अनन्यदृष्टिः सती सवितार भानुं ददर्श। सा पार्वती ग्रीष्मतौं चतुर्षु दिग्विभागेषु अग्निं प्रज्वाल्य तन्मध्ये सती नेवोत्पीडकं सूर्यस्य तपः अवमत्य निर्निमेषनयनाभ्यां भानुमद्राक्षीत्

भाषा—ग्रीष्म ऋतु में प्रज्वलित चार अग्नियों के मध्य स्थि मुस्कराहट वाली और सुन्दर कमर वाली पार्वती आँखों को चकाचौंध वाली सूर्य की चमक को जीतकर दूसरी ओर न देखती हुई केवल सू देखा करती थी।

भावार्थ—कठोर तप करने के प्रारम्भ में पार्वती ने पञ्चाग्नि साध को सर्वप्रथम प्रारम्भ किया। उसने अपने (१) सामने (२) पीछे ((४) बायें चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर, आँखों को चकाचौंध वाली सूर्य की प्रभा पर भी विजय प्राप्ति कर ली और तदन्तर एक-ट (५) सूर्य की ही ओर देखा करती थी। इस तप में उसकी दृष्टि कि ओर एक क्षण के लिए भी न जाती थी। उसके लिये सूर्य ही पंचम इस भाँति वह पञ्चाग्नि-साधक तप में संलग्न थी।

व्याकरण—ज्वलताम् = ज्वलत् + शतृ—ज्वलत् शब्द के षष्ठी वि बहुवचन का रूप है। हविर्भुजाम् = हविस् + भुज् + क्विप्। प्रतिघा प्रति + हन् + णिनि + ङीप। हन् धातु से णिनि प्रत्यय होने पर हन् वृद्धि 'ह' के स्थान पर 'घ' तथा 'न' के स्थान पर 'त' हो जाता है। वि वि + जि + ल्यप्। सवितारम् = सवितृ—सू + तृच्। सवितृ शब्द के विभक्ति के एकवचन का रूप है। ऐक्षत + इक्ष् = लङ्—प्रथम पुरुष का रूप है।

समास—हविर्भुजाम् = हविः भुञ्जन्ते इति हविर्भुजः तेषाम्। शुचि शुचिस्मितं यस्याः सा (बहुव्रीहि)। नेत्रप्रतिघातिनीम् = नेत्रयोः प्र इति नेत्र प्रतिघातिनी (षष्ठी तत्पुरुष) ताम्। अनन्यदृष्टिः = न अन्यस्मि यस्याः सा (बहुव्रीहि)। सुमध्यमा = शोभनः मध्यमः यस्याः सा। (ब

प्पणियाँ—शुचौ = ग्रीष्म ऋतु में। यह शुचि शब्द के सप्तमी विभक्ति के न का रूप है। 'शुचि ग्रीष्माग्नि शृंगारेष्वाषाढे शुद्धमन्त्रिणि, ज्येष्ठे च वले शुद्धेऽनुपहते त्रिषु" इति मेदिनी। ज्वलताम्=जलते हुए। यह जाम्' का विशेषण है। चतुर्णाम्=चारों (अग्नियों) के। पञ्चाग्नि= क तप मैं चारों ओर आग जलाकर साधक को बीच में बैठना पड़ता करता चवीं अग्नि 'सूर्य' होता है। हविर्भुजाम्=अग्नियों के। हवन करते समय में हविः (घृत) डाला जाया करता है, अग्नि उसे खाती है अतः अग्नि का म हविर्भुज् भी अथवा हुतभुज् है। मध्यगता=बीच में स्थित। मध्य शब्द र्भुजाम्" से सापेक्ष है, अतः गता के साथ इसका समास नहीं होना चाहिये किन्तु "सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः" इस नियम के आधार पर समास गया है। मध्यगता=मध्यगता (द्वितीया तत्पुरुष)। शुचिस्मिता=स्वच्छ, हट वाली। शुचि=पवित्र, शुद्ध, शोभन। स्मित=मुस्कराहट। पार्वती ठोर तप का कोई कष्ट नहीं था, अतएव निरन्तर प्रसन्नचित्त ही रहा थी।

सुमध्यमा=सुन्दर कमर वाली। सु=सुन्दर। मध्यमा=कमर। कमर का होना भी सौन्दर्य का लक्षण है। किन्तु पार्वती को अपने सौन्दर्य की कोई नहीं थी। इसी कारण वह कठोर तप में संलग्न थी। इस घोर कष्ट से तप से पार्वती का शिव के प्रति अनन्य प्रेम अभिव्यक्त होता है। क (मध्यगता, शुचिस्मिता, सुमध्यमा) तीनों विशेषण पार्वती के है। नेत्र-तिलीम्=नेत्रों को चकाचौंध कर देने वाली। यह 'प्रभा' का विशेषण भाम्=सूर्य की कान्ति अथवा तेज। विजित्य=जीतकर। पार्वती लगा-र्य की ओर देखती थी। सूर्य की चमक उनकी आँखों को चकाचौंध नहीं ती थीं। अनन्यदृष्टिः=जो किसी दूसरी ओर देखती भी न थी। रम्=सूर्य को अथवा सूर्य की ओर। ऐक्षत=देखती थी अथवा देखा थी ॥२०॥

* * *

प्रसङ्ग—इस प्रकार के कठोर तप में वर्तमान पार्वती को कोई किसी प्रकार ष्ट नहीं हुआ। इसके विपरीत उसके मुख की कान्ति और भी अधिक सित हो उठी—

तथाभितप्तं सवितुर्गभस्तिभि-
र्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः
शनैः-शनैः श्यामिकया कृतं पदम् ॥२१॥

अन्वयः—सवितुः गभस्तिभिः तथा अभितप्तं तदीयं मुखं कमलश्रियं अस्य दीर्घयोः अपाङ्गयोः केवलं शनैः-शनैः श्यामिकया पदं कृतम् ॥२१॥

संस्कृत-व्याख्या—सवितुः = सूर्यस्य, गभस्तिभिः = किरणैः, तथा प्रकारेण, अभितप्तं = सन्तप्तं, तदीयं · पार्वत्याः, मुखं = आननं, कमल पद्मशोभाम्, दधौ = प्राप । किन्तु अस्य - मुखस्य, दीर्घयोः · आयतयं ङ्गयोः - नेत्रान्तयोः, केवलं = एव, शनैः-शनै = मन्दं मन्दम्, श्यामि कालिम्ना, पदम् = स्थानम्, कृतं = विहितम् । सूर्यकिरणैः संतप्तमपि पा मलिनतां नागच्छत् । यथा सूर्यस्य तापात् कमलं न म्लायति प्रत्युत एव नूतनां शोभां च धारयत्सेव तथैव पार्वतीमुखं सूर्याभिमुखं सततं नि किञ्चिन्मात्रमपि कृष्णवर्णं नाभूत् प्रत्युत अधिकां शोभामेव प्राप सूर्यातपप्रभावेण नेत्रप्रान्तयोः उत्पन्नं कृष्णत्वं मुखसौन्दर्यबर्द्धकमेव अ भावः ।

भाषा—सूर्य की किरणों के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से संतप्त होने उसके (पार्वती का) मुख ने कमल की शोभा को धारण कर लिया की धूप से उत्पन्न कालिमा ने उसकी आँखों के लम्बे-लम्बे कोनों में स्थान प्राप्त कर लिया ।

भावार्थ—जिस भाँति सूर्य की किरणों के तेज से कमल विकसित तथा नवीन शोभा को प्राप्त कर लिया करता है, उसी भाँति पार्वती सूर्य की किरणों के तेज से मलिनता को प्राप्त न कर पहले की अपेक्षा अधिक शोभा को ही प्राप्त हुआ । हाँ, उसके नेत्रों के प्रान्तभाग अव हो गये किन्तु इस कालिमा से उसके सौन्दर्य में कुछ न्यूनता नहीं आ उनका सौन्दर्य कुछ वढ़ गया ।

व्याकरण - सवितुः = सु + तृच् । सुवति जीवनं प्रयच्छति इति

यह सवितृ शब्द के षष्ठी एकवचन का रूप है। **तथा**=तद्+थाल्। **अभितप्तम्**=अभि+तप्+क्त। **तदीयम्**=तस्याः इदं तदीयम्—तद्+छ—ईय। **दधौ** धा+लिट्—प्रथम पुरुष एकवचन। **श्यामिकया**=श्याम+कन्+टाप्। श्यामिक शब्द के तृतीया विभक्ति का एकवचन का रूप है। **शनैः शनैः**=(क्रिया विशेषण) यह अव्यय है। यहाँ वीप्सा अर्थ द्विरुक्ति है।

समास—अभितप्तम्=आभिमुख्येन तप्तम् अभितप्तम्। किसी-किसी संस्करण में अतितप्त पाठ भी मिलता है—अत्यन्तं तप्तं अतितप्तम्। कमलश्रियम् कमलस्य श्री कमल श्रीः (षष्ठी तत्पुरुष), ताम्।

टिप्पणियाँ—सवितु=सूर्य की। "भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तनः सविताः रविः" इत्यमरः। **गभस्तिभिः**=किरणों से। "किरणोस्रमयूखांऽशुगभस्तिघृणिरश्मयः" इत्यमरः। **तथा**=उस प्रकार से। **अभितप्तम्**=अत्यन्त संतप्त। यह "मुखं" का विशेषण है। **तदीयम्**=उसका (पार्वती का)। **कमलश्रियम्**=कमल की शोभा को। **दधौ**=धारण किया, प्राप्त किया। **श्यामिकया**=कालिमा से। **दीर्घयोः**=लम्बे-लम्बे, बड़े-बड़े। यह "अपाङ्गयोः" का विशेषण है। **अपाङ्गयोः**=आँखों के कोनों में "अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ" इत्यमरः। **शनै शनैः**=धीरे-धीरे। **पदं कृतम्**=स्थान कर लिया अथवा स्थान बना लिया ॥२१॥

* * *

प्रसङ्ग—अब उसके व्रत में निराहारता का योग हो गया—

अयाचितोपस्थितम्बु केवलम्
रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः।
बभूव तस्या किल पारणाविधि-
र्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥२२॥

अन्वयः—अयाचितोपस्थितं केवलं अम्बु, रसात्मकस्य उडुपतेः रश्मयः च तस्याः पारणाविधिः बभूव किल। वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः पारणाविधिः न बभूव ॥२२॥

संस्कृत-व्याख्या—अयाचितोपस्थितम्=अप्राथितोपनतम्, केवलम्=तन्मात्रम्, अम्बु=जलम्, रसात्मकस्य=अमृतस्य, उडुपतेः=तारापतेः चन्द्रस्येत्यर्थः,

रश्मय:=किरणाश्च, तस्या:=पार्वत्या:, पारणाविधि:=भक्षणकर्म, बभूव कि =अभवत् किल। वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधन:=तरुवर्त्तनाऽधिकोपाय:, पारण विधि:=भक्षणकर्म, न बभूव=नाभवत्। सा पार्वती अन्नादिकं सर्वं परित्यज अयत्नोपलब्धम् उदकं, चन्द्रमस: अमृतमयान् किरणानेव केवलं उपभुक्ते स्म यथा वृक्षा: स्वजीवननिर्वाहार्थं केवलं वर्षाजलं चन्द्रकिरणांश्च उपभुञ्जते तथैव सापि केवलं वर्षाजलं चन्द्रकिरणांश्च उपभुज्य शरीरं धारयति स्म प्राणांश्च रक्षति स्म। एवं पार्वत्या: भोजनं वृक्षाणां भोजनाद् भिन्नं नासीत्।

भाषा—बिना माँगे ही प्राप्त केवल जल तथा चन्द्रमा की अमृतमय किर ही उसका भोजन थीं। उसके भोजन के साधन वृक्षों के भोजन के साधनों भिन्न नहीं थे।

भावार्थ—ग्रीष्मकाल-पर्यन्त पार्वती ने निराहार व्रत किया। गर्मी समाप्ति पर भी वर्षा का जल ही उसका पानीय हुआ। दिन में कुछ न खा पर भी रात्रि के समय चाँदनी ही उसकी खाद्य वस्तु थी। जैसे वृक्ष अपने जीव के निर्वाहार्थ केवल वर्षा का जल और चन्द्रमा की किरणों का ही उपभोग कि करते हैं वैसे ही वह पार्वती भी अपने प्राणों के निर्वाहार्थ वर्षा का जल औ चन्द्रकिरणों का ही प्रयोग किया करती थी। इस भाँति उसका भोजन वृक्षों भोजन से पृथक् नहीं था अर्थात् समान ही था।

व्याकरण—अयाचितोपस्थितम्=याच्+क्त—याचित। उपस्थित=उ +स्था+क्त। रसात्मकस्य=रस्+आत्मन्+कप्। पारणाविधि=पृ+णि +युच् (स्त्रीलिङ्ग में)। वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधन:=वृत्+क्ति—वृत्ति:। वि- अति+रिचिर्+क्त—व्यत्तिरिक्त। साध+ल्युट्—साधनम्।

समास आदि—अयाचितोपस्थितम्=न याचितं अयाचितम्, अयाचितं तदुपस्थितं अथवा अयाचितेन उपस्थितम् (तृतीया तत्पुरुष) इति। रसात्मक =रस: आत्मा यस्य तस्य रसात्मकस्य (बहुव्रीहि) "शेषाद् विभाषा" इस सू से बहुव्रीहि समास में कुछ शब्दों के अन्त में 'कप्' प्रत्यय जुड़ जाया करता है उडुपते:=उडूनां नक्षत्राणां पति: उडुपति: तस्य। जब समास के अन्त में प आता है तब उसका रूप 'हरि' शब्द के समान चलता है। इसी कारण य षष्ठी विभक्ति के एकवचन में पत्यु: न होकर 'पते:' ही बना है। पारणाविधि:=

पारणायाः विधिः पारणाविधिः (षष्ठी तत्पुरुष)। **वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः** – साध्यते अनेन इति साधनम्। वृक्षाणां वृत्तिः वृक्ष-वृत्तिः, वृक्षवृत्तेः व्यतिरिक्तं साधनं यस्य सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—अयाचितोपस्थितम्=बिना माँगे ही प्राप्त। **अम्बु**=जल "अम्भोर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्" इत्यमरः। **रसात्मकस्य**=जलमय, अमृतमय। 'रस' शब्द का प्रयोग जल अथवा अमृत इन दो अर्थों में होता है। चन्द्रमा की किरणें जलमब होने के कारण शीतल हुआ करती हैं। चन्द्रमा को ही सुधाकर अथवा सुधांशु भी कहा जाता है क्योंकि उसकी किरणें सुधा अथवा अमृतमय होती हैं। **उडुपतेः**=तारों (नक्षत्रों का) का स्वामी—अथवा अधिपति। "नक्षत्रमृक्ष भतीरा तीरकाऽप्युडुवास्त्रियाम्" इत्यमरः। **रश्मयः**=किरणें। **पारणाविधिः**=उपवास के अनन्तर लिया जाने वाला भोजन अथवा आहार—"पारणा स्यात् व्रतान्तभोजनम्" इत्यमरः। यह "बभूव" क्रिया का कर्त्ता है। **वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः**=जिसकी जीविका का साधन वृक्षों की जीविका के साधनों से भिन्न नहीं था। **वृत्तिः**=जीविका "आजीवो जीविका वार्त्ता वृत्तिर्वर्त्तनजीवने" इत्यमरः। यह 'पारणाविधिः' का विशेषण है। पार्वती का भोजन वृक्षों के भोजन से भिन्न न था। जिन वस्तुओं का प्रयोग (जल तथा चन्द्रकिरणों का) वृक्ष किया करते हैं, उन्हीं वस्तुओं का प्रयोग अपने व्रत के समय पार्वती द्वारा भी किया जाया करता था। यहाँ तपस्या की पराकाष्ठा का स्पष्ट दर्शन होता है ॥२२॥

◆

प्रसङ्ग—प्रथम वर्षा की बूँदों के गिरने से जैसे पृथ्वी से वाष्प निकलकर ऊपर की ओर चला करती है वैसे ही उस पार्वती के शरीर पर भी बूँदों के गिरने से वाष्प निकला करती थी—

निकामतप्ता विविधेन वह्निना,
नभश्चरेणेन्धनसम्भृतेन सा।
तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवै-
र्भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम् ॥२३॥

अन्वयः—विविधेन नभश्चरेण इन्धनसम्भृतेन वह्निना निकामतप्ता सा तपात्यये नवैः वारिभिः उक्षिता (सती) भुवा सह ऊर्ध्वगं ऊष्माणं अमुञ्चत् ॥२३॥

संस्कृत-व्याख्या—विविधेन = अनेकप्रकारेण, पंचविधेनेत्यर्थः, नभश्चरेण = खेचरेण, आदित्यरूपेणेत्यर्थः, इन्धनसम्भृतेन = काष्ठसमिद्धेन, वह्निना = अग्निना, निकामतप्ता = अतिसन्तप्ता, सा = पार्वती, तपात्यये = ग्रीष्मान्ते, प्रावृषीत्यर्थः, नवैः = नूतनैः, वारिभिः = जलैः, उक्षिता = सिक्ता सती, भुवा = पृथिव्या, पञ्चाग्नितप्तया, सह = सार्धम्, ऊर्ध्वगम् = ऊर्ध्वं, प्रसृतम्, ऊष्माणं = वाष्पं, अमुञ्चत् = तत्याज। ग्रीष्मान्ते वर्षारम्भे च यदा वर्षायाः नवाः जलबिन्दवः ग्रीष्मकालस्य प्रचण्डेन आतपेन संतप्तायाः भूमेः उपरि पतन्ति तदा तस्याः वाष्पराशि; निर्गत्य ऊर्ध्वं गच्छति, अनेनैव प्रकारेण पञ्चाग्निसाधकतपः कुर्वाणाया; पार्वत्याः शरीरे यदा वर्षारम्भस्य नवाः जलबिन्दवः पतन्ति स्म तदा तस्याः शरीरादपि वाष्पराशिः निस्सरति स्म।

भाषा—**नाना प्रकार की आकाशीय तथा इंधन (काष्ठादि) से प्रज्वलित होने वाली अग्नियों के द्वारा अत्यधिक संतप्त हुई वह पार्वती ग्रीष्म-ऋतु के अन्त में प्रथम वर्षा की बौछारों से सींची गई हुई पृथ्वी के साथ ही गर्म-गर्म वाष्प छोड़ने लगी।**

भावार्थ—जैसे ग्रीष्म-ऋतु के अन्त में नवीन वर्षा की बूंदों के पृथ्वी पर गिरने पर ग्रीष्म-ऋतु की प्रचण्ड धूप से संतप्त पृथ्वी से ऊपर की ओर उठने वाली वाष्प की राशि उठा करती है, उसी भाँति ग्रीष्म-ऋतु में तप सम्बन्धी पंचाग्नियों के द्वारा अत्यधिक संतप्त हुई पार्वती के शरीर के ऊपर जब प्रथम वर्षा की जल की बूंदें गिरती थीं तो उसके शरीर से भी निरन्तर वाष्प निकला करती थी।

अलङ्कार—उक्त पद में "सहोक्ति" अलङ्कार है। लक्षण "सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासत जनरञ्जनः"।

व्याकरण—**नभश्चरेण** = नभस् + चर् + ट। **सम्भृतेन** = सम् + भृ + क्त। **तपात्यये** = तप + अति + इण् + अच्। **उक्षिता**—उक्ष् + क्त। **ऊर्ध्वगम्**—ऊर्ध्व + गम् + ड। **अमुञ्चत्**—मुञ्च् धातु के लङ् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन का रूप है।

समास—नभश्चरेण=नभसि चरतीति नभश्चर; तेन । **इन्धनसम्भृतेन**= इन्धनेन सम्भृतः तेन (तृतीया तत्पुरुष) । **विविधेन**=विविधा विधा यस्य स तेन । **निकामतप्ता**=निकामं तप्ता निकामतप्ता । **तपात्यये**= तपस्या अत्ययः तपात्ययः तस्मिन् । **ऊर्ध्वंगम्**=ऊर्ध्वं गच्छतीति ऊर्ध्वंगः, तम् ।

टिप्पणियाँ—नभश्चरेण=आकाश में विचरण करने वाला अर्थात् सूर्य । **इन्धनसम्भृतेन**=ईंधन (काष्ठ) से प्रज्वलित—इस विशेषण से ईंध्रन से जलने वाली साधारण अग्नि से अभिप्राय है । **विविधेन**=नाना प्रकार के पाँच प्रकार की । उपर्युक्त—तीनों शब्द "वह्निना" के विशेषण हैं । **निकामतप्ता**= अत्यधिक रूप से तपाई गई हुई । यह 'सा' का विशेषण है । **तपात्यये** = तप—ग्रीष्म ऋतु, **अत्यय** नाश । ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर अर्थात् वर्षा के आरम्भ में । **नवैः**=नूतन, नवीन (प्रथम) अर्थात् वर्षा के प्रथम जल से । **वारिभिः**= जलों से अर्थात् जल बिन्दुओं से । यह वारि शब्द की तृतीया विभक्ति का बहुवचन का रूप है । **उक्षिता**=सींची हुई, भीगी हुई । **भुवा सह**=पृथ्वी के साथ । यह 'भू' शब्द की तृतीया विभक्ति के एकवचन का रूप है । यहाँ "सह युक्तोऽप्रधाने" सूत्र से 'सह' के योग में तृतीया विभक्ति हुई है । **ऊर्ध्वंगम्**= ऊपर की ओर जाने वाली । **ऊष्माणम्**=गर्मी को, वाष्प को । ऊष्मन् शब्द की द्वितीया विभक्ति का एकवचन का रूप है । वह 'अमुञ्चत्' क्रिया का कर्म है । **अमुञ्चत्** = छोड़ने लगी । ग्रीष्म ऋतु में । संतप्त हुई पृथ्वी के ऊपर जब प्रथम वर्षा की बूंदे गिरा करती हैं तो संतप्त पृथ्वी से भाप निकला करती है । इस भाँति तप सम्बन्धी पंचाग्नियों से संतप्त शरीर वाली पार्वती के ऊपर भी जब प्रथम वर्षा की बूंदे गिरती थीं तब उसके शरीर से भी भाप निकलती थी । कहने का तात्पर्य यह है कि उसका शरीर इतना इधिक तप्त हो गया था कि उसकी गर्मी के कारण उसके शरीर के ऊपर गिरा हुआ जलवाष्प बन जाता था ।।२३।।

प्रसङ्ग—इस भाँति ग्रीष्मकालीन पार्वती के तप का वर्णन करने के पश्चात् अब महाकवि उसके वर्षाकालीन तप का वर्णन करते हैं—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताऽधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोद्बिन्दवः ॥२४॥

अन्वयः—प्रथमोदबिन्दवः तस्याः पक्ष्मसु क्षणं स्थिताः, ताडिताधराः, पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः वलीषु स्खलिताः चिरेण नाभिं प्रपेदिरे ॥२४॥

संस्कृत-व्याख्या—प्रथमोदबिन्दवः = पूर्वंजलपृषताः, तस्याः = पार्वत्याः, पक्ष्मसु = नेत्रलोमसु, क्षणं = कञ्चित्कालं, स्थिताः = स्थितिं गताः (अनेन पक्ष्मणां सान्द्रत्वं, क्षणमित्यनेन स्निग्धत्वं च गम्यते), अनन्तरं ताडिताधराः = व्यथितोष्ठा; (अनेन अधरस्य मृदुत्वं गम्यते), ततः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः = कुचोपरिभागपतनजर्जरिताः (कुचकाठिन्यादितिभावः) तदनु वलीषु = उदररेखासु, स्खलिताः = पतिताः (निम्नोन्नत्वादित्यर्थः) इत्थं चिरेण—बहुकालेन (प्रतिबन्धवाहुल्यादिति शेषः), नाभिं = तुन्दिं, प्रपेदिरे = प्रविष्टाः (न तु) निर्जग्मुरित्यर्थः = ऐतेन नाभेः गाम्भीर्यं गम्यते ।) पार्वती वर्षाकालेऽपि अनावृते स्थाने तप आचरति स्म, अतः आकाशीत् पतन्तः जलबिन्दवः प्रथमं तस्याः नेत्रलोमसु पतन्ति स्म, तेषां घनत्वात् तत्रैव कञ्चित्कालं विरमन्ति स्म । तत्पश्चात् तेभ्यः निपत्य तस्याः ओष्ठस्योपरि अतिष्ठन् । ओष्ठाच्च निपत्य ते पार्वत्याः स्तनयोः उपरि अपतन् । तयोः काठिन्यादुन्नतत्वाच्च ते चूर्णिताः अभवन् । तदनन्तरं ते तस्याः उदरस्य त्रिवलीषु अपतन् । एवं पतन्तः स्थाने स्थाने विरमन्तश्च ते जलबिन्दवः चिरेण तस्याः नाभिं प्राप्नुवन्ति स्म । नाभ्याः गाम्भीर्यात् ते पुनः न निर्गच्छन्ति स्म ।

भाषा—वर्षा के जल की प्रथम बूंदे कुछ समय के लिये उस (पार्वती) की आँखों के पलकों में 'ठहर कर' (फिर) नीचे के ओठ से टक्कर खाकर पश्चात् स्तनों की ऊँचाई पर गिरने से चूर-चूर होकर (पुनः) पेट की नीची-ऊंची रेखाओं से फिसलती हुई नाभि तक देर में पहुँचती थीं ।

भावार्थ—पार्वती कठोर तपस्या में संलग्न होने के कारण खुली हुई भूमि पर ही वर्षा-काल में भी तप किया करती थी । अतः आकाश से गिरती हुई

वर्षा के जल की बूंदे पहले उसकी आँखों के पलकों के ऊपर गिरा करती थीं और वहीं पर नेत्र रोमों के घने होने के कारण कुछ काल तक रुक कर फिर निचले ओष्ठ के ऊपर गिरा करती थीं और फिर वहाँ से कठिन एवं उठे हुये उसके स्तनों के अग्रभाग से टकराकर, चूर्ण-चूर्ण होकर वे बूँदे पेट की त्रिवलियों में क्रमशः फिसलती हुईं, अन्त में उसकी गहरी नाभि के अन्दर प्रविष्ट हो जाती थीं ।

अलङ्कार—इस पद्य में "परिकर" अलङ्कार है । लक्षण—"अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे" ।

व्याकरण—**स्थिताः**=स्था + क्त । **उत्सेध**=उत् + सिध् + घञ् । **वलीषु** =वल + इन—वलि से "कृदिकारादक्तिनः" से स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय हो जाता है । **स्खलिताः**=स्खल + क्त । **प्रपेदिरे**=प्र + पद् + लिट्—प्रथम पुरुष, बहुवचन का रूप ।

समास आदि—**प्रथमोदबिन्दवः**=उदकस्य विन्दवः उदबिन्दवः (षष्ठी तत्पुरुष समास) यहाँ पर "मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु" सूत्र से उदक के स्थान पर 'उद' हो जाता है । प्रथमेः उदबिन्दव प्रथमोदबिन्दवः (कर्मधारय) । **ताडिताधरा**= ताडितः अधरः यैः ते (बहुव्रीहि) । **पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः** =पयोधरयोः उत्सेधः पयोधरोत्सेधः (षष्ठी तत्पुरुष), पयोधरोत्सेधे निपातेन चूर्णिताः (तृतीया तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**प्रथमोदबिन्दवः**=प्रथम जल की बूंदे—यहाँ पर प्रथम शब्द का भाव नवीन है अर्थात् वर्षा ऋतु के आ जाने पर सर्वप्रथम हुई वर्षा की बूंदें । **क्षणम्**=क्षणभर । **तस्याः**=उसके (पार्वती के) । **पक्ष्मसु**=आँख के रोमों अथवा बरौनियों में । 'पक्ष्मन्' शब्द की सप्तमी विभक्ति के बहुवचन का रूप है । **स्थिताः**=ठहरती थीं—रुकती थीं । इस स्थल पर महाकवि ने पार्वती की बरौनियों की दो मुख्य विशेषताओं की ओर संकेत किया है (१) बरौनियों का घना होना तथा (२) चिकना होना । (१) घनी होने के कारण जल-बिन्दु उनमें आकर उलझ जाते थे । (२) चिकना होने के कारण ये बूंदें अधिक समय तक उन बरौनियों में ठहर नहीं पाती थीं । **ताडिताधराः**=आघात (चोट) पहुंचाया है ओष्ठ में जिन्होंने ऐसी बूंदें । इस विशेषण से पार्वती के अधरोष्ठ का कोमल

होना प्रकट होता है। **पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिता:**=स्तनों के उन्नत अग्रभाग पर टकराने के कारण चूर-चूर हुये (जलबिन्दु)। इससे स्तनों के उन्नत तथा कठिन होने का भाव अभिव्यक्त होता है। **वलीषु**=पेट पर पड़ी हुई रेखाओं में। वली को त्रिवली भी कहा जाता है। पेट के सौन्दर्य-वर्णन में इसका विशेष महत्त्व है। **स्खलिता:**=फिसलती हुई या गिरी हुई। **प्रपेदिरे**=प्राप्त होती थीं अथवा पहुँचती थीं। इस क्रिया का कर्त्ता 'प्रथमोदबिन्दव:' तथा कर्म 'नाभिम्' है। बरौनियों, पयोधर तथा त्रिवली आदि अनेक स्थानों पर रुकने के कारण जल की बूंदे कुछ देर में ही नाभि तक पहुँच पाती थीं ॥२४॥

* * *

प्रसङ्ग—वर्षा में भी उसका कठोर तप अत्यन्त प्रशंसनीय ही था—

"शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं
निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयै-
महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥२५॥

अन्वय:—निरन्तरासु अन्तरवातवृष्टिषु अनिकेतवासिनीं शिलाशयां तां महातपः साक्ष्ये स्थित क्षपाः तडिन्मयैः उन्मिषितैः व्यलोकयन् इव ॥२५॥

संस्कृत-व्याख्या—निरन्तरासु=नीरन्ध्रासु अविच्छिन्नासु इत्यर्थः, अन्तरवातवृष्टिषु मध्य वायुवर्षेषु, अनिकेतवासिनीम्=अगृहवासिनीम्=अनावृतदेशवासितीमित्यर्थः, शिलाशयाम्=प्रस्तरशायिनीम्, ताम्=पार्वतीम्, महातपः=दुष्करतपः, साक्ष्ये=साक्षित्वे, स्थिताः=विद्यमानाः, क्षपाः=रात्रयः, तडिन्मयैः=विद्युद्रूपैः उन्मिषितैः=अवलोकनैः व्यलोकयन् इव=अवलोकयन् इव। वर्षाकाले यदा अविच्छिन्ना वृष्टिः भवति स्म, वायुश्च वेगेन वाति स्म, तडितश्च अद्योतन्त तदापि पार्वती अनावृत्त प्रदेशे प्रस्तरखण्डस्योपरि एव शयनं करोति स्म। रात्रयः एव तां विद्युद्रूपैः चक्षुभिः साक्षिवत् अवलोकयन्ति स्म।

भाषा—लगातार होने वाली, वायु के झोंकों से युक्त वर्षा में भी खुले (स्थान) में ही रहने वाली पत्थर की चट्टान पर शयन करने वाली, उस पार्वती

तो उसकी कठोर तपस्या की साक्षीभूत रात्रियाँ मानो अपने विद्युतरूपी आँखों देखा करती थीं।

भावार्थ—वर्षा ऋतु में जब लगातार जल बरसा करता था, वायु भी ड़ी तीव्र गति से बहा करती थी, बिजलियाँ भी चमका करती थीं, तब ऐसे षण समय में भी वह पार्वती खुले स्थान में पत्थर की चट्टान पर शयन किया रती थीं। उस निर्जन वन में उसकी कठोर तपस्या को देखने वाला अन्य ई भी न था।

अलङ्कार—उक्त पद्य में 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है।

व्याकरण—अनिकेतवासिनीम्=नि+कित+घञ्=निकेतन+वस्+ नि=निकेतवासिनी। शिलाशयाम्=यहाँ "अधिकरणे शेते" सूत्र से "शी" तु में अच् प्रत्यय लगाकर 'शय' शब्द बनता है। साक्ष्ये=साक्षिन्+ष्यञ्। न्मयैः=तडित्+मयट्। यहाँ "तत्प्रकृति वचने मयट्" से 'मयट्' प्रत्यय ा है। उन्मिषितैः=उत्+मिष्+क्त। व्यलोकयन्=वि+लोक्+लङ्— म पुरुष बहुवचन का रूप है।

समास—निरन्तरासु=निर्गतं अन्तर याभ्यः ताः तासु। अन्तरवातवृष्टिषु= तरे वातः यासां ताः अन्तरवाताः अन्तरवाताः च ताः वृष्टयः अन्तरवात- टयः (कर्मधारय) तातु। अनिकेतवासिनीम्=निकेते गृहे वसतीति निकेत- सिनी—न निकेत वासिनी अनिकेतवासिनी, ताम्। शिलाशयाम्=शिलायां ो इति शिलाशया, ताम्। महातपसाक्ष्ये=महच्च तत् तपः महातपः महातपसः क्ष्यं महातपसाक्ष्यम् तस्मिन्। महातपः में महत् शब्द के तकार के स्थान "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" सूत्र से आकार हो जाता है। न्मयैः=तड़ित एव तडित्मयानि, तैः।

टिप्पणियाँ—निरन्तरासु=लगातार। यह 'वृष्टिषु' का विशेषण है। तरवातवृष्टिषु=हवा के साथ-साथ होने वाली वर्षाओं में। अन्तर=मध्य। त=वायु। अनिकेतवासिनीम् बिना घर के रहने वाली। निकेत="वेश्म मनिकेतनम्" इत्यमरः। शिलाशयाम्=चट्टानों पर शयन करने वाली। पर्युक्त दोनों ही विशेषण 'ताम्' के हैं। महातपः साक्ष्ये कठोर तपस्या साक्षी (गवाही) में। क्षपाः=रात्रियाँ। उस एकान्त स्थल में केवल रात्रियाँ

ए। पार्वती की कठोर तपस्या की साक्षी थीं। **तडिन्मयैः** = बिजली "तडित्सौदामिनीविद्युच्चञ्चला चपला अपि" इत्यमरः। यह उन्मिषितै विशेषण है। **उन्मिषितैः** = उवलोकनों के द्वारा। **व्यलोकयन्** = देखती इस क्रिया का कर्त्ता क्षपाः' है। **इव** = इस स्थल पर इसका प्रयोग उत् निमित्त हुआ है; यह अव्यय है ॥२५॥

* * *

प्रसङ्ग—इसके अनन्तर हेमन्त ऋतु में भी उसकी तपस्या दर्शनीय

निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः
सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः
पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥२६॥

अन्वयः—सा अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीः उदवासतत्परा प क्रन्दिनि पुरः वियुक्ते चक्रवाकयोः मिथुने कृपावती (सती) निनाय ॥२६

संस्कृत-व्याख्या—सा = पार्वती, अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः = अत्यधि तोत्पाताः, सहस्यरात्रीः = पौषरात्री, उदवासतत्परा = जलनिवासासक्ता, राक्रन्दिनि = अन्योन्याक्रोशिनि, पुरः = अग्रे, वियुक्ते = वियोगयुक्ते, कयोः = चक्रवाकयाः चक्रवाकस्य च, मिथुने = द्वन्द्वे, कृपावती = दयावती निनाय = यापयामास। हेमन्तर्तौ पौषमासे यदा हिमपातकारी वायु वा तदाऽपि सा पार्वती रात्रौ अतिशीतले नीरे एव निवसति स्म। अनेन प्र तस्याः तपो ववृधे। तपस्यायाः कारणात् तस्याः हृदय करुणभावसम्पन्नं अतः सा यदा रात्रौ पुरोभागे वियुक्तं आक्रन्दन्तञ्च चक्रवाययुगलं दद तस्योपरि अतिदयां प्रकटी करोति स्म।

भाषा—वह पार्वती अत्यधिक बर्फ की वर्षा करने वाली वायु से शीतल पौषमास की रात्रियों को जल में खड़ी हुई एक-दूसरे से मिलने के चिल्लाते हुये, (अपने) सामने ही एक-दूसरे से वियुक्त चकवा तथा चकवी पर दया दिखलाती हुई व्यतीत करती थी।

भावार्थ—पार्वती हेमन्त ऋतु की हिम सदृश शीतल वायु से युक्त

को भी शीतल जल में खड़े होकर बिताती थी। ऐसा करने से उसका तप निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। तप के बढ़ने के कारण उसके हृदय में करुणा के भाव जाग्रत हो गये थे। अतएव वह जब रात्रि में परस्पर एक-दूसरे से मिलने के निमित्त चिल्लाते हुये वियोगी चकवा-चकवी के जोड़े के आक्रन्दन को सुनती थीं तो वह उनके प्रति अत्यधिक दया के भाव को प्रकट किया करती थी।

व्याकरण—**उत्किरां** = उद् + कृ + क—यहाँ 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' सूत्र से 'क' प्रत्यय होता है। **आक्रन्दिनि** = आ + क्रन्द (रोना) + णिनि। **वियुक्ते** = वि + युज् + क्त। **कृपावती** = कृपा + वतुप् + ङीप्। **निनाय** = नी + लिट्।

समास—**अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः** = उत्किरन्तीति उत्किराः हिमानां उत्किराः हिमोत्किराः अत्यन्तं हिमोत्किराः अत्यन्तहिमोत्किराः अनिलाः यासु ताः (बहुव्रीहि)। **सहस्यरात्रीः** = सहस्यस्य रात्रयः सहस्यरात्रयः ताः (षष्ठी तत्पुरुष)। **उदवासतत्परा** = तदेव परं प्रधानं यस्या सा (बहुव्रीहि) तत्परा। उदके वास उदवासः (यहाँ 'पेषं वासवाहनधिषु च' सूत्र के उदक के स्थान उद् आदेश हो जाता है।) उदवासे तत्परा उदवास तत्परा (सप्तमी तत्पुरुष)। **परस्पराक्रन्दिनि** = परम् परम इति **परस्परम्**—जब 'एक दूसरे' का अर्थ प्रकट करना अभीष्ट हुआ करता है तब अन्य, पर, इतर और उत्तर सर्वनामों को द्वित्व हो जाया करता है—अतः यहाँ पर 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये' इस वार्त्तिक सूत्र से 'परम् सर्वनाम को द्वित्व हो गया है। इसके अनन्तर 'असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः के सुप को सु हो जाता है। फिर परस् + परम् = 'परस्परम्' बनता है। परस्परं आक्रन्दतीति परस्पराक्रन्दि, तस्मिन् परस्पराक्रन्दिनी। **पुर** = पूर्वस्मिन् भागे इति (पूर्व + असि) पुरः। यह एक अव्यय है। **चक्रवाकयोः** = चक्रवाकी च चक्रवाकश्च: इति चक्रवाकौ (यहाँ "पुमान् स्त्रिया" से एक शेष हो गया है।) तयोः चक्रवाकयोः। स्त्री तथा पुरुषवाचक शब्दों में एकशेष करने समय पुरुषवाचक शब्द ही शेष रहता है। **कृपामती** = कृपा अस्ति अस्या इति।

टिप्पणियाँ—**अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः** अत्यधिक बर्फ की वर्षा करने वाली वायु से युक्त अर्थात् बर्फीली हवा से युक्त। यह 'रात्रीः' का विशेषण है।

हिम=वर्फ, **उत्किराः**=वरसाने वाली । **सहस्यरात्रीः**=पौषमास की रा को । **सहस्य**=पूस । **उदवासतत्परा**=जल में खड़ी रहने वाली । **तत्पर** संलग्न । **परस्पराक्रन्दिनी**=एक-दूसरे से मिलने के लिये रोते (चिल्लाते) **पुरः**=समक्ष, सामने । यह अव्यय है । **वियुक्ते**=एक-दूसरे से पृथक् । 'मिथुने' का विशेषण है । **चक्रवाकयोः**=चकवा और चकवी के । इस पक्षी सबसे वड़ी विशेषता यही है कि इसका जोड़ा सम्पूर्ण दिन साथ-साथ रह तथा रात्रि में दोनों (चकवा चकवी) एक-दूसरे से पृथक् रहा करते हैं । मिथु जोड़े में अथवा जोड़े के प्रति । **कृपावती**=दया का भाव रखने वाली । नि =व्यतीत करती थी । भाव यह है कि रात्रि के समय चकवा चकवी के की वियोगावस्था तथा परस्पर एक-दूसरे से मिलन की इच्छा के चिल्लाते हुये देखकर उसका (पार्वती का) हृदय दया से आर्द्र हो जात और उसकी पूर्ण सहानुभूति उस जोड़े के प्रति थी ॥२६॥

* * *

प्रसङ्ग—इतनी उग्र तपस्या करने पर भी पार्वती का मुख पूर्ण उज्जवल, निर्मल तथा सौन्दर्य की आभा से युक्त ही दिखलाई पड़ता था—

मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि
प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ।
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसंपदाम्
सरोजसंधानमिवाकरोदपाम् ॥२७॥

अन्वयः– सा निशि पद्मसुगन्धिना प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना मुखेन तु वृष्टि क्षतपद्मसंपदां अपां सरोजसंधानं अकरोत् इव ॥२७॥

संस्कृत-व्याख्या—सा=पार्वती, निशि=रात्रौ, पद्मसुगन्धिना=क सुरभिणा, प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना=प्रकम्पमानोष्ठदलशोभिना, मुखेन=व तुषारवृष्टिक्षतपद्मसंपदाम्=तुहिनवर्षानाशितसरोजसम्पत्तीनाम्, अपा जलानां, सरोजसंधानम्=पद्मसंघट्टनम्, अकरोत् इव=व्यधत्त इव । य सरसि पार्वती तपः समाचारति स्म, तस्मिन् हिमपातेन पद्मानि नष्टानि ब पद्मानां विनाशेन तस्य सरस्य सौन्दर्यं अपि नष्टं अभूत् किन्तु पार्वत्याः मु

जले पतितेन प्रतिबिम्बेन तत् सौन्दर्यं पूर्णतामिव अगच्छत् । तदाननप्रतिबिम्बेन सरः कमलपूर्णमिव प्रतीयते स्म इति भावः ।

भाषा—वह पार्वती रात्री के कमल सदृश सुगन्धित तथा काँपते हुए कमल के पत्ते नीचे के ओठ से सुशोभित मुख द्वारा कुहरे की वर्षा से नष्ट कमल रूपी सम्पत्ति वाले पानी में मानो (नूतन) कमलों की परम्परा (संघटन) को बनाती थी ।

भावार्थ—जाड़े की रात्रि में जल में रहते समय पार्वती का केवल मुख ही दिखलाई पड़ता था । शीत के कारण उसका ओष्ठ रूपी दल कम्पन करता था तथा कमल के सदृश सुगन्धित निश्वासवायु से वह दिशाओं को सुगन्धित करती थी । ऐसा ज्ञात होता था कि मानो हेमन्त ऋतु में कमलों के नष्ट हो जाने पर पार्वती के मुख रूपी कमल से ही उस सरोवर की कमल सम्पत्ति अटूट रह गई हो ।

अलङ्कार—इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । 'अधरपत्र' तथा 'मुखपद्म' में एकदेशी रूपक अलङ्कार भी है । साथ ही—सरोवर में विद्यमान कमल हिम से नष्ट हो गये थे किन्तु पार्वती का मुखकमल नष्ट नहीं हुआ—इसमें व्यतिरेक नामक अलङ्कार भी दृष्टिगोचर होता है ।

व्याकरण—प्रवेपमानाधरपत्रशोभिता = प्र + वेप् + शानच्–प्रवेपमान (कांपते हुए) प्रवेपमानाधरपत्र = शुभ + णिनि । अपाम् = नित्यबहुवचनान्त 'आप शब्द के षष्ठी विभक्ति का बहुवचन का रूप है ।' आप सुमनसो वर्षाः अप्सराः सिकताः समाः । ऐते स्त्रियां बहुत्वे स्युरेकत्वेप्युत्तरत्रयम्' सरोज = सरस् + जन् + उ । संधान = सम् + धा + ल्युट् ।

समास आदि—पद्मसुगन्धिना = सुशोभिनः गन्धः अस्य इति सुगन्धि—यहाँ बहुव्रीहि समास में समासान्त इ हो जाता है—"गन्धस्येत् उत्पूतिसुसुरभिभ्यः' से जब उत्, पूति और सु पूर्वपद में होते हैं जब गन्ध के स्थान पर गन्ध + इ = गन्धि हो जाता है । पद्ममिव सुगन्धि पद्मसुगन्धि तेन । "उपमानानि सामान्यवचनैः" से यहाँ उपमिततत्पुरुष समास है । प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना = अधरः एकं पत्रम् (कर्मधारय) अधरापत्रम् । प्रवेपमानं अधरपत्रं (कर्मधारय) प्रवेपमानाधरपत्रम् तेन शोभते इति प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना । तुषारवृष्टिक्षतपद्मसंपदाम्

=तुषारस्य वृष्टिः, तुषारवृष्टिः तुषारवृष्ट्या क्षताः (नष्ट कर दिया) पद्मा एव सम्पदो यासां ता, तासाम् । **सरोजसन्धानम्**=सरसि जातानि सरोजा (यहाँ तत्पुरुषे कृति बहुलम्" सूत्र से सप्तमी विभक्ति का अलुक विकल्प होता है । जब अलुक नहीं होता है—तब 'सरोज' तथा जब अलुक हो जा करता है तब 'सिज' रूप बना करता है ।) सरोजानां सन्धानं सरोजस नम् तत् ।

टिप्पणियाँ—पद्मसुगन्धिना= कमल के सदृश सुगन्धित । यह 'मुखेन' विशेषण है । **प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना**=कम्पन करते हुए पत्ते रूपी नीचे ओष्ठ से सुशोभित । अधर नीचे का ओष्ठ । यहाँ पर पत्र शब्द कमल पंखुड़ी का वाचक है । कमल के पत्र (पंखुड़ी) के सदृश पार्वती का नीचे ओष्ठ शीत की अधिकता के कारण कम्पन कर रहा था । **तुषारवृष्टिक्षतपद्मसं पाम्**=पाले के गिरने के कारण नष्ट हुये कमल रूपी सम्पत्ति वाले । यह वि षण "अपाम्" का है । पाले के गिरने से कमल नष्ट हो जाया करते हैं । जि जलाशय में खड़े होकर पार्वती तप कर रही थी—उस जलाशय में विद्यमा कमल हिम की वर्षा के कारण नष्ट हो गये थे । जलाशय की शोभा कमल से ही होती है । अतएव कमल सरोवर की सम्पत्ति कहे जाते हैं । **अपाम्**= जल की । **सरोजसन्धानम्**=कमलों की परम्परा अथवा कमलों की पं (श्रेणी), अथवा कमलों का संघठन । यह "अकरोत्" क्रिया का कर्म है पार्वती जिस सरोवर में तपस्या कर रही थी उस सरोवर के कमल हिम वर्षा के कारण नष्ट हो गये थे । उनके नष्ट हो जाने के कारण तालाब जल की शोभा भी समाप्त प्रायः हो गई थी । पार्वती का मुख तो कमल सदृश सौन्दर्य से युक्त था । तालाब के जल में जब उसकी प्रतिच्छाया पड़ती थी तो वह प्रतिबिम्ब भी साक्षात् कमल ही प्रतीत होता था । अतएव महाक कालिदास ने यहाँ उत्प्रेक्षा करते हुए लिखा है कि—मानो पार्वती ने अपने मु से तालाब के जल की शोभा को पूर्ण कर दिया था, सौन्दर्य के अतिरिक्त कम के सदृश सुगन्धि से भी उस पार्वती का मुख सुगन्धित था तथा जिस भाँ कमल के दल (पखुड़ियाँ) हिला करते हैं उसी भाँति सर्दी के आधिक्य के कार

पार्वती का नीचे का ओष्ठ भी कम्पन करता था इस भाँति पार्वती का मुख सौन्दर्य में कमल की अपेक्षा किसी भी दशा में कम न था ॥२७॥

* * *

प्रसङ्ग—अब पार्वती का तप चरमसीमा पर पहुँच रहा था—

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां
वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदां ॥२८॥

अन्वयः—स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता तपसः पराकाष्ठा हि । तया पुनः तत् अपि अपाकीर्णम्, अतः पुराविदः प्रियंवदां तां अपर्णा इति च वदन्ति ॥२८॥

संस्कृत-व्याख्या—स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता = स्वतश्च्युतवृक्षपत्रवर्त्तनत्वं, तपसः = व्रतस्य, पराकाष्ठा हि = परं उत्कर्षः हि, तया = पार्वत्या, पुनः = भूयः, तत् अपि = पर्णवर्त्तनं अपि, अपाकीर्णम् = दूरी कृतम्, अतः = अस्मात् कारणात् पर्णभक्षणत्यागात् हेतोरित्यर्थः, प्रियंवदाम् = प्रियभाषिणीं, ताम् = पार्वतीं, पुराविदः = पुराणज्ञाः, अपर्णा इति च, वदन्ति = कथयन्ति । स्वयमेव पतितैः वृक्षाणां जीर्णपत्रैः उदरपोषणं, तपश्चर्यायः चरमसीमा उच्यते । तया पार्वत्या तु पुनः स्वयं पतितानां जीर्णपत्राणां भक्षणमपि परित्यक्तम् । अतएव पूर्ववृतान्तवेदिनः मधुरभाषिणीं तां पार्वतीं 'अपर्णा' इति कथयन्ति ।

भाषा—अपने आप वृक्षों से गिरे हुए पत्तों के द्वारा जीवन निर्वाह करना तपस्या की चरम सीमा कही जाती है । किन्तु उस (पार्वती) ने तो उसको (उन पत्रों को खाना) भी त्याग दिया था । इसी कारण पुरातत्त्ववेत्ता उस मधुरभाषिणी (पार्वती) को 'अपर्णा' इस नाम से भी कहते हैं ।

भावार्थ—'वृक्षों से गिरे हुए स्वयं पत्तों को खाकर अपने शरीर को पोषण करना" सर्वोत्कृष्ट तप कहा जाता है । किन्तु पार्वती ने उन पत्तों का खाना भी छोड़ दिया था । (इस भाँति उसके तप की यह महती पराकाष्ठा थी ।) इसी कारण विद्वानों द्वारा उसे 'अपर्णा' नाम से भी पुकारा गया अथवा कहा गया ।

व्याकरण—विशीर्ण - वि + शृ + क्तः । क्त के त को न और तद न को ण हो जाता है । शृ के ऋ के स्थान पर "ईर्" आदेश हो जाता वृत्तिता = वृत्ति + ता (भाव में तल् प्रत्यय) । **अपाकीर्णम्** = अप् + आ + क्त । **पुराविदः** = पुरा + विद् + क्विप् । **प्रियंवदाम्** = प्रिय + वद् + ख टाप् । यहाँ "प्रियंवशे वदः खच् से खच्" प्रत्यय होता है और तद "अरुर्द्विशदजन्तस्य मुम्" से 'मुम्' होकर उसके म् को अनुस्वार हो जाता

समास—स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता = द्रुमाणां पर्णानि द्रुमपर्णानि; विशीर्णानि द्रुमपर्णानि स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णानि । तानि वृत्तिः यस्य सः विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिः तस्य भावः स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता । **पुराविदः** = (वृत्तम्) विदन्ति इति पुराविद्—बहुवचन में—पुराविदः । **प्रियंवदाम्** = वदतीति प्रियंवदा ताम् । **अपर्णा** = न पर्णानि यस्या सा अथवा अवि भक्ष्यत्वेन पर्णम् अपि यस्याः सा ।

टिप्पणियाँ—स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता = अपने आप गिरे हुये वृक्षों पत्तों द्वारा जीवन-निर्वाह करना । **विशीर्ण** = गिरे हुये—टूटे हुये । पत्तों तोड़ने से वृक्षों को कष्ट होगा—इस भय से पार्वती वृक्षों के पत्तों को नहीं करती थी । इसी कारण वह स्वयं गिरे हुये पत्तों को खाकर अपना पोषण किया करती थीं । **वृत्तिता** = जीविका का साधन । **पराकाष्ठा** = सीमा—अन्तिम स्थिति । **परा** = अन्तिमः चरमा । **काष्ठा** = सीमा—'का उत्कर्षे स्थितौ दिशि" इत्यमरः । व्रत अथवा तप की अन्तिम स्थिति अ सीमा—जिससे कठोर तप और होना सम्भव नहीं है । **अपाकीर्णम्** = दिया, त्याग दिया । **अतः** = इसी कारण, इसीलिये । **पुराविदः** = पुरानी के ज्ञाता; पुरातत्त्ववेत्ता । **प्रियंवदाम्** = प्रिय वचनों को बोलने वाले । कठोर तपस्या में वर्तमान होने पर भी पार्वती सदैव प्रिय वचनों का ही हार करती रही । **अपर्णा** = पत्तों का खाना भी छोड़ देने वाली । यहां लक्षणा के द्वारा पर्ण शब्द का अर्थ पर्ण भक्षण करने वाली है । "अप पार्वती के अनेक नामों में से एक है "अपर्णा पार्वती दुर्गा मृडानि चण्डि म्बिका इत्यमरः । शिवपुराण में भी—"चतुर्थे त्यक्तपर्णा च अपर्णाख्याम सा" ॥२८॥

प्रसङ्ग—इस प्रकार के अपने कठोर तप के द्वारा पार्वती ने अन्य सिद्ध-पुरुषों के तप को भी नीचा दिखला दिया—

मृणालिकापेलवमेवमादिभि-
व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम् ।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं
तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥२६॥

अन्वयः—मृणालिकापेलवं स्वं अङ्गम् एवमादिभिः व्रतैः अहर्निशं ग्लपयन्ती सा (पार्वती) कठिनैः शरीरैः उपार्जितं तपस्विनां तपः दूरं अधश्चकार ॥२६॥

संस्कृत-व्याख्या—मृणालिकापेलवम् पद्मिनीकन्दकोमलम्, स्वम्=स्वकीयम्, अङ्गम्=शरीरम्, एवमादिभिः=पूर्वोक्तप्रकारेणतोयाग्निमध्यसादिभिः, व्रतैः नियमैः, अहर्निशम्=अहोरात्रम्, ग्लपयन्ती कर्शयन्ती, सा=पार्वती, कठिनैः=कठोरैः क्लेशसहैरित्यर्थः, शरीरैः=देहैः, उपार्जितम्=सम्पादितम्, तपस्विनाम्=तापसानां, तपः=नियमविशेषम, दूरम्=अत्यधिकम्, अधश्चकार =तिरश्चकार । कमलकन्दसदृशं स्वकीयं शरीरं पूर्वोक्तप्रकारैः जलाग्निमध्यवासैः उपवासादिभिश्च नियमैः रात्रिन्दिवं शोषयन्ती पार्वती अन्येषां महर्षीणां तपोऽत्यन्त तिरश्चकार ।

भाषा—कमलिनी के सामने अपने कोमल अंगों को उपर्युक्त प्रकार के (अग्निवास, उपवास तथा जलवास आदि) कठोर व्रतों के द्वारा दिन-रात अपने शरीर को शोषित (दुर्बल) करती हुई उस पार्वती ने तपस्वियों के अपने कठोर शरीरों से किये गये तप को भी अत्यन्त तुच्छ कर दिया ।

भावार्थ—पार्वती ने अपने कमल सदृश कोमल शरीर को जलवास, अग्निवास, उपवास आदि व्रत के कठोर नियमों के द्वारा अत्यन्त कृश बना दिया था । उसके इस कठोर तप से ऋषि-मुनियों के और तपस्वियों का कठोर तप भी तुच्छ हो गया था । तात्पर्य यह है कि पार्वती का तप तपस्वियों आदि के तप की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ तथा उत्तम था ।

व्याकरण—मृणालिका=मृणाल+कन् (अल्प अर्थ में)+टाप् (स्त्रीलिङ्ग में) । ग्लपयन्ती=ग्लै णिच्+शतृ+ङीप् । उपार्जितम्=उप+अर्ज+णिच्

+क्त । **तपस्विनाम्**=तपस् + विनि । **अधः**=यह एक अव्यय है । **चकार**= कृ + लिट्—प्रथम पुरुष एकवचन का रूप ।

समास—मृणालिकापेलवम्=मृणालिका इव पेलवम् इति । **एवमादिभिः**= एवं आदिः येषां तानि एवमादीनि तैः (बहुव्रीहि) । **अहर्निशम्**=अहश्च निशा च इति अहर्निशम् । यहाँ पर "सर्वो द्वन्द्वो विभाषया एकवद्भवतीति वाच्यम्" नियम से समाहार द्वन्द्व नपुंसकलिङ्ग तथा एकवचन हो गया है । साथ ही "अन्त्यसंयोगे द्वितीया" के नियमानुसार द्वितीया हुई है । **तपस्विनाम्**=तपः अस्ति येषां ते तपस्विनाम् ।

टिप्पणियाँ—मृणालिकापेलवम् = कमलिनी के सदृश कोमल । यह "अङ्गम्" (शरीर) का विशेषण है । अथवा कमलकन्द के समान कोमल= **मृणाल**=कमलकन्द । **पेलव**=कोमल । **स्वम्**=अपने । आत्मा आत्मीय ज्ञाति धनवाची स्वशब्दः—"स्व ज्ञातौ आत्मनि स्व त्रिषु आत्मीये स्वोऽस्त्रियां धने" इत्यमरः । "स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्" इस सूत्र से ज्ञाति और धन अर्थ से अतिरिक्त अर्थात् आत्मा तथा आत्मीय अर्थ में "स्व" शब्द की सर्वनाम संज्ञा बहुवचन में विकल्प करके हुआ करती है । **एवमादिभिः**=ऊपर कहे गये अग्नि, जल के बीच में वास इत्यादि प्रकारों के द्वारा । **अहर्निशम्**=रात-दिन । **ग्लपयन्ती**=थकाती हुई । यह "सा" का विशेषण है । **उपार्जितम्**=पैदा किये हुये, अर्जित । यह "तपः" का विशेषण है । **तपस्विनाम्**=तपस्वियों अथवा मुनियों के । **अधश्चकार**=तुच्छ कर दिया, नीचा कर दिया, मात कर दिया । **अधः**—नीचे, चकार—कर दिया । इस क्रिया का कर्त्ता 'सा' है तात्पर्य है कि पार्वती ने कोमल शरीर की कोई चिन्ता नहीं की—इसके विपरीत उन्होंने ऐसी कठोर तपस्या की कि जैसी तपस्या का तपस्वियों के द्वारा भी किया जाना सम्भव प्रतीत नहीं होता है ।।२९।।

प्रसङ्ग—इसी समय पार्वती की घोर तपस्या से (प्रभावित होकर) ब्रह्मचारी का वेश धारण कर (शिवजी) जटाधारी तपस्वी पार्वती की परीक्षा लेने के निमित्त पार्वती के तपस्या-स्थल पर आता है—

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्-
ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥३०॥

अन्वयः—अथ अजिनाषाढधरः, प्रगल्भवाक् ब्रह्ममयेन तेजसा ज्वलन् इव कश्चित् जटिलः शरीरबद्धः प्रथमाश्रमः यथा तपोवनं विवेश ॥३०॥

संस्कृत-व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, अजिनाषाढधरः = मृगचमपलाशदण्डधरः, प्रगल्भवाक् = प्रोढवचनः, ब्रह्ममयेन = वैदिकेन तेजसा, कश्चित् = कोऽपि, जटिलः = जटावान् ब्रह्मचारी इति शेषः, शरीरबद्धः = शरीरः, शरीरवानित्यर्थः, प्रथमाश्रम यथा ब्रह्मचर्याश्रम इव तपोवनं = (पार्वत्याः) तपः स्थल, विवेश = प्रविष्टान् । यदा दुष्करे तपसि पार्वती संलग्ना आसीत् तदा एकः कृष्ण-मृगचर्मपलाशदण्डधारी भाषणकुशलः ब्रह्मतेजसा देदीप्यमानः मूर्तिमान् ब्रह्मचर्याश्रम इव प्रतीयमानः कश्चित् जटाधारी अज्ञातः पुरुषः तस्याः आश्रमं प्रविष्टोऽभूत् ।

भाषा—इसके अनन्तर काले हरिण के चमड़े तथा पलाशदण्ड को धारण किये हुये, वाक्पटु, अपने ब्रह्मतेज से देदीप्यमान, कोई जटाधारी (ब्रह्मचारी) शरीरधारी ब्रह्मचर्य आश्रम के सदृश उस (पार्वती के) तपोवन में प्रविष्ट हुआ ।

भावार्थ—जब पार्वती अपने दुष्कर तप में संलग्न थी तो उस समय एक अज्ञात जटाधारी पुरुष उसके आश्रम में आया । यह ब्रह्मचारी काले हरिण के चमड़े को पहने हुये था तथा हाथ में पलाशदण्ड को लिये था । उसकी आवाज में गम्भीरता थी तथा वह ब्रह्म तेज से देदीप्यमान हो रहा था । ऐसा मालूम होता था कि मानो ब्रह्मचर्य आश्रम ही शरीर धारण करके उस तपोवन में प्रविष्ट हुआ हो ।

अलङ्कार—इस पद्य में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है ।

व्याकरण—आषाढ = आषाढ + अण्—यहाँ "विशाखाषाढदण्मन्थदण्डयोः" से 'अण्' हुआ है । धरः = धृ + अच् । **ब्रह्ममयेन** = ब्रह्ममयेन + मयट्—यहाँ 'मयट् च' सूत्र से 'मयट्' होता है । 'मयट्' प्रत्यय प्रायः "बनें हुये" अर्थ में

प्रयुक्त हुआ करता है किन्तु इस स्थल पर 'ततः आगतम्' के अर्थ में (ब्रह्म से प्राप्त आया हुआ) आया है। **ज्वलन्** = ज्वल् + शतृ। **जटिल** = जटा + इलच्। **विवेश** = विश् + लिट्—प्रथम पुरुष एकवचन का रूप।

समास—अजिनाषाढधरः आषाढः प्रयोजनस्य आरूढ धरतीति धरः, अजिनं च आषाढश्च अजिनाषाढौ तयोः धरः अजिनाषाढधरः। **प्रगल्भवाक्** = प्रगल्भा वाक् यस्य सः। **ब्रह्ममयेन** = ब्रह्मणः आगतम् ब्रह्ममयं तेन। **जटिलः** = जटाः सन्ति यस्य सः जटिलः। **शरीरबद्धः** = बद्धं शरीरं येन स (बहुव्रीहि)। यहाँ समास होने पर निष्ठान्त "बद्ध" शब्द के पूर्वपद में होने के कारण "बद्ध शरीरः" बनना चाहिये था परन्तु "वा आहिताग्न्यादिषु" सूत्र से निष्ठान्त शब्द विकल्प करके पूर्वपद के स्थान पर रखा जाया करता है। अतः "बद्धशरीरः" अथवा "शरीरबद्धः" दोनों ही रूप शुद्ध है। **प्रथमाश्रमः** = प्रथमश्चासौ आश्रमः (कर्मधारयः)। **तपोवनम्** = तपसः वनं तपोवनम्।

टिप्पणियाँ—**अथ** = इसके पश्चात्, अनन्तर। पार्वती द्वारा की गई तपस्वियों की उपेक्षा और भी अधिक कठोर तपस्या के अनन्तर। इस स्थल पर 'अथ' का प्रयोग नवीन प्रसंग के आरम्भ का द्योतक है। 'मङ्गलानन्त-आरम्भ प्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ" इत्यमरः। **अजिनाषाढधरः** = कृष्ण वर्ण के मृग के चर्म की तथा पलाश (ढाक) के दण्ड को धारण किये हुये। अजिन = काले हरिण का चमड़ा। आषाढ = पलाश के दण्ड। तपस्वीजनों द्वारा धार्मिक कार्यों के निष्पन्न करने हेतु आषाढ के महीने में पलाश के दण्ड को धारण किया जाया करता है। अतः इस पलाश दण्ड का ही नाम आषाढ पड़ गया। ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिये भी पलाश दण्ड धारण किया जाना विधि समान है। अतः ब्रह्मचारी वेषधारी शिवजी पलाश दण्ड को धारण किये हुये थे। उन्होंने इस कारण ब्रह्मचारी के वेष को धारण किया था कि जिससे उनको कोई पहचान न सके। **प्रगल्भवाक्** = बोलने में प्रवीण, चतुर वाक्पटु "प्रगल्भः प्रतिभान्विते" इत्यमरः। **ब्रह्ममयेन** = ब्रह्म से प्राप्त (आये हुये)—यहाँ ब्रह्म शब्द 'वेद' के अर्थ में प्रयुक्त है। यह 'तेजसा' का विशेषण है। 'इव' का प्रयोग यहाँ अवधारणार्थ हुआ है। **जटिलः** = जटाधारी। 'जटाओं का धारण करना' भी ब्रह्मचारी का एक लक्षण अथवा चिह्न है। "मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाधरः" मनुस्मृति। **शरीरबद्धः** = शरीर धारण किये हुये, शरीरी, मूर्तिमान्। **प्रथमाश्रमः** = पहला

आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम । आश्रम चार माने गये हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास । तपोवनम = तपोवन में । विवेश = प्रविष्ट हुआ—आया ।।३०।।

* * *

प्रसङ्ग—इसके आ जाने पर पार्वती ने उसका यथोचित सत्कार किया—

तमातिथेयी वहुमानपूर्वया
सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां
वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ।।३१।।

अन्वयः— आतिथेयी पार्वती तं वहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय । साम्ये निविष्टचेतसामपि वपुर्विशेषेषु अतिगौरवाः क्रियाः भवन्ति ।।३१।।

संस्कृत-व्याख्या—आतिथेयी = सत्कारिणी, पार्वती = गौरी, तम् = ब्रह्मचारिणं, वहुमानपूर्वया = अतिसम्मानपूर्वया, गौरवपूर्णया इत्यर्थः, सपर्यया = अर्चया, प्रत्युदियाय = प्रत्युज्जगाम, साम्ये निविष्टचेतसाम् = स्थिरचित्तानामपि, वपुर्विशेषेषु = व्यक्तिविशेषेषु, अतिगौरवः = अतिगौरवयुक्ता, क्रिया = चेष्टाः, भवन्ति = प्रवर्तन्ते । अतिथिसत्कारे पार्वती अति निपुणा आसीत् । सा आभ्यागतं तं ब्रह्मचारिणं सादरं पूजितवती । सर्वत्रसमवृद्धीनां उदार तेजसां तेजो विशेषयुक्तेषु शरीरेषु अतिगौरवायुक्ताः । सत्कारविधयः उपपद्यन्ते ।

भाषा—अतिथि-सत्कार करने में अत्यन्त चतुर पार्वती ने अत्यधिक सम्मान से युक्त पूजा के (अतिथि सत्कार के) साथ उस ब्रह्मचारी का आगे बढ़कर स्वागत किया । (क्योंकि) समता में लगे हुये मन वाले व्यक्तियों के कार्य विशेष व्यक्तियों के लिये अधिक आदर युक्त हुआ करते हैं ।

भावार्थ—अतिथि सत्कार करने में पार्वती अत्यधिक निपुण थी, अतः जैसे ही उस ब्रह्मचारी अतिथि ने उसके तपोवन में प्रवेश किया, वैसे ही वह उसके सत्कार के निमित्त आगे बढ़ी और यथोचित सत्कार किया, क्योंकि समता का भाव रखने वाले उदारमन व्यक्तियों का ब्रह्म तेज से युक्त व्यक्ति विशेष के प्रति अत्यन्त गौरवपूर्ण आदर सत्कार हुआ करता है ।

अलङ्कार—उक्त पद्य में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

व्याकरण—आतिथेयी = अत + ईथिन् = अतिथि। 'अतिथिषु साध्वी'—इति—यहाँ पर "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" से ढञ् प्रत्यय पुनः ढ के स्थान पर 'एय' आदेश—तदनन्तर स्त्रीलिङ्ग में 'टिड्ढाणञ्द्वयसज'······इत्यादि सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर—अतिथि + एय + ङीप् (ई) = आतिथेयी वनता है। **प्रत्युदियाय** = प्रति + उद् + इ + लिट् = प्रथम पुरुष एक वचन का रूप। **साम्ये** = सम + ष्यञ्। निविष्ट = नि + विश् + क्त। **गौरव** = गुरु + अण्।

समास आदि—आतिथेयी = अविद्यमानः तिथिर्यस्य इति अतिथिः अथवा अतति सातत्येन गच्छति इति अतिथि—अतिथिषु साध्वी आतिथेयी। पुल्लिङ्ग में "आतिथेयः" वनता है। **बहुमानपूर्वया** = वहुश्चासौ मानः बहुमानः (कर्मधारय), बहुमानः पूर्वः यस्याः सा तथा (वहुव्रीहि)। **साम्ये** = समस्य भावः साम्यम् तस्मिन्। **निविष्टचेतसाम्** = निविष्टं चेतो येषां ते निविष्टचेतसः तेषाम्। **वपुर्विशेषेषु** = वपुषां विशेषाः इति वपुर्विशेषा तेषु अथवा वपुष्-विशेषाः इति वपुर्विशेषाः तेषु। **अतिगौरवाः** = गुरोः भावः गौरवम् अतिगौरवं यासु ताः—अथवा—अत्यन्त गौरव यासां ताः। **पार्वती** = पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती।

टिप्पणियाँ—आतिथेयी = अतिथिसत्कार में कुशल, चतुर। **बहुमानपूर्वया** = अति आदर-सत्कारपूर्वक। यह 'सपर्यया' का विशेषण है। **सपर्यया** = पूजा से (पूजा के भाव से युक्त होकर)। **प्रत्युदियाय** = उस (ब्रह्मचारी) की ओर आगे बढ़ी। इस क्रिया का कर्त्ता पार्वती है। इण् धातु का अर्थ 'जाना' होता है। इसके रूप—ऐति, इतः, यन्तिः, इयाय, एष्यति, अगात् इत्यादि प्रकार से चलते हैं। **साम्ये** = समानता में, बराबरी में। **निविष्टचेतसाम्** = स्थिरचित वालों का—सबको समान दृष्टि से देखने वालों का। अपि शब्द का प्रयोग 'निष्टिचेतसाम्' के साघ किये जाने पर अर्थ होता है—सबको समदृष्टि से देखने वालों का भी। तथा यदि इस 'अपि' का योग 'साम्ये' के साथ किया जाय तो अर्थ होगा—क्रिया की समानता होने पर भी स्थिर मन वालों का **वपुर्विशेषेषु** = विशेष शरीर वालों के प्रति—अर्थात् महान् पुरुषों के प्रति। **अतिगौरवाः** = अत्यन्त गौरव से युक्त—अति आदरणीय। यह 'क्रिया' का

विशेषण है । क्रियाः = कार्य, चेष्टायें । भाव यह है कि सबको समान दृष्टि से देखने वाले समदर्शी व्यक्ति भी विशिष्ट व्यक्तियों का यथोचित सत्कार किया ही करते हैं ।।३१।।

प्रसङ्ग—यथोचित सत्कार प्राप्त करने और कुछ विश्राम कर लेने के पश्चात् ब्रह्मचारी ने पार्वती से तपस्या करने का कारण पूछा—

विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां
परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम् ।
उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा
प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः ।।३२।।

अन्वयः—सः विधि प्रयुक्तां परिगृह्य क्षणं परिश्रमं च विनीय नाम, (अथ) उमाम् ऋजुना एव चक्षुषा पश्यन् अनुज्झितक्रमः सन् वक्तुं प्रचक्रमे ।।३२।।

संस्कृत-व्याख्या—सः = ब्रह्मचारी, विधिप्रयुक्तां = विधिनाऽनुष्ठितां सत्क्रियां = सपर्यां, परिग्रह्य = स्वीकृत्य, क्षणं = कञ्चित् कालं, परिश्रमं च = खेदं च, विनीय = दूरीकृत्य, (अथ = अनन्तरम्), उमाम् = गौरीम्, ऋजुना एव = विलासरहितेन एव, चक्षुषा = नेत्रेण, पश्यन् = अवलोकयन्, अनुज्झितक्रमः = अत्यक्तोचित परिपाटीकः सन्, वक्तुं = भाषितुं प्रचक्रमे = प्रारेभे । स ब्रह्मचारी शास्त्रोक्तविधिपूर्वककृतां सत्क्रियां स्वीकृत्य कञ्चित् कालं परिश्रमं च अपनीय विलासरहिताभ्यां नेत्राभ्यां पार्वतीमुखं पश्यन् कुशलं प्रश्नानन्तरं क्रमशः तपश्चरण कारणप्रश्नपर्यन्तं वक्तुं आरब्धवान् ।

भाषा—उस ब्रह्मचारी ने विधिपूर्वक की गई पूजा को स्वीकार करके तथा क्षणभर में रास्ते की थकावट को दूर करके पार्वती की ओर विलास-रहित सरल दृष्टि से देखते हुए तथा उचित शिष्टाचार का त्याग न करते हुए कहना प्रारम्भ किया ।

भावार्थ—आये हुये अथिति (शिव) ने पार्वती द्वारा शास्त्रोक्त विधिपूर्वक की गई हुई पूजा को स्वीकार करने के पश्चात् कुछ थोड़ा-सा विश्राम किया तथा अपनी रास्ते की थकावट को भी दूर कर लिया । तदनन्तर उन्होंने

सरल दृष्टि से पार्वती की ओर देखा तथा शिष्टाचारपूर्वक उससे कहना प्रारम्भ किया।

व्याकरण—**प्रयुक्ताम्** = प्र + युज् + क्त + टाप् (स्त्रीलिङ्ग में)। **सत्क्रियाम्** = सत् + कृ + श—भाव में सत्क्रिया। **परिगृह्य** = परिगृह्य + ल्यप्। **परिश्रमम्** = परि + श्रम + घञ्—भाव में = परिश्रमः। **विनीय** = वि + नी + ल्यप्। **पश्यन्** = दृश् + शतृ। **अनुज्झितक्रमः** = उज्झ + क्त = उज्झित। **प्रचक्रमे** = प्र + क्रम् + लिट्—प्रथम पुरुष एकवचन का रूप।

समास—**विधिप्रयुक्ताम्** = विधिना प्रयुक्ता विधि प्रयुक्ता ताम् (तृतीया-तत्पुरुष)। **सत्क्रियाम्** = सती क्रिया सत्क्रिया ताम् (कर्मधारय)। **अनुज्झितक्रमः** = न उज्झितः क्रमः येन सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**विधिप्रयुक्ताम्** = विधि पूर्वक की गई हुई (शास्त्र में बतलाई गई विधि के अनुसार)। **विधि** = उचित प्रकार (ढंग)—"विधिविधाने दैवेच" इत्यमरः। यह सत्क्रियाम् का विशेषण है। **सत्क्रियाम्** = पूजा, आदर सत्कार को "आदरानादरयोः सदसती" नियम के अनुसार 'सत्' का अर्थ 'आदर' किया जाता है। "सम्महत् परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः"। यह परिगृह्य का कर्म है। **परिगृह्य** = स्वीकार करके। **क्षणम्** = थोड़े समय के लिये। "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" सूत्र में वर्णित नियम के अनुसार यहाँ द्वितीया विभक्ति होती है। **परिश्रमम्** = थकावट को। यह 'विनय' का कर्म है। **विनीय** = दूर करके। **नाम** = (अपरमार्थे) केवल दिखावटी रूप में अर्थात् थकावट रहित होने का अभिनय करके। यह अव्यय है किन्तु इसके अर्थ अनेक हैं। यहाँ पर इसका अर्थ अवास्तविक रूप में—अर्थात् दिखावटी रूप में। यद्यपि ब्रह्मचारी (शिव) वस्तुतः थका नहीं था किन्तु फिर भी उसने पहले थके होने का और तदनन्तर पार्वती का आदर सत्कार प्राप्त कर उससे थकावट रहित होने का प्रदर्शन ही किया। **ऋजुना** = सरल, सीधी सादी। "ऋजावजिह्मप्रगुणौ" इत्यमरः। **पश्यन्** = देखता हुआ। यह 'सः' का विशेषण है। **अनुज्झितक्रमः** = शिष्टाचार की उचित रीति को न त्यागते हुये—अर्थात् शिष्टाचार पूर्वक। उज्झित—त्यक्त, क्रम—उचित आचार की रीति, प्रकार। वक्तुम्—कहना। प्रचक्रमे = आरम्भ किया। क्रम धातु से पूर्व जब कोई उपसर्ग नहीं लगता है तब उसके रूप परस्मै-

पद तथा आत्मनेपद दोनों में ही चलते हैं किन्तु जब इसके पूर्व 'प्र' अथवा 'उप' उपसर्ग जुड़ जाते हैं तब "प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्" सूत्र से आत्मनेपद में रूप चलते हैं तथा—प्र + क्रम अथवा उप + क्रम का अर्थ "प्रारम्भ करना" हो जाता है। किन्तु परस्मैपद में 'प्रकामति' का अर्थ जाना तथा उपक्रामति का अर्थ 'समीप आना' होता है। यहाँ आत्मनेपदी होने से "आरम्भ करना" ही अर्थ है ॥३२॥

◆

प्रसङ्ग—अब तीन श्लोकों में वह ब्रह्मचारी पार्वती से कुशल पूछता है। र्वंप्रथम तप के साधनों के वारे में प्रश्न करता है—

अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं
जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते ।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्त्तसे
शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥३३॥

अन्वयः—अपि क्रियार्थं समित्कुशं सुलभम्। अपि जलानि ते स्नानविधिक्षमाणि। अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवतसे। खलु शरीरं आद्यं धर्मसाधनं अस्ति) ॥३३॥

संस्कृत-व्याख्या—अपि=अत्र 'अपि' शब्द; प्रश्नार्थक; क्रियार्थं=होमादि र्माऽनुष्ठानाऽर्थम्, समित्कुशम्=काष्ठदर्भम्, सुलभम् ?=सुखेन लब्धुं शक्यम् ? पि जलानि=अम्बूनि, ते=तव, स्नानविधिक्षमाणि=मज्जन कर्म योग्यानि, च्चित् ? अपि, स्वशक्त्या=स्वसामर्थ्याऽनुसारेण एव, तपसि=तपः क्रियायां, वर्तसे=प्रवत्ता भवसि ? शरीरमपीडयित्वा तपश्चरसि कच्चिदित्यर्थः खलु= स्माद् हेतौ, शरीरं=देहं, आद्यं=प्रथमं, धर्म साधनम्=सुकृतोपकरणमस्ति। र्मस्तु शरीरेण, वाचा, बुद्धया, धनादिना च बहुभि; साध्यते। ऐषु शरीरमेव मुख्यं साधनमस्ति। सति शरीरे धर्माऽर्थकाममोक्षलक्षणाः चतुर्वर्गाः साध्यन्ते। स्मिन् विषये—"सर्वंत आत्मानं गोपायेत्" इति श्रुतिः। ब्रह्मचारिविषधारी वः पार्वतीं कथयति—यज्ञादिधार्मिककृत्यानां करणार्थं तव तपोवने दर्भाः मिधश्च प्राचुर्येण उपलभ्यन्ते ? तवाश्रमे विद्यमानानि जलानि स्नानविधि-योग्यानि बहूनि निर्मलानि च सन्ति ! स्वसामर्थ्यानुसारेण एव त्वं तपः करोषि ?

शरीरं पीडयन् तपः समाचरणं तु नोचितम् यतो हि शरीरं एव धर्मस्य प्रथमो करणमस्ति।

भाषा—क्या होमादि धार्मिक कार्यों के करने के लिये समिधायें तथा तो सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाते हैं? क्या (इस तुम्हारे तपोवन में) स्नान करने योग्य (उत्तम) जल तो प्राप्त हो जाता है? अपनी सामर्थ्य के अनु ही तप करती हो न? क्योंकि शरीर ही धार्मिक कृत्यों के करने का साधन है।

भावार्थ—ब्रह्मचारि वेषधारी शिव पार्वती से पूछता है कि—यज्ञ इत्या धार्मिक कार्यों को करने के लिये उसे इस तपोवन में आवश्यकतानुसार स धायें और कुश तो सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाया करते हैं? तपोवन के जला में स्नानादि करने योग्य स्वच्छ तथा निर्मल जल तो प्राप्य है? तुम सामर्थ्य के अनुसार ही तप इत्यादि का आचरण तो करती हो? शरीर कष्ट देकर तप करना सर्वथा अनुचित है क्योंकि धर्माचरण करने का प्र साधन तो स्वस्थ शरीर ही है। शरीर के स्वस्थ रहने पर ही चारों पुरुषा की सिद्धि की जा सकती है, अन्यथा नहीं। अतः शरीर की चिन्ता न करते तुमको तप नहीं करना चाहिये।

व्याकरण—**क्रियार्थम्**=कृ+श—भाव में, स्त्रीलिङ्ग में—क्रिया। क्रि +अर्थम्। **समित्कुशम्**=सम्+इन्ध+क्विप्=समिध। **सुलभम्**=सु+ल +खल्। यहाँ "ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु" खल् प्रत्यय होता है। जिस स्था पर कठिनता का अथवा सरलता का भाव रहता है वहाँ ईषद्, दुर् सु उप के साथ किसी भी धातु में 'खल्' प्रत्यय लगाया जा सकता है। दुष्कर, सु इत्यादि शब्दो का निर्माण 'खल्' प्रत्यय ही से होता है, **क्षम**=क्षम+अच् **आद्यम्**=आदि+यत्। **साधनम्**=सा+ल्युट्।

समास आदि—**क्रियार्थम्**=क्रियायै इदं क्रियार्थम् (नित्य समास) 'अ नित्यसमासो विशेष्य लिङ्गता च वक्तव्या' इस वार्तिक से नित्य समास हो है। अविग्रहो नित्यसमासः अस्वपदविग्रहो वा' अर्थात् नित्य समास में वि नहीं होता, यदि होता भी है तो उन शब्दों से नहीं कि जिनसे समास का निर्मा होता है। क्रिया+अर्थम्=क्रियार्थम्—यह दो शब्दों से मिलकर

किन्तु विग्रह 'अर्थम्' शब्द के साथ न होकर 'इदम्' शब्द के साथ होता है। मित्कुशम्=समिधश्च कुशाश्च समित्कुशम् (द्वन्द्व समास)। द्वन्द्व होने पर भी "जातिरप्राणिनाम्" से एक वचन होता है। सुलभम्=सु सुखेन लभ्यते इति लभम्। स्नानविधिक्षमाणि=स्नानस्य विधिः स्नानविधिः तस्मिन् क्षमाणि—नानविधिक्षमाणि। आद्यम्=आदौ भवम् इति आद्यम्। धर्मसाधनम्=साध्यते नेन इति साधनम्, धर्मस्य साधनम् धर्मसाधनम्।

टिप्पणियाँ—अपि=यह अव्यय है तथा यहाँ पर 'प्रश्न' के अर्थ में प्रयुक्त। इसके अनेक अर्थ होते हैं—'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासंभावनासु' इत्यमरः। पार्थम्=यज्ञ इत्यादि धार्मिक कार्यों को रोकने के लिये। समित्कुशम्=यज्ञ लिये समिधायें (लकड़ी) तथा कुश। समिधः=यज्ञ में काम आने वाली ड़ियाँ। सुलभम्=जो आसानी से प्राप्त किया जा सके। स्नानविधिक्षमाणि स्नान करने योग्य। स्वशक्त्या=अपनी शक्ति अथवा सामर्थ्य के अनुसार तते=प्रवृत्त होती है। खलु निश्चय ही। यहाँ अवधारण (निश्चय) अर्थ इसका प्रयोग हुआ है। आद्यम्=प्रथम, मुख्य। यह 'धर्मसाधनम्' का षण है। धर्मसाधनम्=धर्म (धार्मिक कृत्यों) का साधन ॥३३॥

◆

प्रसङ्ग—अब पार्वती द्वारा लगाई गई लताओं आदि के बारे में पूछता हुआ चारी कहता है—

अपि त्वदावर्जितवारि सम्भृतं
प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम्।
चिरोज्झिताऽलक्तकपाटलेन ते
तुलां यदारोहति दन्तवाससा ॥३४॥

अन्वयः—त्वदावर्जितवारिसम्भृतम् आसां वीरुधां प्रवालम् अनुबन्धि अपि ? चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते दन्तवाससा तुलां आरोहति ॥३४॥

संस्कृत-व्याख्या—त्वदावर्जितवारिसम्भृतम्=त्वत्सिक्तजलोत्पन्नम्, आसां [illegible]नाम्, वीरुधाम्=लतानाम्, प्रवालम्=पल्लवम्, अनुबन्धि अपि [illegible] किम्। यत्=प्रवालं, चिरोज्झितालक्तकपाटलेन=चिरत्यक्ता-

क्षारागश्वेतरक्तेन, ते = हस्तसम्वर्धितानां लतानां कुशलतां पृच्छन् ब्रह्म कथयति यत् त्वया सिञ्चितासु एतासु लतासु नवीनपत्राणि सर्वदा निर्ग न वा ? सः अग्रे पुनः कथयति यत् एतानि किसलयानि चिरकालःयक्तलाक्षा स्वाभाविकेन रक्तवर्णेन तत्र अधरोष्ठेन सादृश्यं प्राप्नुवन्ति ।

भाषा—तुम्हारे द्वारा दिये गये जल से पालित-पोषित और सं इन लताओं में उन नवीन पत्तों की उत्पत्ति निरन्तर होती ही रहती कि जो (नवीन पत्ते) बहुत समय से (तपश्चर्या करने के कारण) लाक्षारस लगाने पर भी (स्वाभाविक) रक्तवर्ण के तुम्हारे अधरोष्ठ की समान प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—पार्वती के द्वारा जिन लताओं को लगाया गया था तथा वह नित्य जल इत्यादि दिया करती थीं, उन लताओं के वारे में पूछता ब्रह्मचारी कहता है—आपके द्वारा सिञ्चित इन लताओं में सदैव नवीन निकला करते हैं अथवा नहीं ? कि जो पत्ते तुम्हारे लाक्षारस से रहित स्वाभाविक रक्तवर्ण के नीचे के ओष्ठ की समानता को प्राप्त किया करते

व्याकरण—आवर्जित = आ + वृज् + क्त । आङ् + वृज का अर्थ करना होता है। संभृत = सम् + भृञ् + क्त । वीरुधाम् = वि + रुह् + क्वि वीरुध्। रुह् के 'ह' के स्थान पर 'ध' हो जाता है तथा इ को ई (दीर्घ जाता है। यह स्त्रीलिंग है—इसके रूप—वीरुत्, वीरुधौ, वीरुधः इत्यादि हैं। यहाँ षष्ठी विभक्ति है। अनुबन्धि = अनि + बन्ध + णिनि । उज्झि उज्झ + क्त । आरोपित + आ + रुह् + लट्—प्रथम पुरुष एकवचन का

समास आदि—त्वदावर्जितवारिसंभृतम् = त्वया आवर्जितं त्वदावर्जि (यहाँ पर 'प्रत्योत्तरपदयोश्च' से युष्मद् के स्थान पर त्वत् हो जाता है।) त्वद च तद् वारि त्वदावर्जितवारि तेन संभृतम्—त्वदावर्जितवारि संभृतम् तत्पुरुष)। चिरोज्झितऽलक्तकपाटलेन = चिरं उज्जितः ("अत्यन्तसंयोगे च द्वितीया तत्पुरुष समास, चिरोज्झितः अलक्तकः येन तत् (बहुव्रीहि) [शे भाषा' में समास के अन्त में 'कप' हो गया है] चिरोज्झितानक्तकं च तत् कर्मधारय समास) तेन । दन्तवाससा = दन्तानां वासः इति दन्तवासः (षष्ठी तत्पुरुष)। इसमें तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है कि जो 'तु

रतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्' सूत्र में वर्णित नियम के अनुसार अनियमित है क्योंकि तुल्यार्थवाची शब्दों के योग में जिस वस्तु अथवा षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ करता है किन्तु 'तुला' और 'उपमा' शब्दों को छोड़कर । इस स्थान पर 'तुला' शब्द का ही प्रयोग है अतः तृतीया का प्रयोग यहाँ नहीं होना चाहिये था । किन्तु टीकाकार मल्लिनाथ ने इसको नियमित माना है । उनके अनुसार तुला' शब्द जहाँ सदृशवाचक होता है वहीं पर तृतीया का प्रयोग निषिद्ध है । हाँ पर तो तुला शब्द सदृशवाचक न होना 'सादृश्यवाचक' है । 'अतुलोपमाभ्यां ति तुलाशब्दयोगे तृतीया निषेधस्तु सदृशार्थक तुलाशब्दयोगे एव, इह तुलाशब्दः ादृश्यवाची इति न प्रवर्तते ।' मल्लिनाथ ॥ श्री भोज का यह भी विचार है दृशपदार्थवाची सादृश्यमात्रवाची चेतिद्वौ तुलाशब्दौ । सादृश्यमात्रबाचक तुला- ब्दयोगे तु तृतीयापीष्यत एव' ॥ कुछ आलोचक 'दन्तवाससा' के साथ 'सह' ा प्रयोग कर उपर्युक्त शङ्का का समाधान करते हैं किन्तु यह अधिक समीचीन तीत नहीं होता है ।

टिप्पणियाँ—त्वदावर्जितवारिसंभृतम्=तुम्हारे द्वारा सिञ्चित जल से ालित, पोषित तथा संवर्द्धित । आवर्जित—सींचा हुआ । **सम्भृतं**=पाला-पोषा या । **वीरुधाम्**=लताओं का—'लता प्रतानिनी वीरुत्' इत्यमरः । इसका म्बन्ध 'प्रवालम्' से है । **प्रवालम्**=नवीन पत्ते । यहाँ जाति का बोध कराने निमित्त एकवचन का प्रयोग हुआ है । 'प्रवालो विद्रुमे वीणादण्डेऽभिनवपल्लवे' त्यमरः । **अनुबन्धि**=लगातार, सतत् । (सदैव निकलते रहते हैं) ।' संबन्धे तता सक्ता अनुबन्धः प्रकीर्तितः' इति भोजः । यह 'प्रवालम्' का विशेषण है तः यह नपुँसकलिङ्ग बन गया । **चिरोज्झितालक्तकपाटलेन**=बहुत समय से ट गया है लाक्षारस से लाल करना जिसका ऐसे । यद्यपि अलक्तक से अधरोष्ठ ा रंगना बहुत समय पूर्व ही त्याग दिया गया था किन्तु फिर भी वे लाल थे । **ज्झित**=त्यक्त । अलक्तक—लाख का रंग । पाटल—सफेद तथा लाल 'श्वेत- क्तस्तुपाटलः' इत्यमरः । यह 'दन्तवाससा' का विशेषण है । **दन्तवाससा**= ोष्ठ, अधर । **तुलाम्**=समता, बराबरी सादृश्य । यह 'आरोहति' क्रिया का र्म है । **आरोहति**=प्राप्त करता है, चढ़ता है । इसका कर्त्ता 'यत्' है जो प्रवा- म् के लिये प्रयुक्त हुआ है ॥३४॥

प्रसङ्ग—अब ब्रह्मचारी पूछता है कि क्या इन तुम्हारी आँखों से समता क वाले मृगों के साथ तुम्हारा मन प्रसन्न तो रहता है—

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः
करस्थदर्भप्रणयाऽपहारिषु ।
ये उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनै-
स्तवाऽक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ।।३५।।

अन्वयः—करस्थदर्भप्रणयापहारिषु हरिणेषु ते मनः प्रसन्नं अपि ? हे लाक्षि ! ये प्रचलैः तव अक्षिसादृशं प्रयुञ्जते इव ।।३५।।

संस्कृत-व्याख्या—करस्थदर्भप्रणयापहारिषु = हस्तस्थितकुशस्नेहाऽपहा र्तृषु, सापराधेषु इत्यर्थः, हरिणेषु = मृगेषु, ते = तव, मनः—चित्तं, प्रसन्नं अ न क्षुभितं किम् ? हे उत्पलाक्षि = हे कुवलयाक्षि ! ये = मृगाः, प्रचलैः चञ्चलैः, विलोचनैः = नयनैः, तव = त्वदीयम्, अक्षिसादृश्यम् = नेत्रतु प्रयुञ्जते इव = अभिनयन्तीव । अति परिचयात् धृष्टाः इमे मृगाः होम क्रि आनीतान् त्वत्हस्तस्थितान् कुशान् बलात् आकृष्य खादन्ति । ऐषां मृ पूर्वोक्तान् अपराधान् विलोक्य त्वं कुपिता तु न भवसि ? हे कमलाक्षि ! मृगाः स्वचञ्चलैः नेत्रैः त्वन्नयनसादृश्यं अभिनयन्ति इव ।

भाषा—(तुम्हारे) हाथ में स्थित कुशों को प्रेम के कारण अपहरण वाले मृगों के प्रति तुम्हारा मन प्रसन्न तो है ? हे कमलसदृश नेत्रों (पार्वती) ! ये मृग अपने चञ्चल नेत्रों से तेरी आँखों की समता करने अभिनय सा करते हैं ।

भावार्थ—हे पार्वती ! ये मृग बड़े ही धृष्ट हो गये हैं । होमादि क्रिया निमित्त लाये गये तुम्हारे हाथो में विद्यमान् इन कुशों को ये जबरदस्ती ख कर खा लेते हैं । क्या इन अपराधियों से तुम क्रोधित नहीं होती हो ? इ चञ्चल दृष्ठि आपका अनुकरण करती है ।

अलङ्कार—इस पद्य में 'उत्प्रेक्षा" नामक अलङ्कार है ।

व्याकरण=**करस्थ**=कर + स्था + कः । **प्रणय**=प्र + णी + अच् । अप रिषु=अप + हृ + णिनि । **प्रसन्नम्**=प्र + सद् + क्त । **उत्पलाक्षि**=उत्पल

अक्षि + षच् + ङीप् । प्रचलैः = प्र + चल् + अच् । सादृश्य = सदृश + ष्यञ् । प्रयुञ्जते = प्र + युज् + लट् । प्र + युज् में "प्रोपाभ्याम्युजेरयज्ञपात्रेषु," से आत्मनेपद हो जाता है ।

समास आदि—करस्थदर्भप्रणयापहारिषु—करेतिष्ठन्तीति करस्थाः (हाथ में स्थित) । करस्थाः दर्भाः (कर्मधारय) करस्थदर्भाः तेषां प्रणयापहारिणः (तत्पुरुष) तेषु । अथवा करस्थान् दर्भान् अपहरन्तीति करस्थदर्भप्रणयापहारिणः तेषु । पाठान्तर—**करस्थदर्भप्रणयापराधिषु'**—करस्थदर्भाणां प्रणयः करस्थदर्भप्रणयः तेन अपराधिनः तेषु । **उत्पलाक्षि**—उत्पले इव अक्षिणी यस्याः सा उत्पलाक्षि (बहुव्रीहि समास)—यहाँ बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् से समासान्त षच्' हो जाता है । सम्बोधन के एकवचन में—उत्पलाक्षि । **प्रचलैः**—प्रचलन्तीति प्रचलाः तैः । **विलोचनैः**—विशिष्टानि लोचनानि विशिष्ट विलोचनानि तैः । **अक्षिसादृश्यम्**—अक्ष्णोः सादृश्यम् अथवा अक्षिभ्यां सादृश्यम् अक्षिसादृश्यम् ।

टिप्पणियाँ—करस्थदर्भप्रणयापहारिषु—हाथ में स्थित कुशों को प्रेम से लेने वाले । **दर्भकुश**—तृण । **प्रणय**—स्नेह, प्रेम । **अपहारिणः**—अपहरण करने वाले । यह 'हरिणेषु' का विशेषण है । **पाठान्तर—करस्थदर्भप्रणयापराधिषु**—हाथ में स्थित कुशों के प्रति स्नेह होने के कारण अपराध करने वाले मृगों के प्रति । भाव यह है कि पार्वती होम-क्रिया के निमित्त जिन कुशों को लाया करती थीं, अत्यधिक स्नेह होने के कारण हरिण उसके हाथ से छीनकर उन्हें खा जाया करते थे । इस भाँति उन हरिणों का अपराध स्पष्ट है । **प्रसन्नम्**—प्रसन्न । **उत्पलाक्षि**—कमल सदृश नेत्रों वाली । **प्रचलैः = चञ्चलैः** । यह "विलोचनैः" का विशेषण है । **अक्षिसादृश्यम्**—आँखों की समानता (बराबरी) को । यह 'प्रयुञ्जते' क्रिया का कर्म है । **प्रयुञ्जते**—अभिनय करते हैं ॥३५॥

* * *

प्रसङ्ग—ब्रह्मचारी कुशल पूछने के अनन्तर उसके आचरण एवं रूप की प्रशंसा करता हुआ कह रहा है—

यदुच्यते पार्वति ! पापवृत्तये
न रूपमित्यव्यभिचारितद्वचः ।

तथा हि ते शीलमुदारदर्शने !
तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥३६॥

अन्वयः—हे पार्वती ! "रूपं पापवृत्तये न" इति यत् उच्यते तत् वचः अ भिचारि । तथाहि हे उदार दर्शने ते शील तपस्विनां अपि उपदेशतां गतम् ॥३

संस्कृत-व्याख्या—हे पार्वती ! =गौरी !, रूपम्=सौभ्यकृतिः, पापवृ =पापाचरणाय, न=न भवति, इति=एतादृक् यद् - वचः, उच्यते=कथ्य लोकैरिति शेषः, तत् वचः=वचनम्, अव्यभिचारि=सत्यम् । हे उदारदर्शने –हे आयताक्षि ! हे सुरूपे इत्यर्थः अथवा हे उन्नतज्ञाने ! हे विवेकव्रति इत्यर्थः ते=तव, शीलम्=सद्वृत्तम्, तपस्विनामपि=तापसानामपि, उपदे ताम्=प्रवर्त्तकप्रमाणतां, गतम्=प्राप्तम् । मनुयः अपि त्वां वीक्ष्य स्ववृत्तं र् र्त्तन्ते इति भावः । हे पार्वती ! "सौन्दर्य पापाचाराय न भवति" इति यदु तद्वचन सत्यमेव । तथा हि हे रूपवति ! तवशीलं महर्षिणामप्येवं कर्तव्यमि पदेशरूपत्वं प्राप्ताम् । तस्मात् 'रूपं शीलानुसारी' इति वचनं सत्यमेवेति भाव

भाषा—हे पार्वती ! यह जो कहा जाता है कि सौन्दर्य पाप कराने लिये नहीं होता है, सत्य है क्योंकि हे रूपवति ! तुम्हारा शील (सदाचार) **तपस्वियों को भी उपदेश देने की योग्यता वाला हो गया है ।**

भावार्थ—सुन्दर व्यक्ति पापाचरण नहीं किया करते हैं, ऐसा लोक में क जाता है । यह कथन तुम्हारे विषय में नितान्त सत्य ही प्रतीत होता है क्यों तुम अत्यन्त रूपवती हो किन्तु फिर भी तुम्हारा चरित्र ऐसा है कि जिस अनुकरण तपस्वीजन भी किया करते हैं । अतः यह कथन सत्य ही है "यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति" ।

अलङ्कार—उक्त पद्य में सामान्य का विशेष से समर्थन होने के का "अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार है ।

व्याकरण—उच्यते=ब्रू+लट्—प्रथम पुरुष, एकवचन का रूप । ब्रू वच् आदेश होने के अनन्तर व को सम्प्रसारण 'उ' होकर यह रूप बनता है **अव्यभिचारि**=न+वि+अभि+चर+णिनि । **दर्शन**=दृश्+ल्युट्

तपस्विनाम् = तपस् + विनिः—यहाँ "अस्माया मेधास्रजो विनिः" से विनिः प्रत्यय होता है। **उपदेशताम्** = उप + दिश् + घञ् (भाव में)।

समास आदि—पापवृत्तये = पापस्य वृत्तिः पापवृत्तिः तस्यै (षष्ठी तत्पुरुष)। पापा (पाप से युक्त) वृत्तिः (आचरण) पापवृत्तिः (कर्मधारय)। पापम्—पाप—"अस्त्री पङ्कं पुमान् पाप्मा पापं किल्विषं कल्मषम्" इत्यमरः। पापवृत्तये—में "तादर्थ्ये चतुर्थी" अथवा "क्लृपि सम्पद्यमाने च" से चतुर्थी विभक्ति होती है। **अव्यभिचारी** = न व्यभिचरतीति अव्यभिचारी अथवा व्यभिचरति इति व्यभिचारि। **उदारदर्शने** = उदारं दर्शनं यस्याः सा—उदारदर्शना—तत्सम्बुद्धौ उदारदर्शने। **उपदेशताम्** = उपदिश्यते अनेन इति उपदेशः, तस्य भावः उपदेशतायाम्।

टिप्पणियाँ—पापवृत्तये = पाप करने के लिए, पापाचरण के लिये। **वृत्ति** = आचरण। 'रूपं पापवृत्तये न' का भाव है—सौन्दर्य के कारण कोई पापाचरण नहीं करता। सौन्दर्य किसी को भी पापाचरण के निमित्त प्रेरणा नहीं दिया करता है। इसी भाव से सम्बन्धित कुछ अन्य उक्तियाँ भी हैं—१. "यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति"। २. "नह्याकृति सुसदृशं विजहाति शीलम्"। ३. रूपं शीलानुसारि"—इत्यादि-इत्यादि। **उच्यते** = कहा जाता है। इसका कर्त्ता "लोकैः" है कि जो छिपा हुआ—अनुक्त है। यत्, तत् = ये दोनों शब्द परस्पर सापेक्ष्य हैं—इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्ध है "योतदः नित्यसम्बन्धः"। **अव्यभिचारी** = व्यभिचार रहित अर्थात् सत्य। **उदारदर्शने** = हे उदार दर्शन वाली—अति सुन्दर। टीकाकार मल्लिनाथ ने दर्शन शब्द के दो अर्थ किये (१) नेत्र, (२) ज्ञान। अतः इस आधार पर 'उदारदर्शने' शब्द के दो अर्थ हो जाते हैं—(१) आयताक्षि, (२) उन्नतज्ञाने। द्वितीय अर्थ (उन्नतज्ञाने) समीचीन प्रतीत नहीं होता है क्योंकि पार्वती के 'शील' का वर्णन तो पहले किया ही जा चुका है। इस स्थल पर उसके रूप का ही वर्णन महाकवि को आपेक्षित रहा होगा। **शीलम्** = अच्छा आचरण। वैसे शील शब्द का अर्थ स्वभाव भी किया जाता है। **तपस्विनामपि** = तपस्वी जनों के लिये भी। **उपदेशताम्** = उपदेशता को—उपदेश देने की योग्यता को। **उपदेशतां गतम्** = उपदेशता को प्राप्त हो गया अर्थात् पार्वती का आचरण महान् तपस्वियों के

लिये भी अनुकरण करने योग्य बन गया था अथवा उनका पथ-प्रदर्शन करने वाला बन गया था ॥३६॥

* * *

प्रसङ्ग—अब ब्रह्मचारी पार्वती की तपश्चर्या के प्रभाव का वर्णन करते हुए कह रहा है—

विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभि-
स्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः ।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलै-
र्महीधरः पावित एष सान्वयः ॥३७॥

अन्वयः—एषः महीधरः विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिः दिवश्च्युतैः गाङ्गैः सलिलैः तथा न पावितः यथा अनाविलैः त्वदीयैः चरितैः सान्वयः (पावितः) ॥३७॥

संस्कृत-व्याख्या—एषः अयं, महीधरः=भूधरः, हिमालय इत्यर्थः विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिः=पर्यस्तसप्तर्षिपुष्पोपहारसहासैः, दिवः=स्वर्गात्, च्युतैः =पतितैः, गाङ्गैः=गङ्गायाः, सलिलैः=जलैः, तथा=तेन प्रकारेण, न पावितः =न पवित्रीकृतः, यथा=येन प्रकारेण, अनाविलैः=दुराचारलेशरहितैः, शुचिभिः, त्वदीयैः=त्वत्सम्बन्धिभिः, तव इत्यर्थः, चरितैः=आचरणैः, सान्वयः =सपुत्रपौत्रः; अथवा पितृपितामहमातृमातामहादिवंशपरम्परासहितः पावितः =पवित्रीकृतः । गङ्गायाः अति पावनं जलं हिमालयं तथा पवित्रं नाकार्षीत् यथा तव पवित्राणि चरित्राणि कुटुम्बसहित तं पवित्रं चक्रुः । अनेन प्रतीयते यत् पार्वत्याः चरित्रं गङ्गाजलादपि विशुद्धं आसीत् ।

भाषा—यह पर्वत (हिमालय) सप्तर्षियों द्वारा चढ़ाये गये सुन्दर तथा चमकने वाले फूलों के उपहार से तथा आकाश से (स्वर्ग से) गिरे हुए गङ्गा के पवित्र जल से उतना पवित्र नहीं हुआ कि जितना तुम्हारे पवित्र आचरणों द्वारा (यह) सुकुटुम्ब (वंशपरम्परा सहित) पवित्र बना दिया गया है ।

भावार्थ—पार्वती के आचरणों की पवित्रता का वर्णन करता हुआ ब्रह्मचारी कहता है कि हिमालय के ऊपर पवित्र गङ्गा का जल गिरा करता है । सप्तर्षियों द्वारा प्रदत्त पुष्पों के उपहार के संसर्ग से यह जल और भी अधिक

पवित्र हो जाता है। इतना अधिक पवित्र गङ्गा का जल हिमालय को उतना अधिक पवित्र नहीं बना सका कि जितना तुम्हारे पवित्र आचरणों के द्वारा वह सुकुटुम्ब पवित्र बना दिया गया। इससे प्रतीत होता है कि पार्वती का चरित्र गङ्गाजल की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र था, और उसी के चरित्र के प्रभाव से हिमालय के मातृपितृ उभय कुल पवित्र हो गये थे।

व्याकरण—महीधरः=मही+धृ+कः। **विकीर्ण**=वि+कृ+क्त। **प्रहासिभिः**=प्र हस्+णिनि, **दिवः**=दिव् शब्द की पंचमी विभक्ति के एकवचन का रूप है। **च्युतैः**=च्यु+क्त। **गाङ्गैः**=गङ्गा अण्। **पावितः**=पू+णिच्+क्त। **त्वदीयैः**=युष्मद्+छ—ईय्।

समास आदि—महीधरः=धरतीति धरः, मह्याः धरः महीधरः (षष्ठी तत्पुरुष)। यहाँ 'महीं धरतीति' नहीं हो सकता है क्योंकि ऐसा किये जाने पर 'कर्मण्यण्" से "अण्" प्रत्यय होगा तथा "महीधार:" रूप बनेगा। **विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभि**=सप्त च ते ऋषयः सप्तर्षयः, यहाँ "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" से कर्मधारय समास हुआ है—दिग्वाचक तथा संख्यावाचक शब्दों का संज्ञा शब्द के साथ कर्मधारय समास होता है यदि सम्पूर्ण समाश्रित शब्द संज्ञा हो। सप्तर्षीणां वलयः सप्तर्षिवलयः (षष्ठी तत्पुरुष) विकीर्णाः सप्तर्षिवलयः (कर्मधारय) विकीर्ण सप्तर्षिबलयः तैः प्रहसन्तीति विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासीनि तैः। **गाङ्गैः**=गङ्गायाः इमानि गाङ्गानि तैः। **अनाविलैः**=न आविलानि अनाविलानि तैः। **त्वदीयैः**=तव इमानि त्वदीयानि तैः त्वदीयैः। **सान्वय**=अन्वयेन सह इति सान्वयः।

अलङ्कार—इसमें 'व्यतिरेक' अलङ्कार है। लक्षण—"व्यतिरेकोविशेश्चेदुपमानोपमेययोः" अर्थात् जहाँ उपमेय को उपमान से बढ़चढ़कर बतलाया जाय। यहाँ पार्वती का शुद्ध चरित्र ही उपमेय तथा स्वर्ग से च्युत गंगाजल ही उपमान है। यहाँ उपमेय (पार्वती का चरित्र) को उपमान (गंगाजल) की अपेक्षा अधिक पवित्र बतलाया गया है। अतः 'व्यतिरेक' अलङ्कार है।

टिप्पणियाँ—महीधरः=पर्वत—हिमालय। यह "पावितः" क्रिया का उक्त कर्म है अतः प्रथमा विभक्ति हुई है। **विकीर्णसप्तर्षिबलप्रहासिभिः**=सप्तर्षियों द्वारा चढ़ाये गये वे श्वेत फूलों के उपहार जो बाद में इतस्ततः फैले

हुये हैं और चमक रहे हैं, उनके द्वारा विकीर्ण छितराये हुये। **सप्तर्षयः**= सप्तर्षि—मरीचि, अङ्गिरस् अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वशिष्ठ। इनका निवास स्थान आकाश है। आकाशगङ्गा में स्नान कर ये देवताओं को पुष्पोपहार चढ़ाया करते हैं। **बलि**-फूलों का उपहार (भेंट)। "करोपहारयोः पुंसिबलिः" इत्यमरः। यह "सलिलैः" का विशेषण है। **दिवः**=स्वर्ग से, आकाश से। **च्युतै**=गिरे हुये। "दिवश्च्युतैः" यह भी "सलिलैः" का विशेषण है। उपर्युक्त दोनों विशेषणों से गंगाजल की पवित्रता का स्पष्ट पता लग जाता है। **गाङ्गैः**=गंगा के। **सलिलैः**=जलों से। **पावितः**=पवित्र किया गया है। **अनाविलैः**=पवित्र, शुद्ध—"कलुषोऽनच्छ आविलः" इत्यमरः। यह चरितैः का विशेषण है। **त्वदीयैः**=तुम्हारे। **चरितैः**=कार्यों से। **सान्वयः**= कुटुम्ब के साथ। इस श्लोक में पार्वती का चरित्र गंगाजल की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र बतलाया गया है ॥३७॥

* * *

प्रसङ्ग—अब ब्रह्मचारी पार्वती के धर्माचरण से प्रभावित होकर कहता है कि वस्तुतः धर्म ही त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) में सर्वश्रेष्ठ तथा सार रूप है—

अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे
त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया
यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥३८॥

अन्वयः—हे भाविनि! अनेन धर्मः सविशेषं अद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति। यद् मनोनिर्विषयार्थकामया त्वया एकः (धर्म) एक प्रतिगृह्य सेव्यते ॥३८॥

संस्कृत-व्याख्या—हे भाविनि! =प्रशस्ताऽभिप्राये! अनेन=एतेन, कारणेनेत्यर्थः, धर्मः=पुण्यं, सविशेषं=सातिशयं, अद्य=अस्मिन् दिने, मे=मम, त्रिवर्गसारः=वर्गत्रयश्रेष्ठः, प्रतिभाति=प्रतिस्फुरित। यत्=यस्मात् कारणात्, मनोनिर्विषयार्थकामया=अर्थकामपराङ्मुखचित्तया, त्वया=भवत्या, एकः= एकाकी धर्म, एव=सुकृतमेव, प्रतिगृह्य=स्वीकृत्य, सेव्यते=भज्यते। हे पार्वती। त्वं तपश्चर्यां कृत्वा अर्थकामौ विहाय केवलं धर्ममेव आचरसि अतः

तव अतिपावनानि चरित्राणि दृष्ट्वा प्रतीयते यत् धर्मार्थकामानां मध्ये धर्मस्येव प्राधान्यमस्ति ।

भाषा—हे श्रेष्ठ अभिप्राय वाली (पार्वती !) इससे तो आज मुझे धर्म ही विशेष रूप से त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) में श्रेष्ठ प्रतीत होता है क्योंकि अर्थ और काम की ओर से विरक्त चित्त वाली तुम उसी एक (धर्म) को स्वीकार कर (उसका) पालन करती हो ।

भावार्थ—हे उत्तम अभिप्राय से युक्त पार्वती । तपोव्रत लेने के अनन्तर तुमने अपने मन को अर्थ और काम की ओर से हटाकर केवल धर्म का पालन करने में ही संलग्न कर दिया है । अतः तुम्हारे पावन आचरण तथा चरित्र को देखकर मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचता हूँ कि वस्तुतः धर्म, अर्थ, काम इस वर्ग में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है तथा अर्थ और काम मनुष्य को धर्म से विमुख भी कर देने वाले हो सकते हैं । इन शब्दों का चिन्तन करना अनुचित तथा कल्याणकारी नहीं है ।

व्याकरण—**भाविनि**=भू+णिच्+णिनि+ङीप् । भाविनी=सम्बोधन में भाविनि ! **प्रतिभाति**=प्रति+भा+लट्……प्र० पु० एकवचन का रूप । वैसे 'भा' का अर्थ चमकना होता है किन्तु प्रति उपसर्ग जोड़ देने से उसका अर्थ "मालूम होना, ज्ञात होना" हो जाता है । **प्रतिगृह्य**—प्रति=प्रति+ग्रह्+ल्यप् । **सेव्यते**=कर्मवाच्य में सेव् लट्…प्र० पु० एकवचन का रूप ।

समास आदि—**भाविनि**=प्रशस्तः भावः अस्या अस्तीति भाविनी तस्याः सम्बुद्धौ भाविनि । **सविशेषम्**=विशेषेण सह वर्तमानं सविशेषं यथा स्यात्तथा । **त्रिवर्गसारः**=त्रयाणां वर्गः त्रिवर्गः, त्रिवर्गस्य त्रिवर्गे वा सारः त्रिवर्गसारः (षष्ठी तत्पुरुष) । **मनोर्निविषयार्थकामया**=निर्गतौ विषयेभ्यः इति निर्विषयौ ["निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" वार्तिक से तत्पुरुष समास] मनसः निर्विषयौ मनोर्निविषयो । अर्थश्च कामश्च अर्थकामौ । मनोर्निविषयौ अर्थकामौ यस्याः सा तया ।

टिप्पणियाँ—**भाविनि**=अच्छे अथवा प्रशस्त अभिप्राय वाली । कहीं-कहीं भामिनि पाठ भी मिलता है । यह भामिनि शब्द के सम्बोधन के एकवचन का

रूप है। **भामिनी**=स्त्री। **अनेन**=इससे अर्थात् जो तुम्हारे पावन आचरण ने हिमालय को गङ्गाजल की अपेक्षा अधिक पवित्र बना दिया है। इसी कारण यहाँ "हेतु" में तृतीया विभक्ति हुई। **धर्म:**=पुण्य "स्याद्धर्मस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृष:" इत्यमर:। **सविशेषं**=विशेष रूप से। **त्रिवर्गसार:**=धर्म, अर्थ और काम इन तीनों के वर्ग में श्रेष्ठ। त्रिवर्ग से अभिप्राय धर्म, अर्थ और काम से है तथा चतुर्वर्ग से अभिप्राय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से है। **प्रतिभाति**==ज्ञात होता है, मालूम होता है। इसका कर्त्ता "धर्म:" है। **यत्**=क्योंकि यह अव्यय है। **मनोनिर्विषयार्थकामया**=जिसका चित्त अर्थ और काम सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त है। यह 'त्वया' का विशेषण है। पार्वती जब तपस्विनी बन गयी थी तब से अर्थ और काम की ओर से उसका चित्त हट गया था और वह इस समय केवल धर्माचरण में ही संलग्न थी। **प्रतिगृह्य**=स्वीकार करके। **सेव्यते**=सेवन किया जाता है। अथवा पालन किया जाता है ॥३८॥

* * *

प्रसङ्ग—अब ब्रह्मचारी पार्वती के वास्तविक मनोरथ को जानने की इच्छा से कहता है—

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना
न मां परं सम्प्रतिपत्तुमर्हसि।
यत: सतां सन्नतगात्रि सङ्गतं
मनीषिभि: साप्तपदीनमुच्यते ॥३९॥

अन्वय:—आत्मना प्रयुक्तसत्कारविशेषं मां परं सम्प्रतिपत्तुं न अर्हसि हे सन्नतगात्रि ! यत: मनीषिभि: सतां सङ्गतं साप्तपदीनम् उच्यते ॥३९॥

संस्कृत-व्याख्या—आत्मना=स्वेन, प्रकरणाऽनुरोधात् त्वया इत्यर्थ:, प्रयुक्तसत्कारविशेषं=कृतपूजाऽतिशयं, मां परं=अनात्मीयं, अन्यं, सम्प्रतिपत्तुम्=ज्ञातुं, न अर्हसि=न योन्य: असि हे सन्नतगात्रि=हे सन्नताङ्गि !, यत:=यस्मात् कारणात्, मनीषिभि:=विद्वद्भि:, सतां=सज्जनानां, सङ्गतं=सख्यं, साप्तपदीनम्=सप्तपदोच्चारणसाध्यं, उच्यते कथ्यते। सज्जनानां परस्परं सख्यं संगमात्रादेव भवतीति विद्वद्भि: उच्यते, तत: त्वत्कृतेन अनेन सत्कारेण परस्परि-

केण सम्भाषणेन आवां मित्रत्वमापन्नो । अत: त्वं मां अपरिचितं न अवेहि तर्हि अहं त्वंदविषये किमपि पृष्टुं इच्छामि ।

भाषा—स्वयं मेरा विशेष रूप से सत्कार करने वाली तुम मुझे अपने से भिन्न—दूसरा (अपरिचित) समझने योग्य नहीं हों क्योंकि हे नताङ्गि ! विद्वान् लोगों का कथन है कि सज्जनों की मित्रता तो केवल सात शब्दों के बोल अथवा सात कदम चलने से ही हो जाती है ।

भावार्थ—हे सुन्दरि ! विद्वानों का यह कथन है कि सज्जन पुरुषों की तरह प्रथम समागम से ही मैं भी तुम्हारा हितैषी बन गया हूँ ।

व्याकरण—आत्मना=यह आत्मन् शब्द के तृतीया विभक्ति की एकवचन का रूप है । **प्रयुक्तसत्कारविशेषं**=प्र + युज् + क्त । सत्कार—सत् + कृ + घञ् (भाव में)—सत्कार । **सम्प्रतिपत्तुं**= सम् + प्रति + पद + तुमुन् । **अर्हसि**= अर्ह + लट्—मध्यम पुरुष, एकवचन का रूप । **नत**=नम् + क्त । **मनीषिभिः**= मनीष + इनि (यहाँ "व्रीह्यादिभ्यश्च" से 'इति' प्रत्यय हुआ है । **सताम्**=सत् + षष्ठी बहुवचन का रूप । इसके रूप—सन्, सन्तौ, सन्तः इत्यादि चलते हैं । **संगतम्**=सम् + गम् + क्त (भाव में) नपुंसकलिंग में । **साप्तपदीनम्** सप्तपद + खञ् तिद्धितार्थेद्विगुः) ।

समास आदि—प्रयुक्तसत्कारविशेषम्=सत्कारस्य विशेषः, सत्कार विशेषः (षष्ठी तत्पुरुष), प्रयुक्त सत्कार विशेषः यस्मै सः तम् । अथवा प्रयुक्तः सत्कार-विशेष यस्य (यस्मिन् वा) सः तम् (बहुव्रीहि) । **सन्नतगात्रि**=सम्यक् नतम् सन्नतम् (आदि तत्पुरुष), सन्नतं गात्रं यस्या सा सन्नतगात्री (बहुव्रीहि) । सम्बोधन में—सन्नतगात्रि । यहाँ "अङ्गगात्रकण्टेभ्यो वक्तव्यम् वार्तिक से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है—जिन बहुव्रीहि समासों के अन्त में 'अङ्ग गात्र अथवा कण्ठ" शब्द आते हैं उनसे स्त्रीलिंग शब्द बनाने के लिये ङीप् प्रत्यय विकल्प करके होता है । जहाँ 'ङीप्' नहीं होता (अर्थात दूसरे पक्ष में) टाप् होता है । इस स्थिति में उक्त शब्द का "सन्नतगात्रा" रूप बनेगा । **मनीषिभिः**= मनीषा अस्यास्ति इति मनीषिन् ते, तैः, । **साप्तपदीनम्**=सप्तानां पदानां समाहारः सप्तपदम् तेन (सप्तपदेन) अथवा सप्तभिः पदैः वा अवाप्यम् द्विगु) ।

टिप्पणियाँ—आत्मना=स्वयं, अपने द्वारा । यह "प्रयुक्त" का अनुक्त कर्त्ता है—अतः यहाँ तृतीया विभक्ति हुई है। **प्रयुक्त सत्कारविशेषम्**=किया गया है विशेष रूप से सत्कार जिसका अथवा जिसके द्वारा । प्रयुक्त—किया गया है। **सत्कार**=आदर, **सम्मान**=विशिष्ट पूजा । यह 'माम्' का विशेषण है। **मां परम्**=दूसरा, अपरिचित । **सम्प्रतिपत्तुम्** जानने के लिये। **न अर्हसि** =नहीं हो सकती । इसका कर्त्ता 'त्वम्' है। **हे सन्नतगात्रि**=हे सुन्दर अथवा नम्र अङ्गों वाली (पार्वती)। **नत**=झुका हुआ सुन्दर—"नतम् चारु सन्नतम्" इति भोजः। **मनीषिभिः**=बुद्धिमानों तथा विद्वानों के द्वारा मनीषा—बुद्धि "बुद्धिर्मनीषाधिषणा धीः=प्रज्ञा शेमुषी मतिः" इत्यमरः। **सताम्**=सज्जनों का। **संगतम्**=मैत्री, **मिलन**=मैत्रीप्रीतिरजर्य्यं सभाजनं संगतम्" इति हलायुधः। यह "उच्यते क्रिया का उक्त कर्म है। **साप्तपदीनम्**=सात शब्दों के माध्यम से होने वाली। सात कदमों के चलने से होने वाली। यहाँ पद शब्द के दो अर्थ हैं—(i) कदम (ii) शब्द । यह शब्द शाब्दिक अर्थों में प्रयुक्त न होकर 'मैत्री के अर्थ में प्रयुक्त होता है। साप्तपदीनं का यह रूप अनिश्चित सा है। "साप्तपदीनं सख्यं, सख्यं साप्तपदीनं स्यात्" इत्यमरः । "सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः" (रघुवंश)। 'सतां सप्तपदा मैत्री सत्सतां त्रिपदा स्मृता। सत्सतामपि से सन्तस्तेषां मैत्री पदे पदे। ब्रह्मचारी (शिव) के कहने का तात्पर्य यह हैं कि उसका पार्वती के साथ कुछ वार्तालाप हो चुका है। अतः वे दोनों परस्पर मित्र-भाव को प्राप्त हो चुके हैं। अब वह पार्वती से स्वेच्छापूर्वक प्रश्नों को उसके सम्पूर्ण समाचारों को सरलतापूर्वक जान सकता है ॥३९॥

* * *

प्रसङ्ग—वह कहता है यदि कोई गोपनीय बात न हो, तो आप मेरे द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने का कष्ट करें।

अतोऽत्र किञ्चिद् भवतीं बहुक्षमा
द्विजातिभावादुपपन्नचापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने
न चेदहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥४०॥

अन्वयः—अतः हे तपोधने ! अत्र वहुक्षमा भवती द्विजातिभावात् उपपन्नचापलः अयं जनः किञ्चित्प्रष्टुमनाः (अस्ति) चेत् रहस्यं न प्रतिवक्तुं अर्हसि ॥४०॥

संस्कृत-व्याख्या—अतः = एतस्माद् सख्याद्धेतोरित्यर्थः, हे तपोधने = हे तपस्विनि ! अत्र = इह, वहुक्षमाम् = बहूक्तिसहाम् यद्वा समावतीं, भवतीम् = त्वाम्, द्विजातिभावात् = ब्राह्मणत्वात्, उपपन्न चापलः = सुलभधाष्ट्र्यः, अयं जनः = एषनरः, अहमित्यर्थः, किञ्चित् = किमपि, प्रष्टुमनाः = प्रष्टुकामः, अस्तीतिशेषः । चेद् = यदि, रहस्यं = गोप्यम्, न, भवेत्तर्हि, प्रतिवक्तुम् = प्रत्युत्तरं दात्तुं, अर्हसि = योग्याऽसि । ब्रह्मणत्वात् अहं स्वभावतः प्रगल्भ अस्मि । भवत्याः तपविषये मे हृदि महति जिज्ञासा अस्ति । अतोऽहं किमपि प्रष्टुमिच्छामि । यदि एतद् गोप्यं न भवेत्तर्हि प्रत्युत्तरं दीयताम् ।

भाषा—अतः हे तपस्विनि ! इस (आपकी तपस्या) के विषय में, ब्राह्मण होने के कारण उत्सुकतापूर्ण मन वाला यह व्यक्ति (मैं) अत्यन्त सहनशील स्वभाव वाली आपसे कुछ पूछना चाहती हूँ । यदि कोई गोपनीय बात न हो तो आप उत्तर देने की कृपा कीजिए ।

भावार्थ—हे तपस्विनि ! मैं ब्राह्मण हूँ । ब्राह्मण स्वभाव से ही प्रगल्भ हुआ करते हैं । इसी कारण आप द्वारा किये जाने वाले तप के विषय में कुछ जानने की दृष्टि से मेरा मन अत्यधिक उत्सुकतापूर्ण हो गया है । मैं जानना चाहता हूँ कि आप इतना दुष्कर तप क्यों कर रही हैं ? आप तो स्वभाव से ही अत्यन्त उदार, विनम्र तथा सहनशील प्रतीत होती है । अतः आपसे मेरी प्रार्थना है कि यदि कोई छिपाने योग्य बात न हो तो आप मेरे प्रश्नों का उत्तर देने का कष्ट अवश्य करें ।

व्याकरण—बहुक्षमाम् = बहु + क्षम् + क्षण् + टाप् (स्त्रीलिङ्ग में) । भवतीम् = भा + डवतु—भवत् + ङीप् (स्त्रीलिङ्ग में) । द्विजाति भावात् = जन् + क्तिन—जाति । उपपन्नचापलः उप + पद् + क्त—उपपन्न; चापलः = चपल + अण् । किञ्चित् = किम् + चित् (अनिश्चयात्मकता की दृष्टि से किम् के साथ चित् का योग कर दिया जाया करता है ।) प्रष्टुमनाः = प्रच्छ् + तुमन्—प्रष्टुम् । रहस्यम् = रहस् + यत् । प्रतिवक्तुं = प्रति + वच् तुमन् ।

समास आदि—तपोधने = तप एवं धनं यस्याः सा तपोधना तत्सम्बुद्धौ

हे तपोवने। बहुक्षमाम् = बहून क्षमते या इति बहुक्षमा ताम् बहुक्षमाम्। अप बह्वी क्षमा यस्यां सा, ताम्। द्विजातिभावात् = द्वे जाती यस्य सः द्विजाति तस्य भावः द्विजातिभावः तस्मात् द्विजातिभावात्। उपपन्नचापलः = चपलस भावः चापलम्, उपपन्नं चापलं यस्य सः (बहुव्रीहि)। प्रष्टुमनाः = प्रष्टुं मन यस्य सः (बहुव्रीहि)। रहस्यम् = रहसि भवम् रहस्यम्।

टिप्पणियाँ—तपोधने !—तपस्विनि (पार्वती)। बहुक्षमाम् = अत्यधि क्षमा करने में समर्थ। यह 'भवतीम्' का विशेषण है। भवतीम् = आप से। य "प्रष्टुं" का गौणकर्म है तथा इसका प्रधानकर्म 'किञ्चित्' है। प्रच्छ् द्विकर्म धातु है। द्विजातिभावात् = ब्राह्मण होने के कारण। जीवन में दो बार जन होने के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को 'द्विजाति' कहा जाता है। इनक प्रथम जन्म माता द्वारा होता है और दूसरा जन्म गुरु अथवा आचार्य द्वा संस्कार किया जाने पर होता है। "जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्वि उच्यते" ॥ मनुस्मृति। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति शूद्र के रूप मे जन्म लेता है तथा आचार्य द्वारा संस्कार किये जाने के अनन्तर वह द्विज क रूप धारण कर पुनः जन्म प्राप्त किया करता है। इस भाँति द्विज का दो बा जन्म हुआ करता है। इस श्लोक में प्रसङ्ग की दृष्टि से द्विजाति शब्द ब्राह्म का ही द्योतक है। इस स्थल पर 'हेतु' अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हुई है। उपपन्न चापलः = उत्पन्न हो गई है उत्सुकता जिसके अन्दर अथवा जिसमें। उपपन्न = उत्पन्न हुई है। चापलम् = धृष्टता, उत्सुकता, चञ्चलता। किञ्चित् = कुछ। यह 'प्रष्टुमनाः' के प्रष्टुम् का कर्म है। प्रष्टुमनाः = कुछ पूछने की इच्छा रख वाला। चेत् = यदि। रहस्यम् = गोपनीय (छिपाने योग्य) बात। प्रतिवक्तुम् = कहने के लिये अथवा प्रत्युत्तर देने के लिये। अर्हसि = योग्य हो ॥४०॥

* * *

प्रसङ्ग—संसार में मनुष्यों को प्रायः "सौन्दर्य, यौवन, सम्पत्ति का सु और कुलीनता" की ही प्राप्ति की इच्छा हुआ करती है। इन्हीं के लिये मनु नाना प्रकार के तप किया करते हैं। परन्तु ये चारों आपको तो स्वयं सुलभ फिर किस उद्देश्य के पाने के द्वारा यह घोर तप किया जा रहा है—

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधस-
स्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वय-
स्तपः फलं स्यात् किमतः परं वद ॥४१॥

अन्वयः—प्रथमस्य वेधसः कूले प्रसूतिः, वपुः त्रिलोकसौन्दर्यमिव उदितम् श्वर्यसुखं अमृग्यम्, वयः नवम्, अतः परं किं तपः फलं स्यात् वद ॥४१॥

संस्कृत-व्याख्या—प्रथमस्य = पूर्वस्य प्रधानस्य वा, वेधसः = प्रजापतेः ब्राह्मणः इत्यर्थः, कुले = अन्वये:, प्रसूतिः = उत्पत्तिः, वपुः, = शरीरम्, त्रिलोकसौन्दर्यं एव दितम्—एकत्र समाहृतम्; ऐश्वर्यसुखम्, अमृग्यम् अन्वेषणीयं किन्तु सिद्ध-देत्यर्थः; वयः = अवस्था, नवम् = नूतनं तारुण्यमित्यर्थः; अतः = एतस्मात्, परं त्यत्, किं तपः फलं = तपस्यायाः परिणामः, स्यात् = भवेत्, वद = कथय। सारे मानवानां प्रायशः सौन्दर्यं, यौवनं, संपत्सुखम्, कुलीनता च इति चत्वारि प्तव्यानि भवन्ति। ऐतेषामेव प्राप्त्यर्थं मानवा नानाप्रकाराणि अनेकानि तपांसि चरन्ति। तव विषये तु एतानि सकलानि सुलभानि एव। तथा हि तव शरीरं तीव रम्यं अस्ति, युवावस्थायां त्वं वर्तसे एव, सम्पतसुखं तु सुलभमेवास्ति, ष्टेः प्राक् विद्यमानस्य प्रजापतेः कूले तव जन्म जातमेव। एतेभ्यः अधिकं ते न्यत् किं प्राप्तव्यमस्ति यदर्थं त्वया ईदृशं कठोरं तपः क्रियते ?

भाषा—प्रथम प्रजापति के उत्तम कुल में तुम्हारी उत्पत्ति (जन्म हुआ है), नों लोकों के एकत्रित किये गए समस्त सौन्दर्य के सदृश आपका (शारीरिक) र्य (है), (आपको) सम्पत्ति के सुख की खोज की भी आवश्यकता नहीं है, म्हारे अन्दर) युवावस्था अभी प्रारम्भ हुई है। (तो फिर) [illegible] ससे बढ़कर तप का फल और क्या हो सकता है? (कि जिसकी प्राप्ति के ये तुम इतना तप कर रही हो)।

भावार्थ—संसार में प्रायः यह देखा जाता है कि मनुष्य सौन्दर्य, युवावस्था म्पत्तियों का सुख अथवा कुलीनता की प्राप्ति के लिये ही [illegible] करता है। आपके लिये तो यह सभी वस्तुयें स्वयं ही [illegible] रता तो जन्म ही प्रथम प्रजापति के कुल में हुआ है [illegible], तुम्हारा

शरीर तो इतना सुन्दर है कि उसे देखकर ऐसी प्रतीति हो सकती है कि मा तीनों लोकों के सौन्दर्य को एकत्रित कर उसी से तुम्हारे शरीर का नि किया गया हो; सम्पत्तियों का सुख तो तुमको स्वतः ही प्राप्त है; तु यौवन का प्रारम्भ तो अभी हुआ है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त चारों प्र वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य तुम्हारे लिये क्या अप्राप्य है कि जिसके निमित्त यह भयंकर तप कर रही हो ? यह बतलाओ।

व्याकरण—**प्रसूति**=प्र+सूति+क्तिन्। **सौन्दर्य**=सुन्दर+ष्यञ् **उचितम्**=उत्+ई+क्तः। **ऐश्वर्यम्**=ईश्वर+ष्यञ्। **अमृग्यम्**=मृग्+णि +क्यप्—मृगम्।

समास—**त्रिलोकसौन्दर्यम्**=सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यम्। त्रयाणां लोका सौन्दर्य—त्रिलोकसौन्दर्यम् (उत्तरपदतत्पुरुष) ("तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे सूत्र से उत्तर पद समास हुआ है)। **ऐश्वर्यसुखम्**=ईश्वरस्य भावः ऐश्व ऐश्वर्यस्य सुखम्—ऐश्वर्यसुखम् (षष्ठी तत्पुरुष)। **अमृग्यम्**=न मृग्यम् (न तत्पुरुष। **तपः फलम्**=तपसः फलम् इति (षष्ठी तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**वेधसः**=ब्रह्मा के प्रथम, ब्रह्मा का ही नाम हिरण्यगर्भ है। इसी को प्रजापति भी कहते हैं, 'सृष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्व विधिः' इत्यमरः। वेधस् के रूप वेधाः, वेधसौ, वेधसः इत्यादि चलते **प्रसूति**=उत्पत्ति—(जन्म)। प्रजापति ने ही यज्ञ के लिये हिमालय की र की थी। **वपुः**=शरीर। **त्रिलोकसौन्दर्यम्**=तीनों लोकों में विद्यमान सुन्द **उचितम्**=एक स्थान पर एकत्रित किया गया है। पार्वती का शारी सौन्दर्य ऐसा था कि जिसे देखकर ऐसी प्रतीति होती थी कि मानो ने तीनों लोकों के सौन्दर्य को एकत्रित कर उसके शरीर में लाकर रख हो। **ऐश्वर्यसुखम्**=सम्पत्तियों का सुख। **ऐश्वर्य**=सम्पत्ति—'विभूतिर्भूति रैश्वर्यमणिमादिकमष्टधा' इत्यमरः। **अमृग्यम्**=जिसे खोजने की आवश्यकता न हो अर्थात् जो स्वयं ही सुलभ हो। पार्वती के पिता हिमालय का गृह ध [illegible] आदि से परिपूर्ण था अतः उसे सम्पत्ति के खोजने की कोई भी आवश्य

नवम्=नया, नूतन—'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नव

त्मरः। **नववय**=युवावस्था अथवा तरुणाई। **अतःपरम्**=इससे अन्य, इससे ष्ठ अथवा इसके अतिरिक्त। **ततः फलम्**=तपस्या का फल। ब्रह्मचारी का छने का भाव यह था कि पार्वती इतना कठोर तप किस उद्देश्य को लेकर कर ही हैं क्योंकि उनको तो सभी वस्तुयें सुलभ ही थीं ॥४१॥

◆

प्रसङ्ग—दूसरों के द्वारा अनिष्ट-साधन करने पर भी मानिनी स्त्रियाँ कभी-भी कठोर तप किया करती हैं किन्तु तुम्हारे विषय में ऐसी आशंका भी करना चित प्रतीत नहीं होता है —

भवत्यनिष्टादपि नाम दुस्सहा-
न्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी।
विचारमार्गप्रहितेन चेतसा
न दृश्यते तच्च कृशोदरि त्वयि ॥४२॥

अन्वयः—दुस्सहात् अनिष्टात् अपि मनस्विनीनां ईदृशी प्रतिपत्तिः भवति ाम। हे कृशोदरि! विचारमार्गप्रहितेंन चेतसा तत् च त्वयि न दृश्यते ॥४२॥

संस्कृत-व्याख्या—दुस्सहात्=सोढुमशक्यात्, अनिष्टात् अपि=अप्रियादपि र्त्रादिकृतादित्यर्थः, मनस्विनीनां=धीरस्त्रीणां, ईदृशी=एतादृशी तपश्चरण क्षणा, प्रतिपत्तिः=प्रवृत्तिः भवति नाम हे कृशोदरि!=हे तनूदरि! विचार-ार्गप्रहितेन=विचारवर्त्मप्रेषितेन, चेतसा=मनसा, तद् च=पूर्वोक्तं अनिष्टं न, त्वयि=भवत्यां, न दृश्यते=न प्रतीयते, तदपि नास्तीत्यर्थः। संसारे एवं श्यते यत् पत्यादिभिः प्रियव्यक्तिभिः अपमानिताः मानवत्यः स्त्रियः तपश्चरणे वृत्ताः भवन्ति। किन्तु हे कृशोदरि! विचार्यमाण एतदपि कारणं त्वयि न श्यते। तर्हि भवत्याः तपश्चर्यायाः किं कारणम्? इति वद।

भाषा—न सहन कर सकने योग्य तिरस्कार के कारण भी मानवती स्त्रियों की प्रवृत्ति इस प्रकार की हो जाया करती है किन्तु हे कृश उदर वाली पार्वती! विचारमार्ग द्वारा भेजे गये हुये मन से वह भी तुम्हारे बारे में मुझे प्रतीत नहीं होता है।

भावार्थ—संसार में ऐसा देखा जाता है कि पति इत्यादि प्रियजनों के द्वारा तिरस्कृत हो जाने पर स्त्रियाँ तप इत्यादि करने में प्रवृत्त हो जाया करती हैं किन्तु हे गौरी ! इस उपर्युक्त आधार पर भी विचार करने पर मैं ऐसा कोई भी कारण तुम्हारे में नहीं देखता हूँ। फिर समझ में नहीं आ रहा है कि तुम्हारी इस तपस्या का उद्देश्य क्या है ?

व्याकरण—दुस्सहात्=दुस्+सह्+खल्—दुस्सह (पञ्चमी में—दुस्सहात्)। अनिष्टात्=न+इष+क्तः। मनस्विनीनाम्=मनस्+विन्+ङीप्। ईदृशी=इदम्+दृश्+कञ्+ङीप्। प्रतिपत्तिः=प्रति+पद्+क्तिन्। कृशोदरि=कृश+उदर+ङीप्। टाप् प्रत्यय होने पर कृशोदरा। यहाँ "नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णश्रृङ्गाच्च" से विकल्प करके ङीप् प्रत्यय होता है। अर्थात् बहुव्रीहि समास होने पर जब उत्तरपद में नासिक उदर, ओष्ठ, जङ्घा आदि शब्द होते हैं तो स्त्रीलिङ्ग रूप बनाने के लिये ङीप् प्रत्यय विकल्प करके हुआ करता है। जहाँ 'ङीप्' नहीं होता है वहाँ 'टाप्' होता है। प्रहितेन=प्र+हि+क्त। चेतसा=यह चेतस् शब्द के तृतीया विभक्ति एकवचन का रूप है। दृश्यते=कर्मवाच्य में—दृश् धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है।

समास—दुस्सहात्=दुःखेन सह्यते इति दुःसह, तस्मात् दुस्सहात्। अनिष्टात्=न इष्टं अनिष्टं तस्मात्। यहाँ 'ल्यप् लोपे कर्मणि' से पञ्चमी विभक्ति होती है। मनस्विनीनाम्=प्रशस्तं मनः अस्ति आसां ताः मनस्विन्यः तासां मनस्विनीनाम्। कृशोदरि=कृशं उदरं यस्याः सा कृशोदरि तत्सम्बुद्धौ हे कृशोदरि। विचारमार्गप्रहितेन=विचारस्यमार्गः विचार मार्गः तस्मिन् प्रहितः तेन।

टिप्पणियाँ—दुस्सहात्=न सहन कर सकने योग्य। यह 'अनिष्टात्' का विशेषण है। अनिष्टात्=अप्रिय कार्य से (पति इत्यादि प्रियजनों के द्वारा किये गये अप्रिय कार्यों के कारण)। यहाँ पर 'अनिष्टात्' का अर्थ "अनिष्टं प्राप्य" है। मनस्विनीनाम्=धैर्यशालिनी स्त्रियों की अथवा मानिनी स्त्रियों की। ईदृशी—ऐसी, इस प्रकार की। यह प्रतिपत्ति का विशेषण है। प्रतिपत्तिः=प्रवृत्ति। "प्रतिपत्तिस्तु गौरवे", "प्राप्तो प्रागल्भ्ये" इति केशवः। भवति=होती है। नाम=यह अव्यय है, यहाँ इसका प्रयोग सम्भावना अर्थ में हुआ है। कृशोदरि

=हे दुर्बल कमर वाली । **विचारमार्गप्रहितेन**=विचार के मार्ग द्वारा प्रेषित (अर्थात् विचारपूर्वक सोचने के पश्चात्) । यह 'चेतसा' का विशेषण है । **चेतसा** =मन से, चित्त से । **तत्**=वह, अर्थात् पति के द्वारा किया गया हुआ अनिष्ट । **त्वयि**=तुम्हारे विषय में । **न दृश्यते**—नहीं मालूम होता है । इसका उक्त कर्म 'तद्' है ।।४२।।

* * *

प्रसङ्ग—उपर्युक्त प्रकार के अनिष्ट की सम्भावना न होने के बारे में तीन कारणों का प्रतिपादन करता है—

अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृति-
र्विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे ।
पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं
प्रसारयेत् पन्नगरत्नसूचये ।।४३।।

अन्वयः—हे सुभ्रु ! इयं (तव) आकृतिः अलभ्यशोकाभिभवा । पितुः गृहे (तव) विमानना कुतः ? पराभिमर्शः तव न अस्ति । पन्नगरत्नसूचये करं कः प्रसारयेत् ? ।।४३।।

संस्कृत-व्याख्या—हे सुभ्रु ! =हे शोभनभ्रूयूक्ते ! पार्वतीत्यर्थः इयं तव =त्वदीया, आकृतिः=आकारः, अलभ्यशोकाभिभवा=अप्राप्यशोकतिरस्करा, पितुः=जनकस्य,• गृहे=भवने, विमानना=अपमानः, कुतः=कस्मात् ? न संभाव्यते इति भावः । पराभिमर्शः=परधर्षणं तु, तव=ते, न अस्ति=न वर्तते । पन्नगरत्नसूचये=सर्पमणिप्राप्त्यै, करं=हस्तं, कः प्रसारयेत्=प्रसारितं कुर्यात् न कोऽपीत्यर्थः । हे शोभनभ्रूयुक्ते पार्वती ? सौन्दर्यशालिनः जनाः दुःखस्य आस्पदानि न भवन्ति । अतः शुभलक्षणयुक्तं सुन्दरं तव शरीरं दुःखयोग्यं नास्ति । पतिगृहवर्तिनीनां मानिनीनां सपत्न्यादि सकाशाद् दुःखं संभाव्येत किन्तु सम्पूर्णवन्धुजनपरिपूर्णपितृगृहवर्तिन्याः स्तिग्धायाः तव परस्मात् दुःखं कथं संभाव्यते । किञ्च परमैश्वर्य्यपूर्णशालिनः पर्वतराजहिमालयस्य त्वं कन्या असि अतः न कोऽपि त्वां बलादपि स्प्रष्टुं शक्नोति । यथा सर्पमणिहरणाय केनापि हस्तं न प्रसार्यते तथैव ।

भाषा—हे सुन्दर भौंहों वाली ! यह तुम्हारी आकृति शोक तथा तिरस्कार के द्वारा आक्रमण किये जाने योग्य नहीं दिखलाई पड़ती और फिर पिता के घर में अपमान कैसे हो सकता है ? कोई अन्य व्यक्ति जबरदस्ती तुम्हारा स्पर्श भी नहीं कर सकता है क्योंकि सर्प के मुख में स्थित मणि भी प्राप्त करने के लिये अपने हाथ कौन बढ़ायेगा ?

भावार्थ—हे सुन्दरि ! तुमको देखने से ऐसा भान नहीं होता है कि तुम्हारे ऊपर कोई आपत्ति आयी है। पति के घर में मानिनी स्त्रियों को सपत्नियों द्वारा कुछ कष्ट हो सकता है ? किन्तु तुम तो अपने पिता की परम प्रिय पुत्री हो। अतः तुम्हारे सम्बन्ध में ऐसी कल्पना भी नहीं है। तुम पर किसी के द्वारा बलात्कार किया गया हो, ऐसी भी सम्भावना नहीं की जा सकती क्योंकि तुम्हारे पिता तो पर्वतराज तथा चक्रवर्ती हैं। ऐसा दुःसाहस किस व्यक्ति में हो सकता है कि वह विषधर सर्प की मणि को पकड़ने के निमित्त अपने हाथ को बढ़ाये।

अलङ्कार—इस पद्य में "अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार है।

व्याकरण—**अलभ्य**=न+लभ्+यत्। **शोक**=शुच्+घञ् (भाव में)। **अभिभवा**=अभि+भू+अप् (भाव में)। **विमानना**=वि+मन+णिच्+युच् (भाव में)। **कुतः**=किम्+तसिल्। यहाँ "कुति होः" से किम् के स्थान पर 'कु' हो गया है। **अभिमर्श**=अभि+मृष+घञ् (भाव में)। **पन्नगरत्नसूचये**=पन्न+गम्+ड—पन्नगः। **प्रसारयेत्**=प्र+सृ+णिच्+लिङ्—प्रथम पुरुष एकवचन का रूप।

समास आदि—**सुभ्रु**=सु शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुसुभ्रूः, तस्याः सम्बोधने हे सुभ्रु !। **अलभ्यशोकाभिभवा**=लब्धुं योग्यं लभ्य, न लभ्यं अलभ्यं (नञ् तत्पुरुष समास), शोकेन अभिभवः (तृतीया तत्पुरुष) शोकाभिभवः अलभ्यः शोकाभिभवः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **पराभिमर्शः**=परस्य अभिमर्शः। **पन्नगरत्नसूचये**=पन्नं निम्नं गच्छतीति पन्नग ; रत्नस्य सूचिः रत्नसूचिः, पन्नगस्य रत्नसूचिः पन्नगरत्नसूचिः, तस्मै=यहाँ "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" से कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है। इस स्थान पर 'सूचये' का भाव है—पन्नगरत्नसूचिं ग्रहीतुम्।

टिप्पणियाँ—**सुभ्रु**=सुन्दर भौहों वाली। भट्टोजि दीक्षित के मतानुसार सुभ्रु में ह्रस्व नहीं होना चाहिये था। उनकी दृष्टि में यह एक प्रमाद है किन्तु टीकाकार मल्लिनाथ ने "सुभ्रु" रूप को ठीक माना है। उन्होंने इस विषय में भाष्यकार पतञ्जलि के उद्धरणों को प्रस्तुत कर अपने मत की पुष्टि की है। उनका कथन है कि पतञ्जलि के अनुसार अन्तिम स्वर को ह्रस्व करने का कहीं-कहीं विधान है क्योंकि उन्होंने "अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामुपसंख्यानम्" की टीका लिखते समय "कर्कन्धू" और "आलबू" शब्दों के उदाहरण उद्धृत किये हैं। इस भाँति उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि ऊकारान्त शब्दों में भी ऊङ् की प्रवृत्ति होती है तथा वे भी नदी संज्ञक होते हैं। इस भाँति 'नदीसंज्ञा' हो जाने पर ह्रस्व हो जाना भी वैधानिक हो जाता है। 'ऊकारान्तादप्यूङ्प्रवृत्तेः" लिखकर वामन ने भी उपर्युक्त विधान का ही समर्थन किया है। ऐसी स्थिति में उवङ् न होकर नदीसंज्ञा होगी और तदनन्तर ह्रस्व भी हो जायेगा।

आकृतिः=आकार, मूर्ति। **अलभ्यशोकाभिभवा**=शोक तथा तिरस्कार से रहित, अपमानजन्य दुःख के योग्य जो न हो अथवा जो शोक और अपमान के योग्य न हो। **लभ्यम्**=प्राप्त करने योग्य। **अभिभव**=तिरस्कार, अपमान। यह 'आकृतिः' का विशेषण है जो दृश्यते क्रिया का उक्त कर्म है। यह क्रिया यहाँ पर लुप्त है। **गृहे**=घर में। **विमानना**=अपमान, निरादर। **कुतः**—कहाँ से कैसे। **परामर्श**= दूसरे के द्वारा छुआ जाना अथवा धमकाया जाना। **परैः**=अन्यों के द्वारा। **पन्नगरत्नसूचये**=सर्प की मणिशलाका को ग्रहण करने के लिये। **पन्नग**=सर्प, रत्नमणि, **सूचि**=शलाका। **प्रसारयेत्**=फैला सकता है अथवा फैलाये, बढ़ाये; तात्पर्य यह है कि जैसे सर्प की मणि को कोई स्पर्श नहीं कर सकता है ॥४३॥

* * *

प्रसङ्ग—ब्रह्मचारी पार्वती से प्रश्न करता है कि उसने युवावस्था में आभूषणादिकों का त्याग कर वृद्धावस्था में धारण करने योग्य वल्कल वस्त्रों को क्यों धारण किया है?—

किमित्यपास्याभरणानि यौवने
धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।

वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका
विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥४४॥

अन्वयः—त्वया यौवने आभरणानि अपास्य वार्धकशोभि वल्कलम् किमिति धृतम् ? स्फुटचन्द्रतारका विभावरी प्रदोषे अरुणाय कल्पते यदि ? इति वद ॥४४॥

संस्कृत-व्याख्या—(हे गौरि ?) त्वया = भवत्या, यौवने = तारुण्ये, आभरणानि = भूषणानि, अपास्य = विहाय, वार्धकशोभि = वृद्धत्वशोभि, वल्कलम् = वल्कलवस्त्रम्, किमिति = केन कारणेन, धृतम् = धारितम् ? स्फुटचन्द्रतारका = व्यक्तेन्दुनक्षत्रा, विभावरी = रात्रिः, प्रदोषे = रजनीमुखे, अरुणाय = सूर्याय, कल्पते यदि = कल्पिता भवति किम् ? इति ब्रूम = ब्रूहि । युवावस्थायामेव त्वया आभूषणानि परित्यज्य स्थविरभावोचितं इद वल्कलवस्त्रं किमर्थं परिगृहीतमस्ति ? यथा चन्द्रेण नक्षत्रैश्च परिपूर्णा 'रात्रिः सायं सन्ध्यायामेव अरुणोदयं गन्तुं न शक्नोति तथैव अस्यां युवावस्थायामेव आभूषणानि परित्यज्य ते वल्कलधारणं तपश्चरणं च उचितं प्रतिभाति ।

भाषा—हे पार्वती ! युवावस्था में सुन्दर आभूषणों का त्याग कर वृद्धावस्था में शोभा देने वाले वल्कल वस्त्रों को तुमने क्यों धारण कर लिया है ? क्या चमकते हुये चन्द्र तथा नक्षत्रों से भरी हुई रात्रि प्रारम्भ में ही (सायंकालीन रात्रि के प्रारम्भ में ही) अरुणोदय को प्राप्त कर सकती है ? बतलाओ ।

भावार्थ—प्रायः मनुष्य वृद्धावस्था के आ जाने पर ही तप का आचरण करते तथा वल्कल वस्त्रों को धारण किया करते हैं । युवावस्था में तो वे नाना प्रकार के आभूषणों के द्वारा शरीर को सुसज्जित किया करते हैं । किन्तु तुम्हारा आचरण तो इसके प्रतिकूल ही है । तुमने तो युवावस्था में ही अपने सुन्दर आभूषणों को त्यागकर वल्कल वस्त्रों को धारण कर लिया है । इसका क्या कारण है ? हे पार्वती ! सायंकालीन रात्रि की शोभा चन्द्रमा और नक्षत्रों से बढ़ा करती है, प्रातःकालीन बालारुण से नहीं । अतएव इस युवावस्था में तुम्हारा वल्कल धारण करना नितान्त अनुचित ही प्रतीत होता है ।

अलङ्कार—इस पद्य में उपमा अलङ्कार है। यहाँ चन्द्र तथा नक्षत्र आभूषणों के और अरुण वल्कल के उपमान हैं। उपमा की स्वाभाविक छटा इसमें दर्शनीय है।

व्याकरण—**यौवने**=युवन्+अण्। यहाँ अधिकरण में सप्तमी है। **आभरणानि** आ+भृ=ल्युट् (करण में)। **अपास्य**=अप+अस्+ल्यप् **वार्धकशोभि** = वृध+क्त (कर्त्तरी)—वृद्ध। **वृद्धस्य भावः** वृद्ध+वुञ्—'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' से वुञ् प्रत्यय होता है और फिर वुङ् को अक तथा उपधा के ऋकार की वृद्धि हो जाती है। वैसे वृद्ध शब्द की गणना मनोज्ञादि गण में दृष्टिगोचर नहीं होती है किन्तु अनेक स्थलों पर वार्द्धक शब्द का प्रयोग उपलब्ध होने के कारण इसका समावेश उक्त गण के अन्तर्गत कर लिया गया है।' यदि वृद्धत्वेऽपि वार्द्धकमिति प्रयोगोऽस्ति तर्हि मनोज्ञादित्वं कल्पनीयम्। रघुवंश में भी इसका प्रयोग आता है—'वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।' **शोभि**=शुभ+णिनि। कुछ विद्वानों ने इस वार्द्धकशोभि' की व्याख्या इस प्रकार की है—वृद्धस्य भावः इति वृद्ध+अञ्—वार्द्धम् ततः कन्—वार्द्धकम्। वार्द्धके शोभते इति वार्द्धक+शुभ+णिनि—वार्द्धकशोभि। **धृतम्**=धृ+क्त। **विभावरी**=विभाति इति 'वि+भा+क्वनिप् विभावन्। विभावन् से स्त्रीलिङ्ग में 'वनोरच' से ङीप् प्रत्यय तथा 'न' के स्थान पर 'र' होकर विभावरी बनता है।

समास आदि—**यौवने**=युवावस्था में। **आभरणानि**=आभ्रियते येन इति आभरणम् तानि। **स्फुटचन्द्रतारका**=चन्द्रश्च तारकाश्च चन्द्रतारकाः (द्वन्द्व), स्फुटाः चन्द्रतारकाः यस्यां सा (बहुव्रीहि)। **वार्द्धकशोभि**=वृद्धस्य भावो वार्धकं तस्मिन् शोभते—वार्धकशोभि।

टिप्पणियाँ—**यौवने**=युवावस्था में। **आभरणानि**=आभूषणों को। यह अपास्य का कर्म है। **अपास्य**=त्यागकर छोड़कर। **वार्धकशोभि**=वृद्धावस्था में शोभा देने वाला। **वल्कलम्**=पेड़ की छाल अथवा वृक्षों की छाल से निर्मित वस्त्र। यह धृतम् का उक्त कर्म है। **धृतम्**=धारण कर लिया है। इसका अनुक्त कर्त्ता 'त्वया' है। **स्फुटचन्द्रतारका** = देदीप्यमान चन्द्रमा और ताराओं वाली। **विभावरी**=रात्रि, रात—'विभावरी तमस्विन्यौ रजनी यामिनि तमी'

इत्यमरः। प्रदोषे=रात्रि के प्रारम्भ में—सायंकालीन प्रारम्भिक रात्रि के समय। अरुणाय=प्रातःकालीन लालिमा को धारण करने के निमित्त=यहाँ पर 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' से चतुर्थी विभक्ति होती है। सूर्य के रथ का सारथि 'अरुण' है। इसके जंघाये नहीं है अतः इसे 'अनूरु' भी कहा जाता है। इसके पिता कश्यप तथा माता का नाम विनता है। इसी का छोटा भाई गरुड़ कहा जाता है। 'अरुण' शब्द का अर्थ लाल रंग' भी है। उषाकाल से आकाश की कान्ति लाल रंग की हुआ करती है। इसी कारण यह अरुण प्रातःकाल का दूत भी कहा जाता है। यहाँ अरुणोदय से तात्पर्य उसी प्रातःकालीन अरुणिमा अथवा लालिमा से है। कल्पते यदि=क्या समर्थ हो सकती? भाव यह है कि जैसे प्रारम्भिक रात्रि प्रातःकालीन लालिमा को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकती है उसी प्रकार पार्वती को भी युवावस्था में वल्कल वस्त्र धारण करना उचित नहीं था ॥४४॥

* * *

प्रसङ्ग—यदि तप का कोई दूसरा ही प्रयोजन है—तब उसकी भी संभावना करना व्यर्थ ही है क्योंकि—

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः
पितुः प्रदेशास्तव देव भूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना
न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥४५॥

अन्वयः—यदि दिवं प्रार्थयसे, श्रमः वृथा। (यतः) तव पितुः प्रदेशाः देवभूमयः। अथ उपयन्तारं प्रार्थयसे, समाधिना अलम्। हि रत्नं न अन्विष्यति तत् मृग्यते ॥४५॥

संस्कृत-व्याख्या—यदि=चेत्, दिवं=स्वर्गं, प्रार्थयसे=(प्राप्तुं) अभिलषसि तर्हि, श्रमः=परिश्रमः, तपश्चरणप्रयासः इत्यर्थः वृथा=निष्फलः। यतः, तव=त्वदीयस्य, पितुः=जनकस्य, प्रदेशाः=स्थानानि, देवभूमयः=स्वर्गपदार्थाः। अथ=पक्षान्तरे, उपयन्तारं=वरं, प्रार्थयसे=कामयसे, समाधिना=तपसा,

अलम् = न कर्त्तव्यम् इत्यर्थः । हि = यतः, रत्नं = मणिः न, अन्विष्यति = (गृहीतारं स्वयं) न मृग्यते, अपितु, तत् = रत्नं, मृग्यते = अन्विष्यते । यदि त्वं अनेन तपसा स्वर्गमपेक्षसे तर्हि तवायं प्रयासः निरर्थकमेव—यतोहि तव पितुः हिमालयस्य प्रदेशाः एव स्वर्गाः सन्ति । अतएव स्वर्गस्थितान् स्वर्गप्राप्त्यपेक्षा न संभवति । अथ त्व योग्यवरप्राप्तये तपः समाचारसि तर्हि तदपि नोचितम् । यतो हि रत्नं स्वकीयं ग्राहकं न स्वयं अन्विष्यति अपि ग्राहकः एव रत्नं अन्विष्यति । एवमेव त्वां वरः स्वयमेव आगत्य स्वीकरिष्यति ।

भाषा—यदि तुम स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा (से तप करती हो) रखती हो तब तो तुम्हारी यह तपस्या निरर्थक ही है क्योंकि तुम्हारे पिता के सभी प्रदेश देवताओं के निवास स्थान है और यदि किसी योग्य वर को प्राप्त करने की इच्छा रखती हो तब तो इस समाधि की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि रत्न स्वयं ही (अपने ग्राहक) को नहीं खोजा करता है अपितु (ग्राहक) ही उसे खोजा करता है ।

भावार्थ—ब्रह्मचारी पार्वती से कहता है यदि तुम स्वर्ग-प्राप्ति की दृष्टि से इस कठोर तप को कर रही हो तब तो तुम्हारी यह तपस्या पूर्णतया निरर्थक ही है क्योंकि स्वर्ग के स्थल तो तुम्हारे पिता की भूमियाँ ही हैं । यदि किसी योग्य पति की प्राप्ति के उद्देश्य से इस तप को कर रही हो तो भी तुम्हारी तपस्या व्यर्थ ही है क्योंकि रत्न अपने ग्राहक की खोज स्वयं ही नहीं किया करता है अपितु ग्राहक ही उस (रत्न) की खोज में रहा करता है । तुम रत्न के सदृश सर्वगुण सम्पन्न हो अतः तुम्हारे योग्य पति स्वयं ही उपस्थित होकर तुम्हारा वरण कर लेगा । तुमको उसके खोजने की आवश्यकता नहीं है ।

अलङ्कार—इस पद्य में 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है ।

व्याकरण—प्रार्थयसे—प्र + अर्थ + णिच् + लट् + मध्यमपुरुष एकवचन । **श्रमः** = श्रम + घञ् (भाव में) । **उपयन्तारम्** = उप + यम् + तृच् = उपयन्ता (तम्) ।

समास आदि—देवभूमयः = देवानां भूमयः (षष्ठी तत्पुरुष) । **उपयन्तारम्** उपयच्छतीति उपयन्ता तम् ।

टिप्पणियाँ—**दिवम्**=स्वर्ग को। **प्रार्थयसे**=चाहती हो प्राप्त करने की इच्छा रखती हो। इसका कर्त्ता 'त्वम्' है। **श्रमः**=परिश्रम तपस्या—'अभ्यासे शास्त्रविद्यादौ वेदे तपसि च श्रमः' इति भोजः। यह 'स्यात्' (लुप्त) क्रिया का कर्त्ता है। **प्रदेशाः**=प्रदेश, स्थान। **देवभूमयः**=देवताओं के निवास-स्थान। **उपयन्तारम्**=पति को यह प्रार्थयसे का कर्म है। **समाधिना**=तपस्या से—यहाँ अलम् शब्द के योग में तृतीया हुई है। **अलम्** मत करो। यह निषेध अर्थ' को जताने वाला अव्यय है 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः। **न अन्विष्यति**=नहीं खोजती है (ग्राहक को)। **हि**=यह अव्यय है। इसका प्रयोग अवधारण तथा हेतु अर्थ में होता है—'हि हेतावधारणे' इत्यमरः। इस स्थल पर यह अवधारण (निश्चय) अर्थ में प्रयुक्त है। **मृग्यते**=खोजा जाता है। भाव यह है कि रत्न ग्राहक को नहीं खोजा करता है। अपितु ग्राहक ही रत्न को खोजा करता है। पार्वती रत्न के सदृश है—अतः उन्हें अपने ग्राहक (पति) की खोज करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। वह इतनी सुन्दर है कि उसके सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसका पति उसकी खोज स्वयं ही कर लेगा। इसके लिये तपश्चर्या करने की कोई भी आवश्यकता पार्वती को नहीं है ॥४५॥

◆

प्रसङ्ग—पार्वती द्वारा ली गयी लम्बी श्वास को देखकर ब्रह्मचारी अनुमानपूर्वक पुनः कहता है—

निवेदितं निश्वसितेन सोष्मणा
मनस्तु मे संशयमेव गाहते।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते
भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥४६॥

अन्वयः—सोष्मणा निश्वसितेन निवेदितम्, मे मनः तु संशयं एव गाहते, ते प्रार्थयितव्यः एव न दृश्यते, प्रार्थितदुर्लभः कथम् भविष्यति ॥४६॥

संस्कृत-व्याख्या—**सोष्मणा**=उष्णतायुक्तेन, **निश्वसितेन**=निश्वासवायुना, **निवेदितम्**=सूचितम्—यद्यपि तव दीर्घोष्णनिश्वासानुमानेन 'वरप्राप्तिरेव' तपः

कारणमिति मया सम्यक् ज्ञातं तथापि, मे = मम, मनः तु = चित्तं तु, संशयं एव = सन्देहं एव, गाहते = प्राप्नोति—मम चित्तं कमपि निश्चयं नोपलभते । यतः ते = तव, प्रार्थयितव्यः एव = प्रार्थयितुं योग्यः एव, न दृश्यते = न अवलोक्यते । प्रार्थितदुर्लभः = याचितदुष्प्राप्यः, कथम् = केन प्रकारेण भविष्यति, नास्ति एव इत्यर्थः । त्वत्तः श्रेष्ठः कोऽपि न दृश्यते यः त्वया प्रार्थनीयो भवेत् । अतः एतदर्थमपि ते तपसि प्रवृत्तिः न ।

भाषा—यद्यपि तुम्हारी उष्ण और लम्बी सांस ने (तुम्हारी वरविषयक इच्छा को) सूचित कर दिया है, तथापि मेरा मन सन्देह करता ही है, क्योंकि तुम्हारे द्वारा प्रार्थना करने योग्य कोई (व्यक्ति) दिखलायी नहीं पड़ता, फिर (ऐसा कौन है जो) प्रार्थना किये जाने पर अप्राप्य होगा ।

भावार्थ—तुमने जो अभी लम्वी सांस ली उससे मैं अनुमान करता हूँ कि योग्य वर-प्राप्ति की इच्छा ही तुम्हारी तपस्या का कारण है किन्तु यह भी मुझे युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता है क्योंकि तुम सवकी प्रार्थना की वस्तु हो फिर तुम्हारा प्रार्थित कोई व्यक्ति दुर्लभ होगा यह तीनों लोकों में असम्भव है ।

व्याकरण—निश्वसितेन = नि + श्वस् + क्त (नपुंसकलिङ्ग में) निश्वसितम्—तेन । निवेदितम् = नि + विद् + णिच् + क्त (कर्म में) । गाहते = गाह् + लट्—प्रथम पुरुष, एकवचन का रूप । प्रार्थयितव्य = प्र + अर्थ + णिच् + तव्यत् ।

समास आदि—सोष्मणा = उष्मणा सह वर्त्तमानमिति सोष्म, तेन । यह 'निश्वसितेन' का विशेषण है । प्रार्थितदुर्लभः = दुःखेन लब्धुं शक्यः दुर्लभः प्रार्थितश्चासौ दुर्लभः—प्रार्थितदुर्लभः (कर्मधारय) ।

टिप्पणियाँ—सोष्मणा = गरम-गरम । निश्वसितेन = निश्वास वायु के द्वारा । निश्वास = लम्बी सांस छोड़ना । इसका विलोम शब्द उच्छ्वास है । उच्छ्वास—लम्बी श्वास लेना या खींचना । निवेदितम् = सूचित कर दिया है—वर विषयक इच्छा को प्रकट कर दिया है । ब्रह्मचारी द्वारा 'वर' शब्द का उच्चारण किये जाने पर ही पार्वती ने कोई उत्तर न देकर लम्बी श्वांस ही छोड़ी । इससे उसने यह समझ लिया कि पार्वती के तप का उद्देश्य योग्य

वर-प्राप्ति ही है। **मे**=मेरा। **गाहते**=प्राप्त करता है। **संशयमेव गाहते**=फिर भी मेरा मन संशय में ही पड़ जाता है। गाहते क्रिया का कर्त्ता मनः है। **ते**=तुम्हारा। यहाँ "कृत्यानां कर्त्तरि वा" से विकल्प करके षष्ठी विभक्ति हुई है। षष्ठी न होने पर तृतीया विभक्ति होगी। **प्रार्थयितव्यः**=प्रार्थना किये जाने के योग्य, खोजा जाने योग्य। यह 'जनः' शब्द का विशेषण है। अतः प्रार्थयितव्य का अर्थ है—प्रार्थयितव्यः 'जनः' 'क्वचित् विशेषणप्रयोगो विशेष्यापपत्तौ' इति वामनः। **प्रार्थितदुर्लभः**=खोजे जाने पर भी दुर्लभ अथवा अप्राप्य। ब्रह्मचारी अपने सन्देह का कारण स्पष्ट करते हुये कहता है कि मेरी दृष्टि में ऐसा कोई भी व्यक्ति न होगा कि जो रूपादि गुणों में तुमसे श्रेष्ठ हो तथा जिसकी प्राप्ति के लिये तुमको खोज करनी पड़े और फिर तुम्हारे द्वारा वर रूप में स्वीकार कर लिये जाने पर ऐसा कोई व्यक्ति न होगा कि जो अपना सौभाग्य न समझे ॥४६॥

* * *

प्रसङ्ग—आगे वह कहता है कि तुम्हारे द्वारा प्रार्थित कोई कठोर व्यक्ति ही होगा कि जो—

अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा
चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।
उपेक्षते यः श्लथलम्बिनोर्जटाः
कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः ॥४७॥

अन्वयः—अहो ! तव ईप्सितः युवा कोऽपि स्थिरः। यः चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते कपोलदेशे श्लथलम्बिनी कलमाग्रपिङ्गलाः जटाः उपेक्षते ॥४७॥

संस्कृत-व्याख्या—अहो ! =आश्चर्यं, तव=भवत्याः, ईप्सितः=आप्तुं इष्टः, युवा=तरुणः, कोऽपि=कश्चिदपि, स्थिरः=कठिनः, वर्तते इति शेषः। यः=युवा, चिराय=चिरात्प्रभृति, कर्णोत्पलशून्यता=श्रुतिकुवलयराहित्यं, गते=प्राप्ते, कपोलदेशे=गण्डस्थले, श्लथलम्बिनीः=बन्धनशैथिल्येन लम्बमानाः, कलमाग्रपिङ्गलाः=शालिविशेषाग्रकपिलाः, जटाः=सटाः, उपेक्षते=उपेक्षां करोति। हे पार्वति ! त्वं वरत्वेन यं अभिलषसि, यस्य प्राप्त्यै ईदृशं

दुष्करं तपः समाचरसि, सः युवा निर्दयः क्रूरहृदयश्चप्रतीयते । यतो हि सः चिरात्प्रभृति कर्णाभूषणरहिते तव गण्डस्थले लम्बमानाः पिङ्गलाः तव जटाः समुपेक्षते । ईदृशीं तव दशां दृष्ट्वा सः लेषमात्रमपि तवोपरि दयां न कुरुते ।

भाषा—आश्चर्य है कि तुम्हारा इच्छित युवक कोई बहुत कठिन हृदय वाला है, जो बहुत समय से कर्णफूल से रहित तुम्हारे गालों पर, कलम नामक धान के अग्र भाग के सदृश पीतवर्ण की, ढीली, शिथिल और लटकने वाली लम्बी इन जटाओं की (अब तक) उपेक्षा कर रहा है ।

भावार्थ—आश्चर्य की बात है कि तुम जिस युवक को पति के रूप में स्वीकार करना चाहती हो, वह अत्यन्त अभिमानी और निर्दयी प्रतीत होता है, जो बहुत दिनों से कर्णफूल से रहित तुम्हारे गालों पर लटकती हुई इन जटाओं को देखकर भी तुम्हारी उपेक्षा कर रहा है ।

व्याकरण—ईप्सितः = आप + सन् + क्त । यहाँ "आप ज्ञप्यृधामीत्" सूत्र से आप के आ के स्थान पर ई हो जाता है । क्त प्रत्यय विधेयक सूत्र "मति-बुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" से वर्तमान में क्त प्रत्यय होता है । साथ ही "क्तस्य च वर्तमाने" के नियमानुसार 'तव' में षष्ठी विभक्ति हुई है । गते = गम् + क्त (कर्त्तरी) गत—तस्मिन् । लम्बिनी = लम्ब + णिनी + ङीप् । उपेक्षते = उप + ईक्ष + लट्—प्रथम पुरुष एकवचन का रूप ।

समास आदि—कर्णोत्पलशून्यताम् = कर्णयोः उत्पले कर्णोत्पले ताभ्यां शून्य र्णोत्पलशून्यः तस्य भावः कर्णोत्पलशून्यता ताम् । कपोलदेशे = कपोल एव देशः कपोल देशः तस्मिन् (कर्मधारय) । श्लथलम्बिनीः = श्लथाश्च लम्बिन्यः लथलम्बिन्यः ताः । कलमाग्रपिङ्गलाः = कलमानां अग्राणि कलमाग्राणि (षष्ठी त्पुरुष) तानि इव पिङ्गलाः (उपमान तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—अहो = इस स्थान पर यह आश्चर्य अर्थ वाला अव्यय है । सितः = चाहा हुआ । यह 'युवा' का विशेषण है । युवा = युवक, तरुण—स्तरुणो युवा" इत्यमरः । कोऽपि = कोई । स्थिर = कठोर हृदय वाला । राय = अधिक समय से । यह विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है—"चिराय रात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः" इत्यमरः । कर्णोत्पलशून्यताम् = कमलरूपी नामक आभूषण से रहित, अथवा कर्णफूल नामक गहने से शून्य ।

उत्पल=कमल। वन में निवास करने वाली स्त्रियाँ श्रृङ्गार के लिए कानों में कमल पहना करती थीं। पार्वती भी पहले अपने कानों में कमलों को लगाया करती थीं किन्तु तपस्या का व्रत ले लेने पर उसने उनका भी त्याग कर दिया था। अतः उनका गाल उस कमल से रहित हो गया था। **गते**=प्राप्त होने पर। यह "कपोलदेशे" का विशेषण है। **कपोलदेशे**=गालों के ऊपर। **श्लथलम्बिनीः**=ढीली, बन्धन रहित तथा लटकती हुई। **श्लथाः**=ढीली-ढाली, खुली हुई। **लम्बिन्यः**=लटकने वाली। **कलमाग्रपिङ्गला**=कमल नामक विशेष धान के अग्रभाग के सदृश पीतवर्ण (सुनहरी) उपर्युक्त दोनों की विशेषण "जटाः" के हैं। **जटाः**=जटाओं को। **उपेक्षते**=उपेक्षा (लापरवाही) करता है। इस क्रिया का कर्त्ता "यः" है ॥४७॥

◆

प्रसङ्ग—वस्तुतः तुम्हारा अभिलषित व्यक्ति पत्थर के सदृश अचेतन ही है क्योंकि वह व्यक्ति तुम्हारी इस प्रकार की दयनीय दशा देखकर भी द्रवीभूत नहीं होता—

मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां
दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम्।
शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा
सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥४८॥

अन्वयः—मुनिव्रतैः अतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदां दिवा शशाङ्कलेखामिव त्वां पश्यतः सचेतसः कस्य मनः न दूयते ॥४८॥

संस्कृत-व्याख्या—मुनिव्रतैः=ऋषिनियमैः, अतिमात्रकर्शिताम्=अत्यन्त, कृशीहताम्, दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम्=सूर्यदग्धाऽलङ्कारस्थानां, दिवा=अहनि, शशाङ्कलेखामिव=चन्द्ररेखासदृशीं, त्वाम्=भवतीं, पश्यतः=अवलोकयतः, सचेतसः=जीवतः, कस्य=पुंसः, मनः=चित्तं, न दूयते=न परितप्यते। सर्वस्यैव चित्तं परितप्यते एवेत्यर्थः। चान्द्रायणादिभिः व्रतैः अत्यन्तकृशीकृतां सूर्यदग्धाऽलङ्कारस्थानां दिवसे परिधूसरां चन्द्ररेखामिव भवतीमवलोकयतः कः एतादृशः सहृदयः अस्ति यः दुःखं नानुभवति ?

भाषा—मुनियों के योग्य व्रतों के करने से अत्यन्त दुर्बल हुई सूर्य की

किरणों से दग्ध आभूषण पहनने के स्थान वाली तथा दिन में चन्द्रमा की रेख (कला) के सदृश तुमको देखते हुए किस सहृदय का (भावुक का) मन दुःखी न होगा।

भावार्थ—हे पार्वती ! चन्द्रायण इत्यादि व्रतों के करने से तुम अत्यधिक दुर्बल हो गई हो। जिन अंगों में तुम आभूषणों को धारण किया करती थी। सूर्य की किरणों के द्वारा वे अंग काले हो गये हैं। जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश के कारण मन्द हुई शोभा से युक्त रेखा रूप में विद्यमान् चन्द्रमा की अवस्था त्यन्त दयनीय हो जाती है उसी भाँति इस समय तुम्हारी अवस्था भी हो गई है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा कि जो ऐसी तुम्हारी दयनीय दशा को देखकर भी दुःख का अनुभव न करता होगा ?

व्याकरण—कर्शिताम्=कृश् (दिवादिगणी)+णिच्+क्त (कर्मणि)+टाप् (स्त्रीलिङ्ग में)—कर्शिता। दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम्=दिवा+कृ+ट (कर्त्तरि)=दिवाकरः। आप्लुष्ट=आ+प्लुष् (दाह अर्थ में भ्वादिगणी)+क्त (कर्म में)। आस्पद=आ+पद्+घ। यहाँ 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' से 'सुट' का आगम हो जाता है। विभूषणम्=वि+मुष्=ल्युट् (अन)। पश्यतः=दृश्+शतृ—पश्यत् (तस्य)। दूयते=दूङ् (दिवादिगणी—उपताप अर्थ में) लट्—प्रथम पुरुष एकवचन का रूप।

समास आदि—मुनिव्रतैः=मुनिनां व्रतानि (तत्पुरुष) मुनिव्रतानि तैः। अतिमात्रकर्शिताम्=मात्रां अतिगतम् इति अतिमात्रम् (प्रादि तत्पुरुष); अतिमात्रं यथा तथा कर्शिता ताम् (सुप्सुपा)। दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम्—दिवा-र आप्लुष्टानि दिवाकराप्लुष्टानि (तृतीया तत्पुरुष); विभूषणानां आस्पदानि षणास्पदानि (षष्ठी तत्पुरुष); दिवाकराप्लुष्टानि विभूषणास्पदानि यस्याः ताः ताम् (बहुव्रीहि)। शशाङ्कलेखाम्=शशः अङ्के (गोद में) स्थितः—शशाङ्कस्थः =यस्य स शशाङ्कः; शशाङ्कस्य लेखा शशाङ्कलेखा ताम् (षष्ठी तत्पुरुष)। सचेतसस्य=चेतसा सह वर्त्तमानः इति सचेतसः तस्य सचेतसः, (बहुव्रीहि) यहाँ 'तेन सहेति तुल्ययोगे' से बहुव्रीहि समास होता है।

अलङ्कार—शशाङ्कलेखामिव—में 'उपमा' अलङ्कार है। यह 'त्वाम्' का उपमान है। जिस भाँति दिन में सूर्य की किरणों के तीव्र प्रकाश के कार

चन्द्रमा की कला क्षीण हो जाती है उसी भाँति पार्वती भी तपस्या के नियमों का कठोरता से पालन करने के कारण अत्यन्त क्षीण (दुर्बल) हो गई थी।

टिप्पणियाँ—मुनिव्रतैः = ऋषियों के योग्य व्रत द्वारा । यह 'कर्शिताम्' क्रिया का कर्ता है । **अतिमात्रकर्शिताम्** = अत्यन्त पतली दुबली क्षीणकाय । **कर्शिता** = दुर्बल (क्षीण) हुई । **मात्रा** = सीमा । यह 'त्वाम्' का विशेषण है । **दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम्** = सूर्य के द्वारा जला दिये गये हैं, आभूषण पहनने के स्थान जिसके ऐसी (पार्वती) की । पार्वती अपने जिन अंगों में आभूषण पहना करती थीं वे अङ्ग तपस्या करने के कारण सूर्य की धूप से जल गये थे । **दिवाकर** = सूर्य—लक्षणा द्वारा यहाँ सूर्य की किरणों से ही अर्थ लिया जाता है । **आप्लुष्ट** = दग्ध—जले हुए । **आस्पद** = स्थान । **दिवा** = दिन में । यह अव्यय है । **शशाङ्कलेखाम्** = चन्द्रमा की रेखा । **पश्यतः** = देखते हुए । यह 'कस्य' का विशेषण है । **कस्य** = किसका । **सचेतस्य** = सहृदय का, भावुक हृदय का । **न दूयते** = नहीं दुःखी होता है ॥४८॥

* * *

प्रसङ्ग—अब ब्रह्मचारी उस पार्वती द्वारा मनोनीत वर के बारे में उलाहना देते हुए कहता है—

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं
तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः ।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो
न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः ॥४९॥

अन्वयः—तव प्रियं सौभाग्यमदेन वञ्चितं अवैमि, यः चतुरावलोकिन अरालपक्ष्मणः अस्य चक्षुषः आत्मीय वक्त्रं चिरं लक्ष्यं न करोति ॥४९॥

संस्कृत-व्याख्या—तव = भवत्याः, प्रियं = वल्लभम्, सौभाग्यमदेन = सौन्दर्यगर्वेण, वञ्चितं = विप्रलब्धम्, अवैमि = जानामि ! यः = (तव) प्रिय; चवुरावलोकिनः = मधुरदर्शिनः, अरालपक्ष्मणः = जिह्मरोम्णः, अस्य = त्वदीयस्य, चक्षुषः = नेत्रस्य, आत्मीय = स्वकीयं, वक्त्र = आननम्, चिरम् = बहुकालपर्यन्तं, लक्ष्यं = विषय, न करोति = न विदधाति । पार्वति ! त्वं यः युवा पुरुषं

वरत्वेन प्राप्तुमिच्छसि सः निजसौन्दर्योपरि मिथ्याभिमानं करोति। अनेनैव: कारणेन स्व सौन्दर्यं सर्वश्रेष्ठं मन्यमानः सः युवा त्वत्समक्षं नायाति।

भाषा—मैं तुम्हारे प्रिय व्यक्ति को (अपने) सौन्दर्य के अभिमान से ठगा हुआ जानता हूँ—जिसने सुन्दर ढङ्ग से देखने वाले तथा टेढ़ी भौंहों से युक्त इन तुम्हारे नेत्रों का लक्ष्य देर तक के लिये अपने मुख को नहीं बनाया।

भावार्थ—हे पार्वती! तुम जिस युवा पुरुष को अपने पति के रूप में प्राप्त करने की इच्छा रखती हो वह अपने सौन्दर्य के मिथ्या अभिमान में है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। इसी कारण वह अपने सौन्दर्य को सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ तुम्हारे समक्ष नहीं आता है। यदि वह तुम्हारे सामने आ जायेगा तो तुम्हारे सुमधुर सौन्दर्य को देखकर उसका मिथ्याभिमान नष्ट हो जायेगा। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने सौन्दर्य के झूठे घमण्ड के द्वारा ठग लिया गया है।

व्याकरण—**प्रियम्**=प्री+क—प्रियः तम्। **सौभाग्य**=सुभग+ष्यञ्। **अवैमि**=अव+इ+लट्—उत्तम पुरुष, एकवचन का रूप। **वञ्चितम्**=वञ्च+णिच्+क्त (कर्मणि)। **चतुरावलोकिनः**=चतुर+अव+लोक+णिनि—चतुरावलोकिन्—षष्ठी में—चतुरावलोकिनः। **आत्मीयम्**=आत्मन्+छ (ईय)। **लक्ष्यम्**=लक्ष+णिच्+यत्।

समास आदि—**प्रियम्**=प्रीणातीति प्रियः तम्। **सौभाग्यमदेन**=सुभगस्य त: इति सौभाग्यम्; यहाँ 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' से उभयपद में वृद्धि ाती है। सौभाग्यस्य मदः सौभाग्यमदः तेन (षष्ठी तत्पुरुष)। **चतुराव-किन:**=चतुरं यथा तथा अवलोकसे इति चतुरावलोकिन् तस्य। **अराल-पक्ष्मणः**=अरालानि पक्ष्माणि यस्य तत् (बहुव्रीहि) तस्य। **आत्मीयम्**=आत्मन इदम्।

टिप्पणियाँ—**प्रियम्**=प्रिय को, अपने इष्ट व्यक्ति को। यह 'अवैमि' क्रिया का कर्म है। उसका प्रिय वही है कि जिसको पार्वती ने अपने पति के रूप में वरण करने का निश्चय कर रखा था। **सौभाग्यमदेन**=अपने सौन्दर्य के अभिमान के द्वारा। **वञ्चितम्**=ठगा हुआ। यह 'प्रियम्' का विशेषण है, भाव यह है कि तुम्हारे प्रिय व्यक्ति को अपनी सुन्दरता का झूठा अभिमान है।

इसी कारण वह तुम्हारे सौन्दर्य का लाभ नहीं प्राप्त कर रहा है। वह अपने को तुम्हारी अपेक्षा अधिक सुन्दर समझ रहा है। यही उसका झूठा अभिमान है और इसी के द्वारा वह ठगा जा रहा है। **अवैमि**=जानता हूँ, समझता हूँ (अव+इण् (गतौ) का अर्थ जानना होता है। **चतुरावलोकिन:**=सुन्दर ढंग से देखने वाले। **चतुर**=मधुर, सुन्दर। यह 'चक्षुषः' का ही विशेषण है। **अरालपक्ष्मण:**=टेढ़ी बरौनियों वाले। **अराल**=टेढ़ा, **पक्ष्म**=बरौनियाँ, आँखों के लोम। नपुंसकलिङ्ग है। यह भी 'चक्षुप' का ही विशेषण है। **अस्य**=इसका पार्वती का। **चक्षुषः**=आँख का। इसका सम्बन्ध 'लक्ष्यम्' से है। **आत्मीयम्**=अपने स्वकीय। यह 'वक्त्रम्' का विशेषण है। **वक्त्रम्**=मुख को। **चिरम्**=बहुकालपर्यन्त वहुत समय तक। **लक्ष्यम्** निशाना, लक्ष्य ॥४९॥

* * *

प्रसङ्ग—अव वह ब्रह्मचारी उसी अभिलषित वर के बारे में पूछता है—

कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि विद्यते
ममापि पूर्वाश्रमसञ्चितं तपः।
तदर्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं
वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥५०॥

अन्वयः—हे गौरि ! कियत् चिरं श्राम्यसि ? ममापि पूर्वाश्रमसञ्चितं तपः विद्यते। तदर्धभागेन काङ्क्षितं वरं लभस्व। तं साधु वेदितुं इच्छामि च ॥५०॥

संस्कृत-व्याख्या—हे गौरि ! = हे पार्वती, कियत्=किं प्रमाणकं किमवधिकमित्यर्थः, चिरं=बहुकालपर्यन्तं, श्राम्यसि=तपस्यसि, मम अपि=मामकं अपि, पूर्वाश्रमसञ्चितं=ब्रह्मचर्याश्रमसम्पादितं तपः, विद्यते=वर्तते। तदर्धभागेन=तदर्धांशेन, काङ्क्षितं=इष्टम्, वरं=उपयन्तारं, लभस्व=प्राप्नोतु, तम्=वरम्, साधु=सम्यक्, वेदितुम्=ज्ञातुम्, इच्छामि। हे पार्वती ! त्वया यावत्तपः समाचरितं तावदेव पर्याप्तमस्ति। अतः अधिकेन तपः श्रमेण अलम्। यदि त्वं स्वोपार्जितेन तपसा स्वाभीष्टं वरं प्राप्तुं असम्भवं मन्यसे तर्हि अहं प्रथमाश्रमे संचितस्य स्वकीयस्य तपसः अर्धभागं तुभ्यं दातुं उद्यतोऽस्मि। तेन त्वं स्वाभिलषितं वरं अवश्यमेव प्राप्स्यसि। किन्तु पूर्वं तावदहं तस्य नाम ज्ञातुमिच्छामि।

भाषा—हे पार्वती ! तुम कब तक तपस्या करती रहोगी । ब्रह्मचर्याश्रम में एकत्रित किया गया मेरा भी तप है, (यदि चाहो तो) उसके आधे भाग से अपने मनचाहे वर को प्राप्त कर लो । किन्तु मैं उस वर को भली-भाँति जान लेना चाहता हूँ ।

भावार्थ—हे पार्वती ! तुम अब अपनी तपस्या बन्द करो । तुम्हारी इतनी ही तपस्या तुम्हारे अभिलषित वर की प्राप्ति के निमित्त पर्याप्त है । किन्तु यदि तुम उसको अब भी अपर्याप्त समझती हो तो मेरे द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम में सञ्चित तप में से आधा तप तुम ले लो और फिर अपने मन चाहे वर की प्राप्ति कर लो । किन्तु उस वर का परिचय मुझे अवश्य दे दो, मैं उसको जानने का अत्यन्त इच्छुक हूँ ।

व्याकरण—कियत् किम् + वतुप् । यहाँ "किमिदम्भ्याम् व को घः" सूत्र से व के स्थान पर घ पुनः 'घ' को इव आदेश तथा "इदं किमोरीश्की" से किम् के स्थान पर कि हो जाता है । **श्राम्यसि** = श्रम् + लट्—मध्यम पुरुष, एकवचन का रूप । यहाँ "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" से भविष्यत् काल में वर्त्तमान-काल लट्लकार होता है । किन्तु इस श्रम सी पूर्व जबकि उपसर्ग जुड़ जाता है । तब इसका अर्थ 'विश्राम करना' हो जाता है । **सञ्चितम्** = सम् + चि + क्त—सञ्चित । **काङ्क्षितम्** = काङ्क्ष + क्त (कर्मणि) । **लभस्व** = लभ् + लो—मध्यम पुरुष एकवचन । **वेदितुम्** = विद + तुमुन् ।

समास आदि—**कियत्** = किं परिमाणमस्येति कियत्, **पूर्वाश्रमसञ्चितम्** = [illegible]श्चासौ आश्रमः पूर्वाश्रमः (कर्मधारय), पूर्वाश्रमे संचितम् पूर्वाश्रमसंचितम् । **तदर्धभागेन** = अर्धः भागः अर्धभागः (कर्मधारय), तस्य अर्धभागः तदर्धभागः तेन । **कांक्षितम्** = कांक्षा यस्य सः तम् ।

टिप्पणियाँ—**कियत्** = कितना ? **चिरम्** = अधिक समय तक । यहाँ 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' से द्वितीया विभक्ति होती है । 'चिरम्' का विशेषण 'कियत्' है । **श्राम्यसि** = श्रम (तपस्या) करोगी । इसका कर्त्ता 'त्वम्' है । **पूर्वाश्रमसञ्चितम्** = पहले (ब्रह्मचर्य) आश्रम में इकट्ठा किया गया हुआ । यह 'तपः' का विशेषण है । **तदर्धभागेन** = उसके आधे भाग से । **कांक्षितम्** = मन चाहे हुये, यह वरम् का विशेषण हैं । **वरम्** = पति को । यह 'लभस्व' का कर्म है ।

लभस्व—प्राप्त करो। **वेदितुम्**—जानने के लिये। **इच्छामि**—चाहता हूँ, इच्छा करता हूँ। इस पद्य में कहे गये हुये "तदर्धभागेन लभस्व कांक्षितम्" इस उक्ति से यह आभास सा होने लगता है कि ब्रह्मचारी स्वयं ही शिव है तथा वह पार्वती के अपने प्रति किये गये प्रेम की वास्तविकता एवं सत्यता की परीक्षा लेने आया है। साथ ही यह भी विदित होता है कि उसने पार्वती का पति बनना मन ही मन स्वीकार कर लिया है। इसी कारण वह अपने तप का आधा भाग उसको देने को उद्धत है। यदि उसने स्वयं को पार्वती का पति बनना स्वीकार न किया होता तो वह अपने तप का आधा भाग उसको देने को तैयार नहीं हो सकता था और पार्वती भी उसको प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं बन सकती थी क्योंकि केवल पत्नी ही पति के पुण्यकर्मों के अर्धभाग को प्राप्त करने की अधिकारिणी हो सकती है ऐसी शास्त्रीय परम्परा है—"स्वामिनः पुण्यार्धं लभते पत्नी ॥५०॥"

◆

प्रसङ्ग—ब्रह्मचारी की उपर्युक्त बातों को सुनकर पार्वती ने अपनी सखी को उत्तर देने के लिये इशारा किया—

इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना
मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्।
अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं
विवर्त्तितानञ्जननेत्रमैक्षत ॥५१॥

अन्वयः—इति द्विजन्मना प्रविश्य अभिहिता सा मनोगतं शंसितुम् न शशाक। अथ परिपार्श्ववर्तिनीम् वयस्यां विवर्तितानञ्जननेत्रं ऐक्षत ॥५१॥

संस्कृत-व्याख्या—इति = इत्थं, द्विजन्मना = द्विजेन (ब्रह्मचारिणा), प्रविश्य = अन्तर्गत्वा आप्ततद्रहस्यमुद्भाव्य इत्यर्थः, अभिहिता = उक्ता, सा = पार्वती, मनोगतं = हृदिस्थितं वरं, शंसितुं = वक्तुम्, न शशाक = समर्थनाभूत (लज्जया इति शेषः)। अथः = अनन्तरं, परिपार्श्ववर्तिनीम् = समीपस्थितां, वयस्यां = सखीम्, विवर्तितानञ्जननेत्रं = विचालिताऽकज्जलनेत्रं, यथा तथा, ऐक्षत = अपश्यत्। इत्थं सा पार्वती लज्जावशात् ब्रह्मचारिणः प्रश्नस्योत्तरं दातुं समर्था

न अभूत् । अतः सा स्वसमीपवर्तिनीं सखीमुखावलोकनमात्रेण तां निजमनोरथशंसनाय प्रेरितवती इति भावः ।

भाषा—इस प्रकार (उस) ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) के द्वारा हृदय में प्रवेश कर कही गई हुई वह पार्वती, अपने मन में स्थित (अभिलषित) वर के बारे में कहने में स्वयं समर्थ न हो सकी । बाद में उसने अपने समीप में स्थित सखी की ओर अपने कज्जलरहित नेत्रों से देखा ।

भावार्थ—ब्रह्मचारी ने पार्वती से उसके हृदय में स्थित अभीष्ट वर के बारे में पूछा किन्तु लज्जा के कारण वह स्वयं उसका उत्तर न दे सकी । अतः एव उस पार्वती ने अपने समीप में स्थित अपनी अभिन्न सखी से आँखों के संकेतमात्र से उस ब्रह्मचारी के प्रश्न का उत्तर देने के लिए कह दिया ।

व्याकरण—**प्रविश्य**=प्र विश् + ल्यप् । **अभिहिता**=अभि + धा + क्त + टाप् । यहाँ "दधातेर्हि" सूत्र से धा के स्थान पर हि हो जाता है । साधारणतया 'धा' धातु का प्रयोग 'धारण करने' अर्थ में ही होता है किन्तु जब उससे पूर्व अभि उपसर्ग जुड़ जाता है तो उसका अर्थ 'कहना' हो जाता है । **मनोगतम्**=गत् + क्त + गत । **शंसितुम्**=शंस् + तुमुन् । यहाँ भ्वादिगण में आई हुई शंस् (स्तुतौ) धातु का प्रयोग ज्ञापन अर्थ में हुआ है । **शशाक**=शक् + लिट्—प्रथम पुरुष, एकवचन का रूप । **परिपार्श्ववर्तिनीम्**=परिपार्श्व + वृत + णिनि + ङीप् । **वयस्याम्**=वयस् + यत् + टाप्—वयस्या । **विवर्तित**=वि + वृत्त + णिच् + क्त (कर्मणि) । **ऐक्षत**=ईक्ष् + लङ् ।

समास आदि—**द्विजन्मना** = द्वे जन्मनी यस्य सः द्विजन्मा तेन । **मनोगतम्**=मनः गतम् (तत्पुरुष), **परिपार्श्ववर्तिनीम्**=परिपार्श्वे वर्तते इति परिपार्श्ववर्तिनी ताम् । **वयस्याम्**=वयसा तुल्या इति वयस्ता ताम् । **विवर्तितानञ्जननेत्रम्**—अविद्यमानं अञ्जनं ययोः ते अनञ्जने, विवर्तिते अनञ्जने (नेत्रे यस्मिन् कर्मणि) [बहुव्रीहि] ।

टिप्पणियाँ—**इति**="क्वचित् क्रियाविशेषणानां फलभावनां प्रति कारणत्वम्" इस दृष्टि से इति शब्द का अर्थ तृतीया विभक्ति परक हुआ । **द्विजन्मना**=ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) के द्वारा । यह 'अभिहिता' का अनुक्तकर्त्ता है जिसमें

तृतीया विभक्ति हुई। **प्रविश्य**=उसके हृदय में प्रवेश करके अर्थात् उसके हृदय की बात को समझकर। **अभिहिता**=कही गई हुई। **मनोगतम्**=हृदय में स्थित भाव अथवा वर को। यह शंसितुं का कर्म है। **शंसितुम्**=कहने के लिए। **न शशाक**—समर्थ नहीं हुई। लज्जा के कारण पार्वती स्पष्ट रूप से कहने में अपने को समर्थ न पा सकी। इसका कर्त्ता 'सा' है। **अथ**—पश्चात्, बाद में। यह अव्यय है—इसके अनेक अर्थ होते हैं—"मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्तस्नेवष्वथो अथ" इत्यमरः। **परिपार्श्ववर्तिनीम्**=पास में रहने वाली। परिपार्श्व=निकटस्थ। **वयस्याम्**=सखी, सहेली। जो अवस्था में समान हो—"आलिः सखी वयस्य च" इत्यमरः। **विवर्तितानञ्जननेत्रम्**=कज्जलरहित आँखों को अपनी सखी की ओर घुमाती हुई। पार्वती का इस प्रकार उसकी ओर देखने का अभिप्राय यह था कि सखी पार्वती से किये गये प्रश्न का उत्तर दे दे। यह तो पहले ही वर्णन आ चुका है कि तपस्या प्रारम्भ करते ही उसने काजल लगाना बन्द कर दिया था। अतः उसके नेत्र कज्जलरहित थे। **विवर्तित**=घुमाये गये हुये। यह '**ऐक्षत**' क्रिया का विशेषण है और ऐक्षत क्रिया की विशेषण है और ऐक्षत क्रिया की विशेषता को स्पष्ट करता है ॥५१॥

* * *

प्रसङ्ग—तव पार्वती की सखी ने ब्रह्मचारी से कहा—

सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं
निबोध साधो तव चेत्कुतूहलम्।
यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं
कृतं तपः साधनमेतया वपुः ॥५२॥

अन्वयः—तदीया सखी तं वर्णिनं उवाच—हे साधो! तव कुतूहलं चेत्, निबोध; यदर्थं एतया अम्भोजं उष्णवारण इव वपुः तपः साधनं कृतम् ॥५२॥

संस्कृत-व्याख्या—तदीया=पार्वत्याः, सखी=वयस्या, तम्=पूर्वोक्तं, वर्णिनं=ब्रह्मचारिणं, उवाच=ब्रूते, सम—हे साधो! =हे विद्वन्! तव=ते कुतूहलम्, चेत्=यदि श्रोतुमस्तीति शेषः, तर्हि निबोध=अवगच्छ, आकर्णयेत्यर्थः, **यदर्थम्**=यत्प्रयोजनम्, एतया=पार्वत्या, अम्भोजम्=पद्मम्, उष्णवारणम्=

आतपत्रं, इव, वपुः=शरीरं, तपःसाधनं=नियमीकरणं, कृतम्=विहितम्। पार्वत्याः संकेतमवगत्य तस्याः सखी ब्रह्मचारिणं उक्तवती=हे विद्वान्! यदि एतद् ज्ञातुं ते महती उत्सुकता अस्ति तर्हि अहं कथयामि, शृणु="स्वाभीष्टं प्राप्तुम् पार्वती ईदृशं कठिनं तपः समाचरति।"

भाषा—उसकी सखी ने ब्रह्मचारी से कहा—हे विद्वन्! यदि तुमको इस विषय में (जानने की बड़ी) उत्सुकता है तो जो मैं कह रही हूँ उसे सुनो कि किस लिये मेरी इस सखी ने कमल को छत्र बनाने के सदृश अपने कोमल शरीर को तप का साधन बनाया है।

भावार्थ—उत्तर देने के लिये पार्वती के संकेत को प्राप्त कर उसकी सखी ने ब्रह्मचारी से कहा—हे विद्वन्! यदि यह जानने की आपके हृदय में बड़ी उत्सुकता है तो मैं कहती हूँ, आप सुनिये कि जिस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए इस पार्वती ने कमल सदृश सुकोमल अपने शरीर को तप का साधन बनाया है। वास्तविकता यह है कि यह अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिये ही इतने कठोर तप को कर रही है।

अलङ्कार—इसमें 'उपमा' अलङ्कार है।

व्याकरण—**तदीया**=तद्+छ (ईय्)+टाप्। **वर्णिनम्**=वर्ण+इनि—वर्णिन्। यहाँ "वर्णाद् ब्रह्मचारिणि" सूत्र से ब्रह्मचारी अर्थ में वर्ण शब्द से इनि प्रत्यय हुआ है। जहाँ ब्रह्मचारी अर्थ नहीं है। वहाँ इनि प्रत्यय नहीं होता है तथा वर्णवान् रूप बनता है। **निबोध**=नि+बुध्+लोट्। यह भ्वादिगणी परस्मैपद 'बुध' धातु का रूप है। दिवादिगण बुध के रूप तो आत्मनेपद में चलते हैं। **अम्भोजम्**=अम्भस्+जन्+ड। **उष्णवारणम्**=वार+ल्युट् अथवा उष्ण+वृ+णिच्+ल्युट्। **साधनम्**=साधु+ल्युट्।

समास आदि—**तदीया**=तस्या इयम्। यह सखी का विशेषण है। **वर्णिनम्**=वर्णः अस्य अस्ति इति वर्णिन् तम्। अथवा प्रशस्तः वर्ण अस्या अस्तीति वर्णिनम्। **यदर्थम्**=यस्मै इदं यदर्थं तत् (नित्य समास) अर्थ के साथ जो समास होता है उसे 'नित्य समास' कहा जाता है। "अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिंगता चेति वक्तव्यम्" जिस संज्ञा का यह विशेषण होता है—उसी संज्ञा के अनुसार इसका भी वचन और लिंग होता है। **अम्भोजम्**=अम्भसि जायते इति। अथवा

अम्भसि जातम् । **उष्णवारणम्**=वार्यते इति वारणम् । उष्णं वार्यते अनेन इति उष्णवारणम् । **तपः साधनम्**=तपसः साधनम् (षष्ठी तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**तदीया**=उसकी, पार्वती की । यह सखी का विशेषण है । **सखी**=सहेली । **वर्णिनम्**=ब्रह्मचारी से । **वर्णः**=प्रशस्ति, ब्रह्मचर्य । यह 'उवाच' का अप्रधान कर्म है । वर्ण शब्द अनेकार्थ—'वर्णो द्विजादिशुक्लादि यज्ञे गुणकथासु च स्तुतौ ना" इति मेदिनी । प्रशस्ति का अर्थ है—आठ प्रकार के मैथुनों का अभाव । ये आठ प्रकार के मैथुन हैं—"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च । एतन्मैथुमष्टाङ्ग प्रवदन्ति । मनीषिणः" । **हे साधो**=सज्जन !, हे विद्वन्, हे महात्मन् !—साध्नोति परेषां कार्याणि इति साधुः, तस्य सम्बोधने । **कुतूहलम्**=प्रबल इच्छा, उत्सुकता—"कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कुतूहलम्" इत्यमरः । यह कर्त्ता छिपी हुई क्रिया स्यात्' का है । **निबोध**=जानो । इसका कर्त्ता 'त्वम्' है । **यदर्थम्**=जिसके लिये । **एतया**=पार्वती के द्वारा । **अम्भोजम्**=कमल । यह 'वपुः' का उपमान है । **उष्णवारणम्**=धूप का निवारण करने वाला, छाता । यह अम्भोजम् का विशेषण है । कहने का तात्पर्य है कि जिस भाँति कमल को छाता बनाना अनुचित है । (यदि उससे छाते का कार्य लिया जाय तो वह सूख जाया करता है ।) उसी भाँति पार्वती का शरीर भी अत्यन्त कोमल होने के कारण कठोर तप के श्रम को सहन करने योग्य नहीं है । **तपःसाधनम्**=तपस्या का साधन । **कृतम्**=किया ॥५२॥

◆

प्रसङ्ग—सखी कहती है कि पार्वती की इच्छा शिव को ही पति के रूप में प्राप्त करने की है—

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियः-
श्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्-
पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥५३॥

अन्वयः—माननी इयं अधिश्रयः महेन्द्रप्रभृतीन् चतुर्दिगीशान् अवमत्य मदनस्य निग्रहात् अरूपहार्यं पिनाकपाणिं पतिं आप्तुं इच्छति ॥५३॥

संस्कृत-व्याख्या–मानिनी = अभिमानवति, इयं = पार्वती, अधिश्रियः = अधिकैश्वर्यान्, महेन्द्रप्रभृतीन् = इन्द्रादीन्, चतुर्दिगीशान् = दिक्चतुष्टीयपतीन्—इन्द्रवरुणयमकुबेरानित्यर्थः, अवमत्य = अवधूय, मदनस्य = कामस्य, निग्रहात् = निवर्हणात्, हेतोः = अकामुकत्वादित्यर्थः, अरूपहार्यम् सौन्दर्येण अवशीकरणीयं, पिनाकपाणिम् = शिवम्, पतिं = भर्त्तारं, आप्तुं - प्राप्तुं, इच्छति = अभिलषति। स्वाभिमानिनी पार्वती केवलं शिवमेव पतिमाप्तुमभिलषति येन तस्याः पतिः इन्द्रादिभ्यः ऐश्वर्यशालिभ्यः दिगीशेभ्योऽपि श्रेष्ठः स्यात् ।

भाषा—स्वाभिमानिनी यह (पार्वती) इन्द्राणि आदि से भी बढ़कर अपना सौभाग्य समझती हुई इन्द्रादि दिकपालों से श्रेष्ठ, कामदेव को दण्डित कर देने के कारण, (केवल) सौन्दर्य से ही प्रसन्न न होने वाले शिव को पति के रूप में प्राप्त करना चाहती है ।

भावार्थ—पार्वती अत्यन्त अभिमानशालिनी है । अतः वह इन्द्राणि इत्यादि को भी सौन्दर्य में नीचा दिखलाने की इच्छा रखती है । इसलिये वह पति के रूप में केवल शिव को ही प्राप्त करना चाहती है जिससे कि उसका पति इन्द्र इत्यादि दिकपालों की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध हो, क्योंकि शिव सौन्दर्य के द्वारा वश में होने योग्य नहीं है जिसने असाधारण सुन्दर कामदेव को भी भस्म कर दिया था ।

व्याकरण—**मानिनी** = मान + इनि + ङीप् । **अवमात्य** = अव + मन् + ल्यप् । **निग्रहात्** = नि + ग्रह + अप् = निग्रह । **हार्यम्** = हृ + ण्यत् । यहाँ "ऋहलोर्ण्यत्" से ण्यत् होता है ।

समास आदि—**मानिनी** = मानः प्रशस्तः अस्ति अस्या इति । अथवा प्रशस्तः मनः अस्याः अस्तीति मानिनी । **अधिश्रियः** = अधिका श्रीः येषां ते तान् (बहुव्रीहि) अथवा अधिष्ठिता, अधिगता वा श्रीः यैः ते तान् (बहुव्रीहि) । यहाँ "प्रादिभ्यो धातुजस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च" वार्तिक से बहुव्रीहि समास और उत्तर पद का लोप हुआ हैं । **महेन्द्रप्रभृतीन्** = महांश्चासौ इन्द्रः महेन्द्रः—(कर्मधारय) अथवा महान् इन्द्रः महेन्द्रः—यहाँ "आन्महतः समानाधिकरण-

जातीययोः" से महत् के स्थान पर 'हा' हो जाता है। महेन्द्र प्रभृतिः येषां ते महेन्द्रप्रभृतीयः तान् (बहुव्रीहि)। **चतुर्दिगीशान्** = चतसृणां दिशां ईशाः चतुर्दिगीशाः तान् चतुर्दिगीशान्—यहाँ—'तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे" से उत्तरपद समास हो गया है। अथवा दिशां ईशाः दिगीशा (षष्ठी तत्पुरुष), चत्वारः दिगीशाः चतुर्दिगीशाः तान् (कर्मधारय)। **अरूपहार्यम्** = हर्तुम् योग्यः हार्यः रूपेण हार्यः रूपहार्यः (तृतीया तत्पुरुष), न रूपहार्यः तम्। **पिनाकपाणिम्** = पिनाकः पाणौ यस्य सः पिनाकपाणिः तम्।

टिप्पणियाँ—**मानिनी** = मान वाली, स्वाभिमानिनी। यह 'इयम्' का विशेषण है। मानवती होने के कारण ही पार्वती इन्द्राणि इत्यादि सौभाग्यशालिनी स्त्रियों को भी अतिक्रमण कर जाना चाहती थी। साथ ही वह इन्द्र इत्यादि देवताओं से भी बढ़कर श्रेष्ठ पति को प्राप्त करना चाहती थी। **अधिश्रियः** = महान् ऐश्वर्य वाले। यह दिगीशान् का विशेषण है। **महेन्द्रप्रभृतीन्** = इन्द्र इत्यादिकों को। यह भी "चतुर्दिगीशान्" का विशेषण है। **चतुर्दिगीशान्** = चारों दिशाओं के स्वामी अर्थात् इन्द्र, वरुण, यम तथा कुबेर को। ये क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशाओं के अधिपति हैं। **अवमान्य** = निरादर करके। **मदनस्य** = कामदेव के। **निग्रहात्** = दण्डित होने के कारण। **अरूपहार्यम्** = रूप के द्वारा न प्रसन्न किये जाने योग्य। जो सौन्दर्य के द्वारा प्रशन्न न किया जा सके। कामदेव ने अपने सौन्दर्य के द्वारा इन्द्रादि समस्त देवताओं को अपने वश में कर लिया था किन्तु वह शिव को प्रभावित न कर सका था। शिव सर्वश्रेष्ठ थे। इसलिये पार्वती सभी देवताओं का निरादर कर केवल शिव को ही अपना पति बनाना चाहती थी। **पिनाकपाणिम्** = पिनाक (धनुष) है हाथ में जिसके उसको, शिव को। शिवजी के धनुष का नाम 'पिनाक' था—पिनाकोऽस्त्री रुद्रचापे पांसुवर्षत्रिशूल्योः इति मेदिनी।

बिशेष—इस श्लोक से प्रारम्भ अगले पाँच श्लोकों में महाकवि ने पार्वती की अनङ्गदशा का वर्णन उपस्थित किया है। ये दशाएँ दस होती हैं। इन दसों अवस्थाओं में से उक्त पद्य में संकल्पावस्था का स्पष्ट-दर्शन पाठक को होता है ॥५३॥

◆

प्रसङ्ग—कामदेव ने जव शिव पर बाण का प्रयोग किया था तो महादेव जी की हुँकार मात्र से वह बाण निवृत हुआ और काम भस्म हो गया। किन्तु यह बाण वक्षस्थल पर लग गया था—

असह्यहुङ्कारनिवर्तितः पुरा
पुराऽरिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्
विशीर्णमूर्त्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥५४॥

अन्वयः—पुरा असह्यहुङ्कारनिवर्तितः पुरारिं अप्राप्तमुखः विशीर्णमूर्त्तेः अपि पुष्पधन्वनः शिलीमुखः इमां हृदि व्यायतपातं अक्षिणोत् ॥५४॥

संस्कृत-व्याख्या—पुरा=पूर्वम्, असह्यहुंकारनिवर्तितः=दुःसहहुंकारपरावर्त्तितः, अतएव, पुरारिं=हरं, अप्राप्तमुखः=अप्राप्तफलः, विशीर्णमूर्त्तेः अपि=नष्टदेहस्यापि, पुष्पधन्वनः=कामस्य, शिलीमुखः=वाणः, इमां=पार्वती, हृदि=वक्षसि, व्यायतपात=सुदीर्घप्रहारं, अक्षिणोत्=अकर्शत । पुरा कामः हरसमाधिभङ्गाय तस्योपरि स्वशरैः प्रहारमकरोत् । किन्तु क्रोधितस्य हरस असह्यहुंकारेण सः परावर्तितः कामं च भस्मसात् कृतवान् । तदनन्तरं स बाणः हरसेवार्थं तत्पार्श्ववर्तिनीं दुर्बलामिमां पार्वतीं अत्यधिकमबाधतेति भावः ।

भाषा—पहले समय में (शिवजी के) असह्य हुँकार से लौटाये गये हुए, शिव पर जिसका प्रभाव नहीं हो सका था ऐसे नष्ट शरीर वाले फूलों के धनुष वाले (कामदेव) के बाण ने इस (पार्वती) के हृदय में अत्यन्त तीव्र और गहरा प्रहार किया है।

भावार्थ—पहले कामदेव ने शिवजी की समाधि को भंग करने के निमित्त उन पर अपने बाण का प्रयोग किया था किन्तु क्रोधाभिभूत शिव की असह्य हुंकार से वह बाण वापिस आ गया और काम को भी भस्म कर दिया गया। नष्ट शरीर वाले कामदेव ने शिव से पराजित होकर अपने बाण का प्रहार पार्वती के हृदय पर कर दिया। परिणामस्वरूप पार्वती के हृदय में शिवजी के प्रति महान् स्नेह की उत्पत्ति हो गई ।

व्याकरण—सह्यम्=सह+यत्। हुङ्कार=हुम्+कृ+घञ् । निर्वर्तितः

=नि + वृत् + णिच् + क्त (कर्म में)। **विशीर्णमूर्त्तों**=वि + शृ + क्त + टाप् =विशीर्णा। **व्यायतपातम्**=वि + आ + यम् + क्त—व्यायत:। **पातः**=पत् + घञ्। **अक्षिणोत्**=क्षि (स्वादि हिंसायाम्) + लङ्। प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है।

समास—**असह्यहुङ्कारनिर्वर्तितः**=सोढुं योग्यं सह्यम् न सह्यं असह्यम्। असह्यः हुंकारः (कर्मधारय) असह्यःहुंकारः, असह्यहुंकारेण निर्वर्तितः असह्यहुङ्कारनिर्वर्तितः (तृतीया तत्पुरुष)। **पुरारिम्**=पुराणम् त्रिपुराणाम् अरिम् पुरारिम्। **अप्राप्तमुखः**=अप्राप्तं मुखं (फलम्—अग्रभागवेधरूपं फलम्) यस्य सः (बहुव्रीहि)। **विशीर्णमुर्त्ते**=विशीर्णा मूर्तिः यस्य सः तस्य (बहुव्रीहि)। **पुष्पधन्वनः**=पुष्पाणि एव धनुर्यस्य सः पुष्पधन्वाः तस्य (बहुव्रीहि) यहाँ "धनुषश्च" इस सूत्र से उक्त समास के अन्त में अनङ् जुड़ जाता है। इस भाँति धनु के स्थान पर धन्वन हो जाता है। किन्तु जब समास बनाने से कोई संज्ञा बनती है तब यह विकार ऐच्छिक हुआ करता है। परिणामस्वरूप अनङ् न होने पर पुष्प"धनु" ही बनता है। **व्यायतपातम्**=व्यायतः पातः यस्मिन् कर्मणि तथा भवति तथा—**शिलीमुखः**=शिली मुखे यस्य सः (बहुव्रीहि)। [शिली-शल्प]

टिप्पणियाँ—**पुरा**=पहले यह शब्द उस घटना की ओर संकेत करता है जब कामदेव ने अपने सौन्दर्य से प्रभाव उत्पन्न कर शिवजी की समाधि को भङ्ग करने का प्रयास किया था और जिसके परिणामस्वरूप शिवजी द्वारा उसे भस्म कर दिया गया था। **असह्यहुङ्कारनिर्वर्तितः**=न सहने योग्य हुँकार के द्वारा लौटा हुआ। **असह्य**=न सहा जा सकने योग्य। **हुम्**=यह एक प्रकार की अव्यक्त ध्वनि है जो महादेव की क्रोधाग्नि की ओर इशारा करती है। **निर्वर्तितः**=लौटाया हुआ। यह "शिलीमुखः" का विशेषण है। **पुरारिम्**=त्रिपुर (नामक असुर) के शत्रु अर्थात् शिव को। 'पुर' शब्द से अभिप्राय त्रिपुर से ही है। ये तीन पुर क्रमशः, सोना, चाँदी और लोह निर्मित्त थे तथा इनमें क्रमशः मय, विद्युन्माली तथा तारकासुर निवास किया करते थे। शिव ने इन तीनों स्थानों को नष्ट कर दिया था। इसी कारण उनका नाम "त्रिपुरारि" पड़ा था। **अप्राप्तमुखः**=जिसका अगला भाग शिवजी तक पहुंच नहीं

सका था (ऐसा बाण)। यह शिलीमुख का विशेषण है। **विशीर्णमूर्तेः**=जिसका शरीर नष्ट कर दिया गया है, नष्ट शरीर वाले। यह "पुष्पधन्वन्" का विशेषण है। **पुष्पधन्वनः**=पुष्प (फूल) ही हैं धनुष जिसका अर्थात् कामदेव का। **शिलीमुखः**=बाण। वैसे इसका अर्थ प्रसङ्गानुसार 'भ्रमर' भी हुआ करता है— "अलिबाणो शिलीमुखः" इत्यमरः। **व्यायतपातम्**=अत्यधिक तीक्ष्ण और गहरा प्रहार करके यह क्रिया विशेषण है। **व्यायत**=अति तीव्र और दीर्घ। **अक्षिणोत्**=चोट किया। इसका कर्त्ता 'शिलीमुखः' है।

* * *

प्रसङ्ग—आगे आने वाले चार श्लोकों में पूर्वानुराग सम्बन्धी पार्वती की चेष्टाओं का वर्णन है। कामदेव के प्रबल प्रभाव से युक्त वह पार्वती बर्फ की चट्टानों पर भी सुख का अनुभव करती थी—

तदा प्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे
ललाटिकाचन्दनधूसराऽलका।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृत्ति
तुषारसङ्घातशिलातलेष्वपि ॥५५॥

अन्वयः—यदा प्रभृति पितुः गृहे उन्मदना ललाटिका चन्दनधूसरालका बाला जातु तुषारसङ्घातशिलातलेषु अपि निर्वृत्ति न लभते स्म ॥५५॥

संस्कृत-व्याख्या—तदा प्रभृति=तत आरभ्य—शरपतनानन्तरकालादारभ्य—इत्यर्थः, पितुः=जनकस्य, गृहे=गेहे, उन्मदना=उत्कटमन्मथा, ललाटिका-नधूसरालका=तिलकचन्दनधूसरकेशा, बाला=पार्वती, जातु=कदाचित्, तुषारसंघातशिलातलेषु=हिमघनपाषाणतलेषु, अपि, निर्वृत्तिम्=सुखम् न लभतेस्म - न प्राप्नोति स्म। कामशरपातानन्तरकालादारम्भ पार्वती अत्यधिकं पीडिता बभूव। सा स्वकामसन्तापं शमयितुं हिमशिलासु शयनमकरोत् किन्तु किञ्चिदपि शान्ति न प्राप्नोति स्म। शीतोपचारार्थं तस्याः ललाटे चर्चितं चन्दनमपि क्षणादेव शुष्कतां गत्वा तस्याः केशान् धूसरवर्णान् अकरोत्। एवं सर्वेऽपि शीतोपचाराः तस्याः कामजन्य सन्तापं शमयितुं समर्थाः न बभूव।

भाषा—उस समय से लेकर पितृगृह में प्रबल काम वाली तथा माथे पर लगे तिल के चन्दन से श्वेत केशों वाली वह युवती (पार्वती) बर्फ की चट्टानों पर भी सुख को प्राप्त नहीं करती थी।

भावार्थ—कामदेव के बाणों के प्रहारों से पार्वती अत्यधिक दुःखी हो गई थी। वह अपने कामजन्य सन्ताप को शान्त करने के लिये हिम-शिलाओं पर शयन करके भी शान्ति को प्राप्त नहीं करती थी। शीतोपचार के निमित्त उसके मस्तक पर लगाया गया चन्दन तुरन्त शुष्क हो जाता था। परिणामस्वरूप उसके केश भी शुष्क चन्दन से धूसर वर्ण के हो जाया करते थे। इस भाँति शीतोपचार के निमित्त किये गये सभी उपाय निरर्थक हो जाते थे।

व्याकरण—तदा=तस्मिन् काले इति—तत्+दा—तदा—यहाँ "सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा" सूत्र से दा प्रत्यय होता है। सूत्र के अनुसार सर्व, एक, अन्य, किम्, यत् तथा तत् शब्दों से समय अर्थ में दा' प्रत्यय होता है अतः इसी के अनुसार सर्वदा, एकदा, कदा, तदा आदि शब्दों का निर्माण होता है। यहाँ तत् शब्द से दा प्रत्यय सप्तमी में हुआ है। अतः सप्तम्यर्थक तदा का प्रयोग 'प्रभृति' के साथ नहीं होना चाहिये था। किन्तु वस्तुतः यहाँ सप्तस्यर्थक दा प्रत्यय की पञ्चम्यर्थ लक्षणा है क्योंकि यहाँ 'प्रभृति' के प्रयोगों में पञ्चमी का निपात है। **संघात**=सम्+हन्+घञ्। **निर्वृत्तिम्**=निर्+वृत+क्तिन्।

समास—उन्मदना=उत्कटः मदनः यस्याः सा (बहुव्रीहि)—यहाँ "प्रादिभ्यो धातुजस्यबहुव्रीहि उत्तरपदलोपश्चवक्तव्यः' से समास हुआ है। **ललाटिकाचन्दनधूसरालका**=ललाटस्य अलङ्कारो ललाटिका—यहाँ 'कर्णललाटात्कन् अलङ्कारे" से 'कन्' प्रत्यय हुआ है। ललाटिकायाः चन्दनं ललाटिकाचन्दनम्, तेन धूसराः (तृतीया तत्पुरुष)—ललाटिकाचन्दनधूसराः अलकाः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **तुषारसंघातशिलातलेषु**=शिलायाः तलानि शिलातलानि तुषारसंघाताः तुषारसंघाताः, तुषारसंघाताः एव शिलातलानि तुषारसंघाताः ते शिलाः तासां तलानि तेषु।

टिप्पणियाँ—तदाप्रभृति=तब से (उस समय से) लेकर, कामदेव के बाणों के प्रहार के पश्चात् के समय से लेकर। **उन्मदना**=उत्कट काम वाली। यह 'बाला' का विशेषण है। **ललाटिकाचन्दनधूसरालका**=मस्तक पर लगे हुये तिलक के (सूखे हुये) चन्दन से श्वेतवर्ण के केशों वाली। **ललाट**=मस्तक,

ललाटिका = तिलक । धूसरा = कुछ पीत तथा श्वेत मिला हुआ—मलिन वर्ण के । अलका = घुंघराले बाल । यह भी 'बाला' का ही विशेषण है । बाला = पार्वती । तुषारसंघातशिलातलेषु = बर्फ की चट्टानों पर भी । जातु = कदाचिद् "जातु शब्दो विगर्हणे कदाचिदर्थेऽपि मेदिनी । निर्वृत्तिम् = शान्ति—"निर्वृत्तिः सुखदुःखयोः"—इत्यमरः । न लभते स्म = नहीं पाती थी । वर्तमानकालिक क्रिया में 'स्य' जोड़ देने से भूतकाल होता है ॥५५॥

* * *

प्रसङ्ग—अब पार्वती के विलाप का वर्णन प्रस्तुत है—

उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः
सवाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम ।
अनेकशः किन्नरराजकन्यकाः ।
वर्नान्तसङ्गीतसखीररोदयत् ॥५६॥

अन्वयः—पिनाकिनः चरिते उपात्तवर्णे इयं सवाष्पकण्ठस्खलितैः पदैः वनान्तसङ्गीतसखीः किन्नरराजकन्यकाः अनेकशः अरोदयत् ॥५६॥

संस्कृत-व्याख्या—पिनाकिनः = शिवस्य, चरिते = त्रिपुरविजयादिचेष्टिते, उपात्तवर्णे = प्रारब्धगीतक्रमे, इयम् = पार्वती, सवाष्पकण्ठस्खलितैः = गद्गदगलतिशीर्णैः, पदैः = शब्दैः, वनान्तसंगीतसखीः = अरण्यमध्यगानवयस्या, किन्नरराजकन्यकाः किंपुरुष राजकन्यकाः, अनेकशः = बहुशः, अरोदयत् = अश्रुमोक्षमकारयत् । शिवासक्तमानसा सा पार्वती हरचरितं श्रुत्वा गद्गदकण्ठा अभूत् । याः नेत्रे अश्रुभिः पूर्णे संजाते । तस्याः इमां करुणावस्थां अवलोक्य तस्याः ाः किन्नरराजकन्यका अपि बहुशः अरोदिषुः ।

भाषा—शिव के चरित्र सम्बन्धी (त्रिपुरविजय आदि से सम्बन्धित) गीतों के गाने पर यह (पार्वती) आंसुओं से भरे हुये गले से अस्पष्ट रूप से निकलने वाले पदों के द्वारा वन प्रदेश में गाये जाते हुए गीतों को साथ गाने वाली अपनी सखियों किन्नरराजाओं की कन्याओं को बार-बार रुलाती थी ।

भावार्थ—शिव के प्रति आसक्त मन वाली पार्वती एकान्त में बैठकर किन्नरराज की कन्याओं को बुलाकर उनके साथ महादेव जी की वीरता से

सम्पन्न उनके चरित्र विषयक गानों को गाया करती थी। गाते-गाते वह गद्गद् कण्ठ हो जाती थी। उसके नेत्र अश्रुधारा से परिपूर्ण हो जाया करते थे। इस भाँति गद्गद् कण्ठ हो जाने से वह स्वयं गाने में असमर्थ हो जाया करती थी। उसकी इस करुण दशा को देखकर किन्नरराज की कन्यायें भी रुदन किया करती थी।

व्याकरण—चरिते=चर+क्त—नपुंसकलिङ्ग, में=चरितम्—सप्तमीविभक्ति एकवचन में—चरिते। उपात्तवर्णे=उप+आ+दा+क्त (कर्मणि)-उपात्ते। स्खलितैः=स्खल+क्त। अरोदयत्=रुद्+णिच्+लङ्। पिनाकिनः=पिनाक+इनि। अनेकशः=न+एक+शस्।

समास—उपात्तवर्णः=उपात्तः वर्णः यस्मिन् स तस्मिन्। सवाष्पकण्ठस्खलितैः=वाष्पेन सह वर्त्तमानः सवाष्पः—यहाँ तेन सहेति "तुल्ययोगे" से बहुव्रीहि समास होता है। सवाष्पः कण्ठः सवाष्प कण्ठः (कर्मधारय)। सवाष्पकण्ठे स्खलितानि (सुप्सुपा) तैः सवाष्पकण्ठस्खलितैः। वनान्तसङ्गीतसखीः=वनस्य अन्तः वनान्तः (षष्ठी तत्पुरुष), वनान्ते संगीतम्—वनान्तसंगीतम्। वनान्तसंगीते अथवा संगीतेन सख्यः वनान्तसंगीतसख्यः ताः। पिनाकिनः=पिनाकः अस्यास्तीति पिनाकी तस्य। किन्नरराजकन्यकाः=कुत्सिताः नराः इति किन्नराः—यहाँ "कि क्षेपे" से तत्पुरुष समास हुआ है। किन्नराणां राजानः किन्नरराजः कन्याः एव कन्यकाः किन्नरराजानां कन्यकाः किन्नरराजकन्यकाः ताः। अनेकशः=एकवारम् इति एक+शस्=एकशः, 'न एकशः अनेकशः। यहाँ वीप्सा (द्विरुक्ति) अर्थ में "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" 'शस्' प्रत्यय होता है।

टिप्पणियाँ—पिनाकिनाः=शिव को। चरिते=चरित्र का त्रिपुर वि[illegible]वादि से सम्बन्धित चरित्र का वर्णन करने पर)। उपात्तवर्णे=(शिवजी के) चरित्र का गान किये जाने पर। वर्ण=गीतिक्रम, गान रचना—"शुक्लादौ ब्राह्मणादौ च शोभायामक्षरे तथा। गीतिक्रमे स्तुतौ वेषे वर्णं शब्दः प्रयुज्यते।" इति हलायुधः। उपात्त=प्रारम्भ होने पर। सवाष्पकण्ठस्खलितैः=गद्गद कण्ठ से अस्पष्ट रूप से निकलने वाले। वाष्प=आँसू। स्खलित=अस्पष्टोच्चरित। यह "पदैः" का विशेषण है। पदैः=सुप्तिङन्त पदों से। शिवजी के चरित्र

का गान करते समय पार्वती का कण्ठ प्रेमाधिक्य के कारण रुंध जाया करता था। अतः उच्चारण स्पष्ट नहीं निकल पाता था। **वनान्तसंगीतसखीः**=वन में होने वाले संगीत (गान) में साथ देने वाली सखियों को यह ‘किन्नरराजकन्यकाः" का विशेषण है। **किन्नरराजकन्यकाः**=किन्नरराज की कन्याओं को। किन्नर जाति के लोगों के मुख घोड़े के समान हुआ करते हैं। किन्नर गन्धर्व जाति के हुआ करते हैं तथा संगीतप्रिय होते हैं। **अनेकशः**=अनेक बार। **अरोदयत्**= रुलाया। अपने प्रिय के गुणों का कीर्तन करना ही प्रलाप कहा जाता है। उपर्युक्त श्लोक में पार्वती की इसी प्रकार की प्रलापावस्था का वर्णन प्रस्तुत किया गया है ॥५६॥

* * *

प्रसङ्ग—पार्वती को विरह-वेदना के कारण निद्रा नहीं आती थी। यदि रात्रि के तीसरे भाग में आंख लग जाती थी तो स्वप्नावस्था में—"हे शङ्कर! तुम कहाँ जाते हो" ऐसा कहकर वह चिल्ला उठती थी और जाग जाती थी—

त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं
निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठव्रजसीत्यलक्ष्यवा-
गसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥५७॥

अन्वयः—विभागशेषासु निशासु क्षणं नेत्रे निमील्य, (सा) सहसा "हे नीलकण्ठ! क्व व्रजसि" इति अलक्ष्यवाक् असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना च व्यवुध्यत। ॥५७॥

संस्कृत-व्याख्या— त्रिभागशेषासु=तृतीयभागावशिष्टासु, निशासु = रात्रिषु, क्षणं=क्षणमात्रं, नेत्रे=नयने, निमिल्य=मीलयित्वा, सुप्त्वा इत्यर्थः, सहसा=सद्यः, ‘हे नीलकण्ठ!=हे शितिकण्ठ!, क्व=कुत्र, व्रजसि=गच्छसि ?, इति=एवम्, अलक्ष्यवाक = निर्विषयवचना, असत्यकण्ठार्पित्तबाहुबन्धना=मिथ्याभूतमलनिक्षिप्तभुजबन्धना च सती, व्यवुध्यत=विवुद्धवती। सा पार्वती रात्री निद्रां न लभते स्म। केवलं निशायाः अन्तिमे प्रहरे सा क्षणमस्वपत्। शिवानुरक्ता सा अनुपस्थितं शिव उद्दिश्य कथयति स्म "हे शंकर! त्वं कुत्र यासि"।

एव सा स्वसमीपे शिवं उपस्थितं मत्वा तस्य कण्ठे स्वकरौ निक्षिप्य आलिङ्गनं कर्त्तुमाभिलषति स्म ।

भाषा—रात्रि के तीसरे भाग के शेष रह जाने पर क्षण भर के लिये अपने नेत्रों को बन्द कर (वह) एकाएक "हे नीलकण्ठ ! तुम कहाँ जाते हो ?" इस भाँति असम्बद्ध प्रलाप करती हुई तथा (उनके) काल्पनिक गले में अपनी बाहों को डालती हुई, जाग पड़ती थी ।

भावार्थ—रात दिन एकमात्र शिव का ही चिन्तन करती हुई पार्वती शिव को ही सर्वत्र देखा करती थी । उसे रात्रि में निद्रा नहीं आती थी । वह केवल रात्रि के अन्तिम प्रहर में एक क्षण के लिये जब भी सो जाया करती थी तो उस क्षणिक निद्रा में भी शिव को लक्ष्य कर यह कहा करती थी कि "हे शिव ! तुम कहाँ जाते हो ?" और शिव को अपने ही समीप मानकर उसके काल्पनिक गले में अपने हाथों को डालकर उसका आलिङ्गन करने की इच्छा किया करती थी । फिर तुरन्त जाग जाया करती थी ।

व्याकरण—**शेषः**=शिष+घञ् (कर्मणि) । **निमील्य**=नि मील्+ल्यप् । **व्रजसि**=व्रज , लट्—मध्यमपुरुष एकवचन का रूप । **व्यबुध्यत**=वि+बुध् (दिवादि)+लङ् ।

समास—**त्रिभागशेषासु**=शिष्यते इति शेषः, तृतीयः भागः इति त्रिभाग (कर्मधारय) अथवा त्र्यवयवो भागः त्रिभागः शाकपार्थिवादि०)—यहाँ पर संख्यावाचक त्रि शब्द पूरणार्थक है—नियम—"वृत्तिविषये संख्या शब्दस्य पूरणार्थत्वमिष्यते" । रात्रि का पर्यायवाची शब्द त्रियामा भी है इससे प्रकट होता है कि रात्रि के तीन बराबर भाग होते हैं—यह तीन प्रहर कहे जाते हैं "त्रिभाग" शब्द से रात्रि का तीसरा भाग अथवा अन्तिम भाग (तीसरा प्रहर) ही अभिव्यक्त होता है । इस 'त्रिभागशेषासु' के दो प्रकार के समास हो जाते हैं (१) त्रिभागः शेषः यासां ताः तासु (बहुव्रीहि) अर्थात् तीसरा भाग है शेष जिनमें उन रात्रियों में । (२) त्रिभ्यः भागेभ्यः शेषाः इति त्रिभाग शेषाः तासु—इस भाँति टीकाकार मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ "तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च" के आधार पर उत्तरपद-समास है । इसका अर्थ होता है—तीन

प्रहर रात्रि के व्यतीत हो जाने पर जो रात्रि शेष बचती थी अर्थात् रात्रि के चतुर्थ प्रहर में। भाव यह है कि पार्वती को रातभर निद्रा नहीं आती थी तथा उसकी आँखे चौथे प्रहर में कुछ क्षण के लिये लग जाया करती थीं। हे **नीलकण्ठ**=नीलकण्ठः यस्य सः नीलकण्ठः तत्सम्बोधने हे नीलकण्ठ। **अलक्ष्यवाक्**=लक्षितुं योग्या लक्ष्या, न लक्ष्या अलक्ष्या, अलक्ष्या वाक् यस्याः सा (बहुव्रीहि) अथवा—अविद्यमानं लक्ष्यं यस्याः सा अलक्ष्या (निर्विषया), अलक्ष्या वाक् यस्याः सा। **असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना**=न सत्यः असत्यः, असत्यः कण्ठः असत्यकण्ठः (कर्मधारय), वाहुभ्यां बन्धनम् वाहुबन्धनम्। असत्यकण्ठे अर्पितं असत्यकण्ठार्पितम् असत्यकण्ठार्पितं वाहुबन्धनं यस्याः सा (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**निशासु**=रात्रियों में—"निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा" इत्यमरः। क्षणम् = एकक्षण के लिये, क्षणभर। यहाँ पर "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" सूत्र के नियमानुसार द्वितीया विभक्ति हुई है। **निमील्य**= बन्द करके, नि+मील का अर्थ 'बन्द करना है तथा उत्+मील का अर्थ खोलना (उन्मीलन)। हे **नीलकण्ठ**! हे शिवजी—शिव ने जब विषपान किया था, तब उन्होंने उसे गले के नीचे निगला नहीं था। वह गले में ही रुक गया था। इसी कारण उनका गला नीला पड़ गया था। पुनः इसी आधार पर उनका नाम 'नीलकण्ठ' पड़ गया। **ब्रजसि**=जाते हो। इसका कर्त्ता 'त्वम्' है। यद्यपि शिव वहाँ उपस्थित नहीं थे किन्तु पार्वती द्वारा निरन्तर उनका एकमना होकर चिन्तन किये जाने के कारण वह सर्वत्र शिवमय ही देखती थी। ऐसी स्थिति में आराधक आराध्य को अपने से व्यतिरिक्त नहीं देखा करता है। अतः पार्वती को शिव सर्वत्र दृष्टिगोचर होते थे। **अलक्ष्यवाक्**=किसी के सामने न होने पर भी वह वोला करती थी। **असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना**=काल्पनिक व्यक्ति के कण्ठ में अपनी बाहुओं को डालती हुई। शिव की अनुपस्थिति में भी पार्वती उनको सर्वत्र देखा करती थी तथा उनके काल्पनिक गले में अपनी बाहों को डाल देती थी। **सहसा**=एकाएक, अकस्मात्। **व्यबुध्यत**=जाग जाती थी, जाग पड़ती थी ॥५७॥

* * *

प्रसङ्ग—शिव के वियोग से संतप्त पार्वती शिव का चित्र बनाकर उनको उलाहना दिया करती थी—

यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे
न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया
रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥५८॥

अन्वयः—यदा त्वं बुधैः सर्वगतः उच्यसे (ततः) भावस्थं इमं जनं कथं न वेत्सि ! इति मुग्धया स्वहस्तोल्लिखितः चन्द्रशेखरः रहसि उपालभ्यत ॥५८॥

संस्कृत-व्याख्या—यदा=यतः, त्वम्, बुधैः=विद्वद्भिः, सर्वगतः=सर्वव्यापी इति, उच्यसे=अभिधीयसे, ततः, भावस्थम्=रतिस्थं—त्वयि अनुरागिणम् इत्यर्थः, इमं जनं=मद्रूपं जनं, कथं, न वेत्सि=न जानासि ? इति=इत्थम्. मुग्धया=मूढया पार्वत्या, स्वहस्तोल्लिखितः=आत्मकरचित्रलिखितः, चन्द्रशेखरः=शिवः, रहसि=एकान्ते, उपालभ्यत=उपालब्धः । पार्वती शिवस्य चित्रमङ्कित्वा तं एवं उपालभ्यत—"यदि त्वं सर्वव्यापी असि तर्हि त्वं मम हृदये अपि वससि । किन्तु एतद् महदाश्चर्यकरं प्रतीयते यत् मम हृदये विद्यमानोऽपि भवान् स्वविषयकं मम अनुरागं कथं न वेत्सि ?"

भाषा—जब ज्ञानी पुरुषों द्वारा तुम सर्वव्यापी कहे जाते हो, तो (फिर) अपने से प्रेम रखने वाले इस व्यक्ति को तुम क्यों नहीं जानते हो ? इस भाँति प्रेम में भोली (यह पार्वती) अपने हाथ से चित्रित शिव को एकान्त में उलाहन दिया करती थी ।

भावार्थ—इस प्रकार पार्वती शिव क चित्र का निर्माण कर उसे उलाहना दिया करती थी—जब ज्ञानी लोग तुमको सर्वत्र और सर्वव्यापी कहते हैं तब तुम अपने प्रति अनन्य अनुराग रखने वाली इस पार्वती को क्यों नहीं जान पाते हो ?

व्याकरण—**बुधैः**=बुध् + क तृतीया बहुवचन । **उच्यसे**=ब्रू अथवा वच् (कर्मवाच्य में) लट्, मध्यम पुरुष एकवचन का रूप । **भावस्थम्**=भाव स्था + क=भावस्थम् । **वेत्सि**=विद् (ज्ञाने) + लट् (अदादिगणी) मध्यम पुरुष एक-

वचन का रूप । उल्लिखितः = उत् + लिख् + क्त । उपालभ्यत = उप + आ + लभ् + लङ् (कर्मणि) ।

समास—**सर्वगतः** = सर्व (प्राणिनम्) गतः (प्राप्तः)—द्वितीया तत्पुरुष । **भावस्थम्** = भावे तिष्ठतीति भावस्थः, तम् । **स्वहस्तोल्लिखितः** = स्वस्य हस्तः (षष्ठी तत्पुरुष) स्वहस्तः, स्वहस्तेन उल्लिखितः (तृतीया तत्पुरुष) अथवा—स्वश्चासौ हस्तः स्वहस्तः तेन उल्लिखितः स्वहस्तोल्लिखितः चन्द्रशेखरः = चन्द्रः शेखरे यस्य सः अथवा चन्द्रः शेखरः यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**यदा** = जब । किन्तु इस स्थल पर यह शब्द "क्योंकि (यतः)" के अर्थ में प्रयुक्त है । ग्रन्थकार के अनुसार यह शब्द यहाँ पर 'हेतु' को बतलाता है । **बुधैः** = विद्वानों के द्वारा । **सर्वगतः** = सर्वव्यापक, सर्वज्ञ । **उच्यसे** = कहे जाते हो । इसका उक्तकर्म 'त्वम्' है । **भावस्थम्** = तुमसे प्रेम रखने वाले । **भाव** = रति भाव, प्रेम भाव—यह 'जनम्' का विशेषण है । **इमम्** = इस । इस शब्द के द्वारा पार्वती स्वयं अपनी ओर संकेत करती है । यह भी 'जनम्' का विशेषण है । **इम जनम्** = इस व्यक्ति को, पार्वती को । **कथं** = क्यों । **न वेत्सि** = नहीं जानते हो । **इति** = इस प्रकार से । यह अव्यय है तथा यह पूर्वोक्त वाक्य की ओर संकेत करता है । साथ ही यह 'उपालभ्यत' क्रिया का विशेषण भी है—"क्रियाविशेषणानां फलभावनां प्रति करणत्वं क्वचिद् विद्यते' । **स्वहस्तोल्लिखितः** = अपने हाथ से निर्मित अथवा चित्रित । यह "चन्द्रशेखरः" का विशेषण है । पार्वती अपने मन-बहलाव के निमित्त शिवजी का चित्र बनाया करती थी । **चन्द्रशेखरः** = चन्द्रमा है शिर पर जिसके—शिवजी । **शेखर** = शिरोभूषण । **मुग्धया** = भोली-भाली, सीधी-सादी । पार्वती वस्तुतः सीधी-सादी थी क्योंकि वह चित्र को ही वास्तविक शिव समझकर उसे बार-बार उलाहना दे रही थी और वह यह समझती थी कि शिव उसके उलाहने को सुन रहे हैं । **रहसि** = एकान्त में । **उपालभ्यत** = उलाहना दिया करती थी । इसका (उक्त) कर्म "चन्द्रशेखरः" है । विरहिणी स्त्रियाँ वियोगावस्था में चार रूपों में अपना मन बहलाव किया करती हैं—(१) स्वप्नदर्शन (२) सादृश्यदर्शन (३) उसके (प्रिय के) अंगों का स्पर्श प्राप्त करना (४) प्रिय के चित्रों को बनाना । उपर्युक्त श्लोक में विरहिणी पार्वती के द्वारा चतुर्थ रूप का उपयोग किया गया है ॥५८॥

◆

प्रसङ्ग—अपने काम-विचार के प्रतीकार में अपने को असमर्थ पाकर पार्वती ने तप करने का ही निश्चय किया—

यदा च तपस्याऽधिगमे जगत्पते-
रपश्यदन्य न विधि विचिन्वती ।
तथा सहाऽस्माभिरनुज्ञया गुरो-
रियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥५६॥

अन्वयः—जगत्पतेः तस्य अधिगमे विचिन्वती यदा अन्यं विधिं न अपश्यत् तदा इयं गुरोः अनुज्ञया अस्माभिः सह तपसे तपोवनं प्रपन्ना ॥५६॥

संस्कृत-व्याख्या—जगत्पतेः = विश्वेश्वरस्य, तस्य = हरस्य, अधिगमे = प्राप्तौ, विचिन्वती = मृग्यमाणा, यदा, अन्यं = अपरं, विधिं = उपायं, न अपश्यत् = न अद्राक्षीत् तदा, इयं = पार्वती, गुरो = पितुः हिमालयस्येत्यर्थः, अनुज्ञया = आज्ञया, अस्माभिः सह = सखीभिः सार्धं, तपसे = अपश्चरितुम्, तपोवनं = तपोभूमिं, प्रपन्ना = समागता । पार्वती यदा शिवस्य पतित्वेन प्राप्तौ तपोव्यतिरिक्तं अन्यं साधनं न दृष्टवती तदा पितुः आज्ञया अस्माभिः सखीभिः सह तपः कर्तुम् अत्र तपोवने समागतेति भावः ।

भाषा—विश्व के स्वामी शिव की प्राप्ति के लिये खोज करती हुई (उस पार्वती ने) जब कोई अन्य साधन नहीं देखा तो वह पिता की आज्ञा से तप करने के लिये हमारे (सखियों के) साथ यहाँ तप करने के लिये आई ।

भावार्थ—पार्वती ने जगत्पति शिव को पति रूप में प्राप्त करने के निमित्त अनेक प्रयत्न किये, किन्तु उसे लेशमात्र भी सफलता प्राप्त न हो सकी । तब उसने यह सोचकर कि उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन तप ही है, पिता से आज्ञा लेकर अपनी सखियों के साथ इस तपोवन में तप करने के लिये आई ।

व्याकरण—अधिगमे = अधि + गम् + अप् । यहाँ "निमित्तात्कर्मयोगे" से सप्तमी विभक्ति होती है । **विचिन्वती** = वि + चिञ् + शतृ + ङीप् । **गुरोः** = गुरु शब्द की षष्ठी विभक्ति का एकवचन का रूप है । **अनुज्ञया** = अनु + ज्ञ + अङ् । **अस्माभिः** = में "सहयुक्तेऽप्रधाने" से सह के योग में तृतीया हुई है ।

तपसे = में "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" से 'तुमुन' के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति हुई है । **प्रपन्ना** = प्र + पद् + क्त + टाप् ।

समास—जगत्पतेः = गच्छतीति जगत्, जगतां पतिः जगत्पतिः तस्य (षष्ठी तत्पुरुष) "पतिः समासे एव" नियम के अनुसार पति शब्द का जब किसी के साथ समास होता है तब उसका रूप हरि या मुनि के सदृश चलता है । इसी कारण उपर्युक्त स्थल पर "जगत्पत्युः" न होकर 'जगत्पतेः' रूप बना है । **तपोवनम्** = तपसः वनं तपोवनं (षष्ठी तत्पुरुष) । अथवा—तपः साधनं वनम् —तपोवनम् यहाँ 'शाकपार्थिवादिवत् उत्तरपदलोपि' समास है ।

टिप्पणियाँ—जगत्पतेः संसार के स्वामी अथवा रक्षक का । यह 'तस्य' का विशेषण है । **तस्य** = उसके (शिवजी के) । **अधिगमे** = पाने में, प्राप्त करने में । अधि + गम् का अर्थ प्राप्त करना अथवा पाना होता है । **विचिन्वती** = खोजती हुई । यह इयं का विशेषण है । **विधिम्** = उपाय को, साधन को । **गुरोः** = पिता की (हिमालय की—'गुरुः गीष्पति पित्रादौ" इत्यमरः । **अनुज्ञया** = आज्ञा से, आदेश से । यहाँ हेतु अर्थ में तृतीया हुई है । **अस्माभिः** = हम लोगों (सखियों) के । **सह** = साथ । **तपसे** = तप करने के लिये । **तपोवनम्** = तपोभूमि को । **प्रपन्ना** = आई, प्राप्त हुई । इस क्रिया का कर्त्ता 'इयम्' है ।।५९।।

* * *

प्रसङ्ग—तप की निष्फलता का वर्णन करती हुई पार्वती की सखी कहती है—

द्रुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं
फलं तपः साक्षिषु दृष्टमेष्वपि ।
न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते
मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः ।।६०।।

अन्वयः—सख्या स्वयं कृतजन्मसु तपः साक्षिषु एषु द्रुमेषु अपि फलं दृष्टम् । शशिमौलिसंश्रयः अस्याः मनोरथः च प्ररोहाभिमुखः अपि न दृश्यते ।।६०।।

संस्कृत-व्याख्या—सख्या = वयस्यया, पार्वत्या इत्यर्थः, स्वयम् = आत्मना,

कृतजन्मसु = कृतजन्मेषु, स्वयं रोपितेषु इत्यर्थः, तपःसाक्षिषु = तपसः साक्षिषु दृष्टेषु, एषु द्रुमेषु = पुरोनिर्दिष्टेषु वृक्षेषु अपि, फलम् = प्रसवः, दृष्टम् = अवलोकितम् जनितमित्यर्थः। (किन्तु) शशिमौलिसंश्रयः = चन्द्रशेखरविषयः, अस्याः = पार्वत्याः मनोरथः = अभिलाषाः च, प्ररोहाभिमुखः अपि = अङ्कुरोन्मुखोऽपि, न दृश्यते = न अवलोक्यते। एतया पार्वत्या आरोपितेषु परितः दृश्यमानेषु वृक्षेषु फलनिष्पत्तिरपि संजाता, किन्तु अस्याः पार्वत्याः चन्द्रशेखराश्रयः मनोरथस्तु अङ्कुरोन्मुखः अपि न दृश्यते (शिव प्राप्तेः अस्याः मनोरथस्तु अद्यापि अपूर्ण एव अस्तीतिभावः।)

भाषा—सखी (पार्वती) के द्वारा अपने आप (अपने हाथों से) लगाये गये हुये, तप के साक्षीभूत इन वृक्षों में फल भी लग गये हैं किन्तु शिव-प्राप्ति रूपी इनकी इच्छा अंकुरित होते हुई नहीं दिखाई पड़ती है।

भावार्थ—हमारी प्रिय सखी पार्वती को तपस्या करते हुये बहुत दिन बीत गये। यहाँ तक कि इन्होंने अपने हाथों से जिन वृक्षों का रोपण तथा सिंचन आदि कर बड़ा कर दिया था उनमें फलों की उत्पत्ति तक हो गई। किन्तु इतने समय से निरन्तर तपस्या करने पर भी इनके तप के लक्ष्यीभूत (शिव की प्राप्ति रूपी लक्ष्य की सिद्धि) उद्देश्य की पूर्ति अभी तक किसी अंश में नहीं हो सकी।

व्याकरण—शशिमौलिसंश्रयः - शश + इनि—शशि, सम + श्रि + अच् (भावे) = संश्रयः। प्ररोहाभिमुखः = प्र + रुह, — = घञ् (कर्मणि) - प्ररोहः। दृश्यते = दृश् (कर्मवाच्य में) + लट्—प्रथम–एकवचन का रूप।

समास—कृतजन्मसु कृतं जन्म येषां ते तेषु (बहुव्रीहि)। **तपःसाक्षिषु** = तपसः साक्षिणः, तपः साक्षिणः (षष्ठी तत्पुरुष) तेषु। **शशिमौलिसंश्रयः** = शशः अस्ति अस्य इति शशी शशी मौलौ यस्य सः (बहुव्रीहि) शशिमौलिः, अथवा शशीमौलिः यस्य सः, शशिमौलिः संश्रयः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **मनोरथः** = मनसः रथः मनोरथः। **प्ररोहाभिमुखः** = मुखं अभितः अभिमुखः, प्ररोहे अभिमुखः, प्ररोहाभिमुखः अथवा प्ररोहस्य अभिमुखः—प्ररोहाभिमुखः।

टिप्पणियाँ—**सख्या** = सखी (पार्वती) के द्वारा। यह कृतजन्मसु, में विद्यमान 'कृत' क्रिया का अनुक्त कर्त्ता है। **कृतजन्मसु** = लगाये गये हुये (पौधों) में। यह

'द्रुमेषु' का विशेषण है । **तपःसाक्षिषु**=तप के साक्षीभूत । साक्षात् द्रष्टारः इति साक्षिणः—यहाँ "साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्" से इनि प्रत्यय हो जाता है । पार्वती ने तपोवन में आकर प्रारम्भ में ही कुछ वृक्षों को लगाया था । ये पार्वती की तपस्या के निरन्तर द्रष्टा भी थे । इसी कारण इनको साक्षी कहा गया है ! **द्रुमेषु**=वृक्षों में । **दृष्टम्**=देखा गया है । **शशिमौलिसंश्रयः**=शंकर में लगे हुये, शिव प्राप्ति की ओर संलग्न । मौलिमस्तक अथवा शिरोभूषण । **शशिमौलि**= शिव । **संश्रयः**=विषय, सहारा । **मनोरथः**=इच्छा, अभिलाषा (शिव-प्राप्ति की इच्छा) । **प्ररोहाभिमुखः**=अंकुरोन्मुख=अंकुरित होने वाला । **प्ररोहः**= अंकुर । **दृश्यते**=दिखाई पड़ता है । इसका कर्म 'मनोरथ' है ॥६०॥

* * *

प्रसङ्ग—न जाने उस शिव की कृपा-दृष्टि हमारी इस सखी पार्वती की ओर कब होगी—

न वेद्मि स प्रार्थितदुर्लभः कदा
सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम् ।
तपः कृशामभ्युपपत्स्यते सखीं
वृषेव सातां तदवग्रहक्षताम् ॥६१॥

अन्वयः—प्रार्थितदुर्लभः सः तपं कृशां सखीभिः अस्रोत्तरं ईक्षितां इमां सखीं, वृषा तदवग्रहक्षतां सीतां इव, कदा अभ्युपपत्स्यते इति न वेद्मि ॥६१॥

संस्कृत-व्याख्या—प्रार्थितदुर्लभः=अभ्यर्थितदुष्प्राप्यः, सः=शिवः, तपः-कृशाम्=नियमक्षीणाम्, सखीभिः=वयस्याभिः अस्मदादिभिरित्यर्थः, अस्रोत्तरम् =अश्रुप्रधानं यथा भवति तथा, ईक्षिताम्=अवलोकिताम्, इमां=पुरोवर्तिनीम्, सखीं=वयस्यां पार्वतीमित्यर्थः, वृषा=इन्द्रः, तदवग्रहक्षतां=तस्य इन्द्रस्य अवग्रहेण अनावृष्ट्या क्षतां पीडिताम्, सीतामिव=कृष्टभूमिमिव, कदा= कस्मिन्काले, अभ्युपपत्स्यते=अनुग्रहीष्यति, इति न वेद्मि . इति न जानामि । यथा अवर्षणेन पीडितां कृष्टां भूमि वर्षणेन इन्द्रः कदा अनुग्रहीष्यति इति कोऽपि न जानाति तथैव तपश्चरणेन कृशां इमां गौरीं, यामवलोक्य वयमपि अश्रुकणान्

गुञ्चाम, पार्वत्या प्रार्थितः तथापि दुर्लभः शिवः कदा अनुग्रहीष्यति ? इति न जानामि ।

भाषा—अभिलषित होने पर भी दुर्लभ वह (शिव) तपस्या के कारण दुर्बल, सखियों द्वारा अश्रुधारा के साथ देखी गई हुई इस सखी (पार्वती) को अवर्षण से पीड़ित तथा जोती गई भूमि को इन्द्र के सदृश कब अनुगृहीत करेगा ? यह मैं नहीं जानती हूँ ।

भावार्थ—जैसे वर्षा न होने से पीड़ित जोती गई भूमि पर इन्द्र की कृपादृष्टि कब होगी ? यह कोई नहीं जानता वैसे ही तपस्या के कारण अत्यन्त कृश शरीर वाली, सखियों द्वारा अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखी गई हुई पार्वती पर उसके मनोवाञ्छित एवं दुष्प्राप्य शंकर जी की कृपादृष्टि कब होगी ? यह मैं नहीं जानती हूँ ।

अलङ्कार—उक्त पद्य में उपमा अलंकार है ।

व्याकरण—**प्रार्थितदुर्लभः**=प्र + अर्थ + क्त—प्रार्थितः, दुर् + लभ् + खल् =दुर्लभः । **तपःकृशाम्**=कृश + क्त (कर्त्तरि)—टाप् । **ईक्षिताम्**=ईक्ष् + क्त + टाप् (स्त्रीलिंग में) । **तदवगृहक्षताम्**=अव + ग्रह + अप् (भावे)—अवग्रह, क्षण (हिंसायाम्) + क्त (कर्मणि) + टाप्—क्षता । **वृषा**=वृष् + कनिन् । **अभ्युपपत्स्यते**=अभि + उप् + पद् + लृट् ।

समास आदि—**प्रार्थितदुर्लभः**=प्रार्थितश्चासौ दुर्लभः (कर्मधारय) । **तपःकृशाम्**=तपसा कृशा तपःकृशा ताम् । **अस्रोत्तरम्**=अस्रं उत्तरं यस्मिन् कर्मणि तत् अस्रोतरम् । **तदवग्रहक्षताम्**=तस्य (इन्द्रस्य) अवग्रहेण क्षताम् तदवग्रहक्षताम् ।

टिप्पणियाँ—**प्रार्थितदुर्लभः**=प्रार्थना करने पर दुष्प्राप्य, मनोवांछित होने पर भी दुर्लभ । **प्रार्थितः**=चाहा गया हुआ । **दुर्लभः**=कठिनता से प्राप्त किये जाने योग्य । यह 'सः' का विशेषण है । पार्वती द्वारा चाहा जाने पर भी न प्राप्त. करने योग्य । **तपःकृशाम्**=तपस्या के कारण कृश शरीर वाली—क्षीणकाय । यह 'इमां' का विशेषण है । **अस्रोत्तरम्**=अश्रुप्रधान (नेत्रों से), आँसुओं से परिपूर्ण । **ईक्षिताम्**=देखी गई हुयी । यह 'इमाम्' का विशेषण है ।

तदवग्रहक्षताम् = उसके (इन्द्र के) द्वारा पानी न बरसाये जाने के कारण पीड़ित (दु:खी)। अवग्रह = अनावृष्टि, सूखा पड़ना। क्षता = पीड़ित। **सीताम्** = जोती गई भूमि को—"सीता लाङ्गलरेखास्याद् व्योमगङ्गा च जानकी" इत्यमरः। यह इमाम् का उपमान है। जिस प्रकार वर्षा न होने के कारण पीड़ित एवं जोती गई हुई भूमि इन्द्र की दया का पात्र हुआ करती है उसी प्रकार तपस्या से कृश शरीर वाली पार्वती भी शिव की दया का पात्र थी। **वृषा** = इन्द्र शुद्ध शब्द वृषन् है। इसके रूप राजन् की तरह चलते हैं। यह 'सः' का उपमान है। **अभ्युपपत्स्यते** = कृपा करेंगे। इसका कर्त्ता 'सः' है। अभि + उप + पद का अर्थ करना हो जाता है ॥६१॥

* * *

प्रसङ्ग—पार्वती की सखी से सम्पूर्ण समाचार को प्राप्त करने के अनन्तर वह ब्रह्मचारी अब पार्वती से ही उसकी सखी द्वारा कही गई बातों की सत्यता जानने की इच्छा से कहता है—

अगूढसद्भावामतीङ्गितज्ञया
निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया।
अपीदमेवं परिहास इत्युमा-
मपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षणः ॥६२॥

अन्वयः—इङ्गितज्ञा तया इति अगूढसद्भावं निवेदितः नैष्ठिक सुन्दरः अव्यञ्जितहर्षलक्षणः (सन्) अयि ! इदं एवम् (अथवा) परिहासः इति उमां अपृच्छत् ॥६२॥

संस्कृत-व्याख्या—इङ्गितज्ञा = पार्वतीहृद्भावाभिज्ञया, तया = पार्वती सख्या इति = एवम्, अगूढसद्भावम् = प्रकाशितसद्भिप्रायं यथा तथा, निवेदितः = ज्ञापितः, नैष्ठिकसुन्दरः = नैष्ठिको यावज्जीवनब्रह्मचारी सुन्दरो विलासी, अव्यञ्जितहर्षलक्षणः सन् = अप्रकटितप्रमोदचिह्नः सन्, अयि ! = हे पार्वती ! इदम् = एतत् त्वत्सखीभाषितमित्यर्थः, एवम् इत्थं, सत्यमित्यर्थः अथवा, परिहास = केलिः ? इति = एवम्, उमाम् = पार्वतीं, अपृच्छत् = पृष्टवान्। सः ब्रह्मचारी एतत्सर्वं श्रुत्वा मनसि नितरां प्रसन्नः संजातः। किन्तु स्वप्रसन्नतां

गोपयन् सः तथ्यसमर्थनाय पार्वतीमपृच्छत्—"हे पार्वती ! त्वद् विषये तव सखी यद् भाषितवती तत्सर्वं सत्यमस्ति न वा ? अथवा सा एतत्सर्वं ते परिहासार्थमेव उक्तवती ?"

भाषा—(पार्वती) के हृदय की बात को जानने वाली उस सखी के द्वारा इस प्रकार (पार्वती के) मनोवाञ्छित अभिप्राय को प्रकट करते हुए निवेदन किये जाते हुये उस सुन्दर नैष्ठिक ब्रह्मचारी ने (अपनी आन्तरिक) प्रसन्नता का कोई लक्षण बिना प्रकट किये हुये ही पार्वती से पूछा—अयि ! वह बात (वस्तुतः) ऐसी ही है अथवा यह (उपहास) है ?

भावार्थ—इस प्रकार पार्वती के मन की बात जानने वाली सखी ने पार्वती द्वारा की जाने वाली तपस्या का सही-सही कारण ब्रह्मचारी को बतला दिया। यह सुनकर वह ब्रह्मचारी मन ही मन अत्यधिक प्रसन्न हुआ। किन्तु अपनी प्रसन्नता को किसी भी अंश में प्रकट न करते हुये उसने पार्वती से पूछा कि आपके बारे में यह जो कुछ भी कह रही हैं क्या वह सत्य है ? अथवा केवल उपहास मात्र ही है ?

व्याकरण—**इङ्गितज्ञया**=इङ्ग+क्त (भाव में) इङ्गित, इङ्गित+ज्ञा+कः (कर्त्तरि)—आ। अथवा इङ्गितज्ञ+टाप्। **अगूढसद्भावम्**=न+गुह्+क्त अगूढ। अस्+शतृ—सत् भू+घञ्—भाव। **नैष्ठिकसुन्दरः**=निष्ठा+ठञ् (इक)—नैष्ठिक। **परिहास**=परि+हस्+घञ्। **अपृच्छत्**=पृच्छ+लङ् के कर्तृवाच्य, प्रथम पुरुष, एकवचन का रूप। पृच्छ् धातु द्विकर्मक है। इसका प्रधान कर्म 'इति' तथा गौण कर्म 'उमाम्' है।

समास आदि—**इङ्गितज्ञया**-इङ्गितं जानातीति इङ्गितज्ञा तया। **अगूढसद्भावम्**=न गूढः अगूढः संश्चासौ भावः सद्भावः, अगूढः सद्भावः यस्मिन् कर्मणि तत् अगूढसद्भावम् (बहुव्रीहि)। **नैष्ठिकसुन्दरः**=नैष्ठिकश्चासौ सुन्दरश्च नैष्ठिकसुन्दरः (कर्मधारय)। **अव्यञ्जितहर्षलक्षणः**=हर्षस्य लक्षणम् हर्षलक्षणम् (षष्ठी तत्पुरुष), न व्यञ्जितम् अव्यञ्जितम् अव्यञ्जितं हर्षलक्षणं यस्य सः (बहुव्रीहि) अथवा व्यञ्जितं हर्षलक्षणं यस्य सः (बहुव्रीहि), न व्यञ्जितहर्षलक्षणः अव्यञ्जितहर्षलक्षणः नञ् तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—इङ्गितज्ञया=आन्तरिक (मन का, हृदय का) भाव को जानने वाली। इङ्गितहृदयगत भाव। यह 'तया' का विशेषण है। **अगूढसद्भावम्**=सुन्दर अभिप्राय को न छिपाते हुये। **गूढ**=गुप्त, छिपा हुआ। **अगूढ**=न छिपा हुआ। **भावः**=अभिप्राय। शिव को अपने पति के रूप में प्राप्त करने की इच्छा ही पार्वती का सद्भाव है। यह 'निवेदितः' क्रिया की विशेषता प्रकट करता है अतः क्रिया विशेषण है। **'निवेदितः'**=कहा गया हुआ। य. "नैष्ठिकसुन्दरः" का विशेषण है। **नैष्ठिकसुन्दरः**=जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाला सुन्दर ब्रह्मचारी। **निष्ठा**=मरणम्, अन्त, मृत्यु।" निष्ठाकालं यावदस्य ब्रह्मचर्यमिति नैष्ठिकः।" "निष्ठा निष्पत्ति नाशान्ताः" इत्यमरः। **अव्यञ्जितहर्षलक्षणः**=लक्षण नहीं प्रकट किया है प्रसन्नता का कोई जिसने ऐसा। व्यञ्जित=प्रकट किया, दिखलाया अपने से सम्बन्धित पार्वती के अनन्य प्रेम को देखकर शिव मन ही मन अत्यधिक प्रसन्न हुये किन्तु उन्होंने अपनी इस प्रसन्नता का कोई भी चिन्ह प्रकट नहीं होने दिया। **अयि**=यह अव्यय है। यह यहाँ पार्वती के प्रति सम्बोधन रूप में प्रयुक्त हुआ है। **इदम्**=यह जो तुम्हारी सखी ने बतलाया है। **एवम्**=इस प्रकार है, सत्य है। **इदं एवम्**=क्या यह बात ऐसी ही है कि जैसा सखी कह रही है। **परिहास**=हास्य। **अपृच्छत्**=पूछा ॥६२॥

◆

प्रसङ्ग—इसके अनन्तर ब्रह्मचारी द्वारा कथित परिहास की शङ्का का निवारण करने हेतु पार्वती ने व्यवस्थित एवं स्वकल्प वाणी में कहा—

अथाऽग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ
समर्पयन्ती स्फटिकाऽक्षमालिकाम्।
कथंचिदद्रेस्तनया मिताक्षरं
चिरव्यवस्थापितवागभाषत ॥६३॥

अन्वयः—अथ अद्रेः तनया मुकुलीकृताङ्गुलौ अग्रहस्ते स्फटिकाक्ष मालिकां समर्पयन्ती चिरव्यवस्थापित वाक् कथञ्चित् मिताक्षरं अभाषत ॥६३॥

संस्कृत-व्याख्या—अथ=अनन्तरं, अद्रे=पर्वतस्य, हिमालस्येत्यर्थः, तनया

=पुत्री, पार्वती, मुकुलीकृताङ्गुलौ=सम्पुटीकृताङ्गुलौ, अग्रहस्ते=कराग्रे, स्फटिकाक्षमालिकां=स्फटिकमणिनिर्मिताक्षमालिकां, समर्पयन्ती=आमुञ्चन्ती, चिरव्यवस्थितवाक्=चिरेणस्वीकृतवाक्, कथञ्चित् कथमपि, मिताक्षरं=परिमितवर्णं यथा तथा, अभाषत=उवाच। ब्रह्मचारिवाक्यश्रवणानन्तरं पार्वती स्फटिकमणिनिर्मितां जपमालां कुड्मलदृशसम्पुटीकृताङ्गुलौ अग्रहस्ते संस्थाप्य जपमालाचालनात् किञ्चित्काल विरम्य स्वकीयं विषय चिराय विविच्य महता कष्टेन परिमितशब्द यथास्यात्तथा उवाचेति भावः।

भाषा—इसके अनन्तर पर्वतराज हिमालय की पुत्री (पार्वती) स्फटिकमणिनिर्मित जपमाला को कलियों के सदृश अपनी जुड़ी हुई अंगुलियों वा हाथ के अगले भाग में धारण कर देर तक (अपनी) वाणी को व्यवस्थित करके किसी न किसी प्रकार परिमित शब्दों में बोली।

भावार्थ---ब्रह्मचारी के प्रश्न को सुनकर पार्वती ने स्फटिकमणि से बनी हुई जपमाला को कलियों के समान जुड़ी हुई अंगुलियों से युक्त अपने हाथ के अग्र भाग में धारण कर लिया (पकड़ लिया) अर्थात् उसने जपमाला के चालन का कार्य कुछ काल के लिये बन्द कर दिया। तदनन्तर अपने विषय की विवेचना करते हुए बड़े नपे तुले शब्दों में उसने कुछ कहना प्रारम्भ किया।

अलङ्कार=उक्त पद्य में स्वाभावोक्ति अलङ्कार है।

व्याकरण **मुकुलीकृत**=मुकुल+च्वि+कृ+क्त (कर्मणि)। यहां "अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः" से 'च्वि' प्रत्यय होता है। जब किसी वस्तु को किसी ऐसी वस्तु के सदृश बतलाया जाता है कि जो वास्त में वैसी न हो तब ऐसी स्थिति में 'च्वि' प्रत्यय हुआ करता है। यहाँ अंगुलि को कलियों के सदृश बतलाया है किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। अतः य 'च्वि' प्रत्यय हो गया है। 'च्वि' प्रत्यय होने के पश्चात् उसके पूर्व विद्यमान अ अथवा आ के स्थान पर 'ई' हो जाता है। किन्तु पूर्व में विद्यमान अव्यय के अ अथवा आ को 'ई' नहीं हुआ करता है। पुनः इ अथवा उ को दीर्घ और [illegible] का लोप तथा कृ, भू, अथवा अस् में से किसी एक का तिङन्त या कृदन्त [illegible] जाया करता है। इस प्रकार 'मुकुलीकृताः' बनता है। **समर्पयन्ती**=

सम + अर्प + णिच् + शतृ + ङीप् । **व्यवस्थितवाक्** = वि + अव + स्था + णिच् + क्त + टाप् = व्यवस्थापिता । **मितम्** = मा + क्त । **अभाषत** = भाष् + लङ्—प्रथमपुरुष, एकवचन ।

समास आदि—मुकुलीकृताङ्गुलौ = न मुकुला: अङ्गुला: अमुकुला: मुकुला: सम्पद्यमाना: कृता: इति मुकुलीकृता: मुकुलीकृता: अङ्गुलय: यस्य स: (बहुव्रीहि) मुकुलीकृताङ्गुली तस्मिन् मुकुलीकृताङ्गुलौ । **अग्रहस्ते** = अग्रश्चासौ हस्तश्च इति अग्रहस्त: (कर्मधारय) तस्मिन् । **स्फटिकाक्षमालिकाम्** = स्फटिकानां अक्षमालिकां अथवा स्फटिकनिर्मिता अक्षमालिका स्फटिकाक्षमालिका ताम् । **चिरव्यवस्थितवाक्** = चिरं यथा स्यात्तथा व्यवस्थिता वाक् यया सा (बहुव्रीहि) । **मिताक्षरम्** = मितानि अक्षराणि यस्मिन् कर्मणि यथास्यात्तथा मिताक्षरम् ।

टिप्पणियाँ—अद्रे: = पर्वत (हिमालय) की—अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैल-शिलोच्चया" इत्यमर: । **मुकुलीकृताङ्गुलौ** = कली न होकर भी कलियों के सदृश जुड़ी हुई थी अङ्गुलियाँ जिसकी ऐसे (हाथ) । **मुकुल कली**—"कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्" इत्यमर: । **अग्रहस्ते** = हाथ के अगले भाग में । यहाँ अग्र तथा हस्त में एक अवयव है और दूसरा अवयवी इसी कारण यहाँ कर्म-धारय समास है । यहाँ 'अग्र' गुण है । तथा 'हस्त' गुणी । 'हस्ताग्र' में हस्त तथा अग्र में भेद है किन्तु 'अग्रहस्त' में अग्र तथा हस्त का अभेद है । **स्फटिकाक्षमालिकाम्** = स्फटिकमणि द्वारा निर्मित्त माला । यह समर्पयन्ती का कर्म है । **समर्पयन्ती** = धारण करती हुई । **चिरव्यवस्थितवाक्** = बहुत समय तक वाणी को सोच समझकर । अर्थात् क्या कहना उचित है और क्या नहीं, इसका भली-भाँति विवेचन कर । **कथञ्चित्** = किसी प्रकार । **मिताक्षरम्** = सीमित शब्दों में, नपे-तुले शब्दों में । **अभाषत** = बोली; बोलना प्रारम्भ किया ॥६३॥

प्रसङ्ग—पार्वती ने ब्रह्मचारी महोदय से कहा—

यथा श्रुतं वेदविदां वर त्वया
जनोऽयमुच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः ।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं
मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥६४॥

अन्वयः—हे वेदविदांवर ! त्वया यथा श्रुतं (तथा) अयं जनः उच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः (अस्ति) इदं तपः तदवाप्तिसाधनं किल, मनोरथां अगतिः न विद्यते ॥६४॥

संस्कृत-व्याख्या—हे वेदविदांवर ! = हे वेदज्ञातृणां श्रेष्ठ!, त्वया = भवता, यथा = येन प्रकारेण, श्रुतम् = (सखीमुखात्), आकर्णितम्, तथा = तेन प्रकारेण, अयं जनः = अहम् (स्वयमित्यर्थः), उच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः = उच्चैः पदस्य शिवलाभरूपोन्नतस्थानस्य लङ्घने आक्रमणे उत्सुकः, अस्ति । इदं = क्रियमाणं तपः = अनुष्ठानम्, तदवाप्तिसाधनं किल = तदवाप्ति उपकरणं किल । मनोरथानां = कामानाम्, अगति = अविषयः, न विद्यते = न वर्तते । हे वैदिकश्रेष्ठ ! मम सखीमुखाद् भवता यथा श्रुतं तथा अहम् शिवप्राप्तिरूपमुच्चपदनधिगन्तुं दृढं निश्चयं कृतवती अस्मि । इदं मया क्रियामाणं तपः तत्प्राप्तिसाधनमस्ति । इयं मम कामना अवश्यमेव पूर्णा भविष्यति यतो हि कामनामवरोद्धुं लोके कोऽपि जनः न प्रभवति ।

भाषा—हे वेदों के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ ! तुमने जैसा सुना है, वह ठीक है। यह व्यक्ति (मैं) उच्चपद प्राप्त करने की इच्छुक है। यह तपस्या ही उसकी प्राप्ति का उपाय है, इच्छायें रोकी नहीं जा सकतीं।

भावार्थ—हे वेदज्ञ ! आपने मेरी सखी के मुख से सत्य ही सुना है कि मैं शिव-प्राप्ति रूप उच्च पद को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर चुकी हूँ। इसी इच्छा की पूर्ति के निमित्त मैं यह तप कर रही हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि यह तप ही उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन है। मेरी यह इच्छा अवश्य ही पूर्ण होगी क्योंकि लोक में अपनी इच्छाओं को रोकने में कोई भी व्यक्ति समर्थ नहीं हुआ करता है। अर्थात् इच्छाएं अपने अभीष्ट स्थान को प्राप्त कर ही लिया करती हैं।

अलङ्कार—इस पद्य में 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है।

व्याकरण—वेदविदाम् = वेद + विद् + क्विप् । लङ्घनम् = लङ्घ + ल्युट् (भावे)। तदवाप्तिसाधनम् = अव + आप् + क्तिन्—अवाप्ति, साधु + ल्युट् = साधनम् । अगतिः = न + गम् + क्तिन् ।

समास आदि—**वेदविदाम्**=वेदं विदन्ति ये ते वेदविदः तेषाम् । **उच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः**=उच्चैः पदस्य घंघनम् उच्चैः पदलंघनम् (षष्ठी तत्पुरुष) उच्चैः पदलङ्घने उत्सुकः (सप्तमी तत्पुरुष) । **तदवाप्तिसाधनम्**=साध्यते अनेन इति साधनम्; तस्य (उच्चैः पदस्य) अवाप्तिः तदवाप्तिः, तदवाप्तेः साधनम् (षष्ठी तत्पुरुष) । **अगतिः**=न गतिः अगतिः (नञ् तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**वेदविदाम्**=वेदज्ञों में, वेद जानने वालों में । **वेदवित्** वेदविदौ वेदविदः, आदि इसके रूप चलते हैं । **वर**=श्रेष्ठ, उत्तम । इसका प्रयोग ब्रह्मचारी के लिए हुआ है । यहाँ यह सम्बोधन है । **यथाश्रुतम्**=इसके समास दो प्रकार से किये जा सकते हैं (१) त्वया यथा श्रुतं अयं जनः………… इत्यादि—अर्थात् जैसा आपने (मेरी सखी के मुख से) सुना है कि यह व्यक्ति उच्चपद को प्राप्त करने का अभिलाषी है । (२) सापेक्ष यथा शब्द के साथ तथा शब्द की जोड़कर—"त्वया यथा श्रुतं तत्तथा अर्थात् आपने जैसा (मेरी सखी से) सुना है, वह ठीक ही है । किन्तु टीकाकार मल्लिनाथ ने 'यथा' शब्द का अर्थ 'सम्यक्' किया है । उनके अनुसार "त्वया यथा श्रुतम्" वाक्य का अर्थ होगा—"त्वया सम्यक् श्रुतम्" अर्थात् ठीक ही सुना है कि वह व्यक्ति शिव जैसे महान् पद को प्राप्त करने का इच्छुक है । **अयं जनः**=यह व्यक्ति अर्थात् मैं (पार्वती) । **उच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः**=उच्च (महान् शिव के) पद को प्राप्त करने का इच्छुक है । शिव को प्रतिरूप में प्राप्त करना ही पार्वती के लिये उच्चपद की प्राप्ति करना है । **लङ्घनम्**=प्राप्त करना, पार करना । **उच्चैः**=उन्नत, ऊँचा । यह एक अव्यय है । **तदवाप्तिसाधनम्**=उस (अपने लक्ष्य) को प्राप्त करने का साधन है । **अवाप्ति**=प्राप्ति । **साधनम्**=उपाय । **किल**=निश्चय ही । **मनोरथानाम्**=इच्छाओं की, कामनाओं की="इच्छाकाङ्क्षास्पृहेहातृड्वाञ्छालिप्सामनोरथः" इत्यमरः । **अगतिः**=अविषय, रुकावट । यह विद्यते क्रिया का कर्त्ता है । **न विद्यते**=नहीं होता है या नहीं है । **मनोरथानामगतिर्न विद्यते**—इस उक्ति का भाव है—कि संसार में कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छाओं को रोक नहीं सकता । इच्छायें निश्चित रूप से अपने अभीष्ट को प्राप्त कर ही लिया करती है । जो मनुष्य किसी भी उत्कट इच्छा को लेकर

उसकी पूर्ति के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहा करता है—वह अवश्य अपनी इच्छा पूर्ति में सफलता को प्राप्त कर लिया करता है ।।६४।।

* * *

प्रसङ्ग—इसके अनन्तर ब्रह्मचारी कहता है—

अथाऽऽह वर्णी विदितो महेश्वर—
स्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे ।
अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य तं
तवाऽनुवृत्तिं न च कर्त्तुमुत्सहे ।।६५।।

अन्वयः—अथ वर्णी आह–महेश्वरः विदितः, पुनः त्वं तदर्थिनी एव वर्तसे । अमङ्गलाभ्यासरतिं तं विचिन्त्य तव अनुवृत्तिं कर्तुं न उत्सहे ।।६५।।

संस्कृत-व्याख्या—अथ = पार्वतीकथननन्तरं, वर्णी = ब्रह्मचारी, आह = उवाच—महेश्वरः – शिवः, विदितः = ज्ञातः, मया ज्ञायते इत्यर्थः । पुनः = भूयः, त्वं तदर्थिनी एव = तत्कामैव, वर्तसे । अमङ्गलाभ्यासरतिम् = अमङ्गलाचारे रतिः प्रीतिः यस्य तम् तथोक्तम्, तम् = महेश्वर, विचिन्त्य = विचार्य, तव = भवत्याः, अनुवृत्तिम् = अनुसरणं, कर्त्तुम् = विधातुं, न उत्सहे = न उत्साहं करोमि । पार्वती = वचनश्रवणानन्तरं सः ब्रह्मचारी जगाद—अहं शिव सम्यक् जानामि, येन त्वं प्राग् भग्नमनोरथा कृता, पुनरपि त्वं तमेव कामयसे । अमङ्गलाचारानुरागिणं तं शिवं विचार्य अहं अस्मिन् विषये तव चित्तवृत्तिं अनुसर्तुं न शक्नोमि इति भावः ।

भाषा—इसके पश्चात्, ब्रह्मचारी ने कहा– शिव को मैं जानता हूँ । फिर भी तुम उसी की अभिलाषिणी हो । मैं तो उसे अमङ्गलकारक वस्तुओं से प्रेम करने वाला जानकर तुम्हारा अनुसरण करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ ।

भावार्थ—पार्वती के वचनों को सुनने के पश्चात् वह ब्रह्मचारी बोला—मैं शिव को भली-भाँति जानता हूँ जिसने तुमको प्रारम्भ में ही भग्नमनोरथ किया था, तुम्हारे प्रेम को ठुकरा दिया था, उसको प्राप्त करने के लिये अब भी आपके मन में इच्छा बनी हुई है । जब मैं उन अमङ्गलकारक वस्तुओं तथा

आचरणों से स्नेह करने वाले उस शिव के बारे में विचार करता हूँ तब मेरा मन नहीं करता है कि मैं आपको इस बारे में उचित परामर्श दूँ।

व्याकरण—**वर्णी**=वर्ण+इनि। **आह**=ब्रू+लट्। ब्रू धातु को प्रथम पुरुष के तीनों वचनों तथा मध्यम पुरुष के प्रथम दो वचनों में "ब्रूवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः" सूत्र से "आह" आदेश हो जाता है। इस भाँति इस धातु के लट् लकार में ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति, ब्रुवीषि, ब्रूथः इत्यादि रूपों के साथ ही साथ आह, आहतुः आहुः तथा आत्थ, आहथुः इत्यादि रूप भी बनते हैं। अतः 'आह' रूप तो वर्तमान काल का है किन्तु यहां पर इसका प्रयोग भूतकाल के रूप में हुआ है। किन्तु टीकाकार मल्लिनाथ ने इसको भ्रान्तिमूलक कहा है तथा अपने पक्ष की सिद्धि में वामन का मत उद्धृत किया है—'आहेति भूतार्थे लट् प्रयोगो भ्रान्तिमूलः"। वर्धमान आदि कुछ अन्य वैयाकरणों ने इसे तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय स्वीकार किया है तथा भूतकालिक अर्थ के प्रयोग में इसका समाधान भी किया है। कुछ अन्य टीकाकारों ने तो 'अथ' के साथ भूतकाल में प्रयुक्त 'आह' के प्रयोग को व्याकरण-सम्मत कहा है। **विदितः**=विद्+क्तः। यहाँ बुद्धयर्थक 'विद्' धातु से "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" से वर्तमानकाल में 'क्त' प्रत्यय होता है। **तदर्थिनी** =तद्+अर्थ+णिनि+ङीप् (स्त्रीलिङ्ग में) अथवा तत्+अर्थ+इनि+ङीप्। **वर्तसे**=वृत+लट्। **अभ्यास**=अभि+अस्+घञ्। **विचिन्त्य**=वि+चिन्त्+णिच्+ल्यप्। **अनुवृत्तिम्**=अनु+वृत्+क्तिन्। **उत्सहे**=उत्+सह+लट्।

समास आदि—**वर्णी**=वर्णः अस्य अस्तीति वर्णी अथवा प्रशस्तः वर्णः यस्यास्तीति वर्णी। **महेश्वरः** महश्चासौ ईश्वरः (कर्मधारय) "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" सूत्र से 'महत्' के स्थान पर 'महा' हो जाता है। कर्मधारय अथवा बहुव्रीहि समास में जब महत् शब्द पूर्व पद में आता है तब उसके स्थान पर 'महा' हो जाता है। **तदर्थिनी**=तम् अर्थयते या सा इति। अथवा अर्थ अस्याः अस्तीति अर्थिनी, तस्य अर्थिनी (षष्ठी तत्पुरुष)। इस दूसरी व्याख्या को "कृद्वृत्तेः तद्धितवृत्तिर्बलीयसी" के आधार पर अधिक अच्छा माना जाता है। **अमङ्गलाभ्यासरतिम्**=अमङ्गलस्य अभ्यासः (षष्ठी-तत्पुरुष) अमङ्गलाभ्यासः, अमङ्गलाभ्यासे रति यस्य सः तम् (व्यधि० बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**वर्णी**=ब्रह्मचारी । **आह**=बोला । **महेश्वरः**=शिव । **विदितः**=ज्ञात है । इसका उक्त कर्म "महेश्वर" है तथा "मे अथवा मम" अनुक्त कर्त्ता है जो अन्तर्निहित है । ब्रह्मचारी के कहने का तात्पर्य यह है कि मैं शिव को बहुत अच्छे रूप में जानता हूँ अर्थात् उनकी बुराइयों, कमियों तथा अवगुणों से भलीभाँति परिचित हूँ । **पुनः एव**=तथापि, फिर भी । यद्यपि शिवजी द्वारा तुम्हारा मनोरथ भग्न कर दिया गया है फिर भी तुम उन्हीं की अभिलाषिणी हो । **तदर्थिनी**=उसी को चाहने वाली । **वर्तसे**=हो । इस क्रिया का कर्त्ता त्वम् है । **अमङ्गलाभ्यासरतिम्**=अशुभ वस्तुओं से प्रेम रखने वाला । अभ्यास—निरन्तर उन्हीं का सेवन करना । यह 'तम्' का विशेषण है । वस्तुतः शिवजी अपने शरीर में चिता की भस्म लगाते हैं, श्मशान में निवास किया करते हैं, अपने कण्ठ में सर्पों को लपेटे रहते हैं, रक्त टपकते हुये गजचर्म को ओढ़ते हैं इत्यादि कार्य ऐसे हैं कि जिनके कारण उनको उक्त विशेषण से विभूषित किया गया है । **विचिन्त्य**=सोचकर । **अनुवृत्तिम्**=अनुमोदन करना, समर्थन करना । यह कर्तुं का कर्म है । इसी कारण कृत् प्रत्यय के योग में "कृतयोगे कर्त्तरि षष्ठी" से 'तत्र' षष्ठी विभक्ति हो जाती है । **कर्त्तुम्**=करने के लिये । **न उत्साह**=उत्साह नहीं करता हूँ । इस क्रिया का कर्त्ता 'अहम्' है ॥६५॥

◆

प्रसङ्ग—अब ब्रह्मचारी आगामी सात श्लोकों में पार्वती के साथ शिवजी की अयोग्यता का परिचय देते हुये कहते हैं—

अवस्तुनिर्बन्धपरे ! कथं नु ते
करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः ।
करेण शंभोर्वलयीकृताहिना
सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥६६॥

अन्वयः—हे अवस्तुनिर्बन्धपरे ! आमुक्तविवाहकौतुकः ते अयं करः वलयीकृताऽहिना शम्भोः करेण तत्प्रथमावलम्बनं कथं नु सहिष्यते ॥६६॥

संस्कृत-व्याख्या—हे अवस्तुनिर्बन्धपरे ! = हे तुच्छवस्तुहठतत्परे पार्वती !, आमुक्तविवाहकौतुकः = आसञ्जितपरिणयहस्तसूत्रः, ते = तव, अयम् करः = हस्तः, वलयीकृताऽहिना = भूषणीकृतसर्पेण, शम्भोः = शिवस्यः, करेण = हस्तेन, तत्प्रथमावलम्बनम् = तत्प्रथमग्रहणम्, कथं नु = केन प्रकारेण, सहिष्यते ? न कथञ्चिदपि सहिष्यते इत्यर्थः । शिव स्वहस्ते कङ्कणत्वेन सर्पं धारयति । अतएव हे पार्वती ! मङ्गलसूत्रयुक्तः अयं तव हस्तः भूषणीकृतसर्पेण शिवस्य करेण आद्यं पाणिग्रहणं कथं सहिष्यते । त्वत्करः शिवस्य करदर्शनमात्रेण एव भीत्वा स्वयमेव सहसा निवर्तिष्यते इति भावः ।

भाषा—हे तुच्छ वस्तु के प्रति अत्यधिक आग्रह रखने वाली पार्वती ! विवाह सम्बन्धि मङ्गल सूत्र को धारण किये हुये तेरा हाथ, सर्प को कङ्गन के स्थान पर धारण रखने वाले शिव के हाथ के प्रथम ग्रहण को किस भाँति सहन कर सकेगा ?

भावार्थ—हे पार्वती ! शिव विषयक तुम्हारा आग्रह तुम्हारे अनुरूप प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि शिव अशुभ वस्तुओं को धारण करने वाला है । वह अपने हाथ में कङ्गन के स्थान पर सर्प को लपेटे रहते हैं । अतः जब पाणिग्रहण के समय वह कङ्गन के स्थान पर लिपटे सर्प से युक्त अपने हाथ से तुम्हारे मङ्गलसूत्र से युक्त हाथ को पकड़ेंगे तब भय के कारण तुम अपने हाथ को स्वयं ही दूर खींच लोगी । इस भाँति प्रथम पाणिग्रहण ही न हो सकेगा ।

व्याकरण – **आमुक्त** = आङ् + मुच् (पहनना, धारण करना) + क्त । **वलयीकृत** = वलय + च्वि + कृ + क्त (कर्मणि) । **अवलम्बनम्** = अव + लम्ब + ल्युट् । **सहिष्यते** = सह् + लृट् ।

समास आदि—**अवस्तुनिर्बन्धपरे** = अप्रशस्तं वस्तु इति अवस्तु (नञ् तत्पुरुष) नञ् का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है—"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः' । यहाँ यह अप्राशस्त्य अर्थ में नञ् का प्रयोग हुआ है । अवस्तुनि निर्बन्धः अवस्तुनिर्बन्धः । अवस्तुनिर्बन्धः एव परंप्रधान यस्याः सा अवस्तुनिर्बन्धपरा तस्याः सम्बोधने अवस्तुनिर्बन्धपरे । **आमुक्तविवाहकौतुकः** = विवाहस्य कौतुकं (षष्ठी तत्पुष), आमुक्तं विवाहकौतुकं येन स आमुक्तविवाहकौतुकः (बहुव्रीहि) । **वलयीकृताहिना** = न

वलयः अवलयः, अवलयः, वलयः यथा सम्पद्यते तथा कृतः वलयीकृतः, वलयीकृतः अहिः यस्मिन् स तेन (बहुव्रीहि)। तत्प्रथमावलम्बन् = प्रथमं अवलम्बनम् (कर्मधारय), तदेव प्रथमावलम्बनम् तत्प्रमावलम्बनम् (कर्मधारय) अथवा तदेव प्रथमं तत्प्रथम तच्च तत् अवलम्बनम् तत्प्रथमावलम्वनम्।

टिप्पणियाँ – **अवस्तुनिर्बन्धपरे** = अत्यन्त तुच्छ वस्तु को ग्रहण करने में तत्पर रहने वाली। **अवस्तु** = तुच्छ पदार्थ। **निर्बन्धः** = आग्रह। यह पार्वती के लिये सम्बोधन रूप में प्रयुक्त हुआ है। अवस्तु शब्द से ब्रह्मचारी का अभिप्राय शिव से है। **आमुक्तविवाहकौतुकः** = बंधा हुआ है विवाह सम्बन्धी मंगल सूत्र जिसमें, विवाहकालीन रक्षासूत्र से युक्त। **आमुक्त** = धारण किया गया। **कौतुक** = मङ्गल सूत्र। विवाह आदि शुभ कार्यों में पीले रंग का धागा (सूत) कलाई में बाँधा जाया करता है। इसी को मंगल सूत्र कहा जाता है। **शम्भोः** = शिव का। **वलयीकृताहिना** = कङ्गन के सदृश धारण किया गया है सर्प जिसमें। **वलय** = कङ्गण = "आवापकः परिहार्यः कटको वलयोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। **वलयीकृतः** = कङ्गण के रूप में धारण किया गया हुआ। **अहिः** = सर्प; यह 'करेण' का विशेषण है। ऐसा हाथ कि जिसमें कङ्गन के स्थान पर सर्प धारण किया गया है। शिवजी वासुकि नामक नाग को कङ्गन के रूप में धारण किया करते हैं। करेण = हाथ से, हाथ के द्वारा। **तत्प्रथमावलम्बनम्** = प्रथम बार ग्रहण करना अथवा पकड़ना। अवलम्बन् = ग्रहण करना। यह 'सहिष्यते' क्रिया का कर्म है। **कथं न सहिष्यते** = कैसे सहन करेगा। विवाह संस्कार में जब प्रथम बार पाणि (हाथ) ग्रहण किया जाता है तो उस समय वर वधू के हाथ को प्रथम बार पकड़ता है। इसी कृत्य की ओर उक्त क्रिया का संकेत है। ब्रह्मचारी के कहने का भाव यह है कि जब शिवजी पार्वती के हाथ को संस्कार के समय पकड़ेंगे तो उस समय उसके हाथ की कलाई में सर्प लिपटा होगा। उसे देखते ही पार्वती अपना हाथ खींच लेंगी ॥६६॥

प्रसङ्ग—अब ब्रह्मचारी वर-वधू के वस्त्रों की ओर संकेत करता हुआ कहता है—

त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं
कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं
गजाऽजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥६७॥

अन्वयः—हे गौरि ! त्वमेव तावत् स्वयं परिचिन्तय, कलहंसलक्षणं वधूदुकूलं 'तथा', शोणितबिन्दुवर्षि, गजाजिनं च एते कदाचित् योगं अर्हतः यदि ?॥६७॥

संस्कृत-व्याख्या—हे गौरि ! = हे पार्वती !, त्वमेव, तावत् = तावन्मात्रं, स्वयं = आत्मना, परिचिन्तय = पर्यालोचय, कलहंसलक्षणं = कलहंसचिह्नं, वधूदुकूलं = नवोढाक्षौमं, तथा शोणितबिन्दुवर्षि = रक्तबिन्दुवर्षि, गजाजिनम् = कृत्तिवासश्च, एते = द्वे वस्तुनी, कदाचित्—जातु अपि, योगं = संगतिम्, अर्हतः यदि = योग्यतां प्राप्नुतः किम् ? अतिमहदनयोरन्तरमित्यर्थः । पाणिग्रहणकाले बहुमूल्यस्य ते क्षौमस्य रक्तबिन्दुवर्षिणा शङ्करस्य गजचर्मणा सह ग्रन्थिबन्धनं कथं भविष्यति इति त्वमेव तावत् मनसा सम्यक् विचारयेति भावः ।

भाषा—हे पार्वती ! **तुम स्वयं भलीभाँति विचार करो कि हंस के चिन्ह से युक्त नव-विवाहिता बहू का रेशमी वस्त्र और रक्त की बूंदों की वर्षा करने वाली तथा हाथी की खाल ये दोनों क्या कभी एक साथ रहने योग्य है ?**

भावार्थ—वास्तव में शिव तुम्हारे योग्य नहीं है । यह तुम ही विचारपूर्वक देख लो कि कहाँ तो हंस छाप वाली रेशमी चुनरी ओढ़े हुए आप और कहाँ रक्त की बूँद टपकती हुई शिवजी के कन्धे पर पड़ी हुई हाथी की खाल, भला इन दोनों का मेल कैसे हो सकता है ? कहने का तात्पर्य यह है कि गठबन्धन के समय तुम्हारा रेशमी वस्त्र तथा शिव का गीला गजचर्म इन दोनों की संगति होना कैसे सम्भव है ?

अलङ्कार—इस पद्य में विषमालङ्कार है लक्षण—"विषमं यद्यनौचित्यादनेकान्वय कल्पनम्' ।

व्याकरण—तावत् = तत् + वतुप् । **परिचिन्तय** = परि + चिन्त + णिच् + लोट् । वर्षि = वर्ष + णिनि ।

समास आदि—**कलहंसलक्षणम्** = कलश्चासौ हंसः कलहंसः, कलहंसवत् लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् अथवा कलहंसः एव लक्षणं (चिह्नम्) यस्य तत् (बहु-

व्रीहिः), अथवा कलहंसस्य लक्षणमिव लक्षणं यस्य तत् कलहंसलक्षणं । **वधूदुकूलम्**=वध्वाः दुकूलम् वधूदुकूलम् (षष्ठी तत्पुरुष) । **शोणितबिन्दुवर्षि**=शोणितस्य विन्दवः शोणितविन्दवः, शोणितविन्दून् साधु वर्षतीति शोणितविन्दवर्षि । **गजाजिनम्**=गजस्य अजिनम् (षष्ठी तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**तावत्**=यावन्मात्रं विचारणीयं तावन्मात्रम् । जितना विचार करना आवश्यक हो उतना । यह अव्यय है । **परिचिन्तय**=विचार कर लो । इस क्रिया का कर्त्ता 'त्वम्' है । **कलहंसलक्षणम्**=जो हंस के सदृश श्वेत हो अथवा सुन्दर हंसों के चित्रों से युक्त । कलहंस एक विशेष प्रकार के हंस का नाम है—"कादम्बः कलहंसः स्यात्"—इत्यमरः । **वधूदुकूलम्**=नववधू का रेशमी वस्त्र, नव विवाहिता बहू का क्षौम वस्त्र । **वधू**=नव विवाहिता । दुकूल =रेशमी वस्त्र, "क्षौमं दुकूलम्" इत्यमरः । **शोणितबिन्दुवर्षि**=रक्त (खून) की बूंदें टपक रही हैं जिनमें से, रक्त की बूंदों को बरसाता हुआ । यह 'गजाजिनम्" का विशेषण है । **गजाजिनम्**=हाथी की खाल । **अजिनं**=चर्म—अजिनं कृत्तिः चर्म' इत्यमरः । शिवजी ने गजासुर का वध करने के पश्चात् उसका आर्द्र चर्म ओढ़ लिया था । ताजा रहने के कारण उसमें से रक्त की बूंदे भी टपक रही थीं । **इति एते**=ये दोनों । **कदाचित्**=शायद, सम्भवतः, तनिक भी, किसी भी समय । **योगम्**=सङ्गति, साथ । **अर्हतः**=योग्यता को प्राप्त करते हैं क्या ? तात्पर्य यह है कि विवाह में गठबन्धन होते समय वर एवं वधू के वस्त्रों के छोरों में गाँठ बाँधी जाया करती हैं । क्या यह गाँठ शिवजी के गजचर्म ओर पार्वती के रेशमी वस्त्र में बाँधी जा सकती है ? ।।६७।।

* * *

प्रसङ्ग—तुम शिव के साथ श्मशान भूमि में किस भाँति निवास कर सकोगी—

चतुष्कपुष्पप्रकारावकीर्णयोः
परोऽपि को नाम तवाऽनुमन्यते ।
अलक्तकाङ्कानि पदानि पादयो-
र्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ।।६८।।

अन्वयः—चतुष्कपुष्पप्रकारावकीर्णयोः तव पादयोः अलक्तकाङ्कानि पदानि विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु परोऽपि को नाम अनुमन्यते ॥६८॥

संस्कृत-व्याख्या—चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः=चतुष्के गृहविशेषे यः पुष्पः प्रकरः तत्र अवकीर्णयोः न्यस्तयोः, तव=भवत्याः, पादयोः=चरणयोः, अलक्तकाङ्कानि=लाक्षारसरञ्जितानि, पदानि=पादाऽऽकारपादन्यासचिह्नानि विकीर्णकेशासु=विक्षिप्तशिरोरुहासु,, परेतभूमिषु=प्रेतभूमिषु श्मशानेषु इत्यर्थः, परोऽपि=शत्रुरपि, को नाम=कः जनः, अनुमन्यते=अनुज्ञास्यति ? न कोऽपीत्यर्थः । हे गौरि ! स्वजनकस्य प्रासादे त्वं कुसुमाच्छादितस्य प्राङ्गणस्य भूभागे सदा विचरणं करोषि, शिवश्च मृतकाणां केशैः आच्छादिते श्मशानभूभागे निवासं करोति । विवाहानन्तरं त्वमपि तत्रैव गत्वा निवसिष्यसि । श्मशानभूमौ तव संचरणं दृष्ट्वा तव शत्रुरपि त्वां एतदर्थं न अनुज्ञास्यति ॥६८॥

भाषा—चतुष्कोण आँगन (चौक) में बिखरे हुए फूलों पर रखे जाने वाले तुम्हारे पैरों के अलता चिह्नों को बनाने वाले पदचिह्नों (मृतकों के) केशों से आच्छादित श्मशान भूमि पर रखने की अनुमति कोई शत्रु भी दे सकता है क्या ? अर्थात् नहीं ।

भावार्थ—जन्म से लेकर तुम अपने पिता के घर पुष्प बिछे हुए आँगन में चलती आई हो । किन्तु शिव से विवाह हो जाने के पश्चात् इधर-उधर बिखरे हुए बालों से युक्त श्मशान भूमि पर अपने लाक्षारस-रञ्जित चरणों को रखोगी, इस वात को तुम्हारा शत्रु भी स्वीकार न कर सकेगा ।

व्याकरण—चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः=चतुर+कन्=चतुष्कम् — यहाँ "संख्यायाः संज्ञासङ्घसूभाध्ययनेषु" से केन् प्रत्यय होता है । प्रकरः=प्र+कृ+अप् । अवकीर्ण=अव+कृ+क्तः । विकीर्णकेशासु=वि+कृ+क्तः । परेतभूमिषु=परा+इ+क्तः—परेत । प्रेत=प्र+इ+क्तः ।

समास आदि—चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः=चत्वारः अवयवाः, यस्य तत् चतुष्कम्, पुष्पाणां प्रकरः पुष्पप्रकरः (षष्ठी तत्पुरुष) । चतुष्के पुष्पप्रकरः चतुष्कपुष्पप्रकरः, चतुष्कपुष्पप्रकरे अवकीर्णः चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णः तयोः । अलक्तकाङ्कानि=अलक्तकः अङ्कः येषां तानि (बहुव्रीहि) । अथवा अलक्तकस्य अङ्कः

येषु तानि । **विकीर्णकेशासु**=विकीर्णाः केशाः यासु ता तासु । **परेतभूमिषु**=परं लोक इतः गतः इति परेतः परेतानां भूमिषु परेतभूमिषु (षष्ठी तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ— **चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः**=चौकोर आँगन (चौक) में बिखेरे गये हुये पुष्पों के ऊपर रखे जाने वाले । **चतुष्कम्**=चौकोर आँगन (चौक) । प्रकरः=समूह । **अवकीर्ण**=रखे हुए । यह पादयोः का विशेषण है । **पादयोः**= चरणों के । **अलक्तकाङ्कानि**=लाक्षारस, अलता अथवा महावर लगे हुए । **अलक्तक**=महावर, अलता । **अङ्कः**=चिह्न "कलङ्काङ्को लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्" इत्यमरः । यह 'पदानि' का विशेषण है । **पदानि**=चरणों के चिह्न पदचिह्न । **परः**=शत्रु "अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः" इत्यमरः । **अपि**=भी । **कः**=कौन । **नाम**=यह शब्द यहाँ पर निन्दा अथवा कुत्सा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, "प्राकाश्य संभाव्य क्रोधोपगम् कुत्सनेषु च नाम" । **विकीर्णकेशासु**=बिखरे (फैले) हुए हैं (बाल) जिस पर । **विकीर्ण**=बिखरे हुए । **केश**=शिव के बाल । यह 'परेतभूमिषु' का विशेषण है । **परेतभूमिषु**=श्मशान की भूमियों अथवा भूमिभागों में । **कः**=कौन । **जनुमन्यते**=अनुमति अथवा आज्ञ देगा ॥६८॥

◆

प्रसङ्ग—पतिगृह में प्रवेश करने के अनन्तर उस शिव के शरीर के साथ तुम्हारा स्पर्श भी अनुचित ही होगा—

अयुक्तरूपं किमतः परं वद
त्रिनेत्रवक्षः सुलभं तवाऽपि यत् ।
स्तनद्वयेऽस्मिन् हरिचन्दनास्पदे
पदं चिताभस्मरजः करिष्यति ॥६९॥

अन्वयः—त्रिनेत्रवक्षः तव सुलभं अपि, अतः परं अयुक्तरूपं किम्, वद । यत् हरिचन्दनास्पदे अस्मिन् स्तनद्वये चिताभस्मरजः पदं करिष्यति ॥६९॥

संस्कृत-व्याख्या—त्रिनेत्रवक्षः=शङ्करोरःस्थलं, शिवालिङ्गनमित्यर्थः, तव= भवत्याः, सुलभं अपि=सुप्रापं च भवतीतिशेषः अतः=अस्मात्, परं= अन्यत्, अयुक्तरूपम्=अत्ययुक्तं, किम् ? वद=कथय । न किंचिदित्यर्थः । यत्

=यस्मात् कारणात्, हरिचन्दनास्पदे = हरिचन्दनस्थानभूते, अस्मिन् =एतस्मिन्, स्तनद्वये = कुचद्वये, चिताभस्मरजः = श्मशानभस्मधूलिः, पदं = स्थानं, करिष्यति । हे पार्वति ! शङ्करः स्वशरीरे चिताभस्म लिम्पति त्वं च हरिचन्दनम् । एवं सः शिवः यदा तवालिङ्गनं करिष्यति तदा तव कुचद्वयं चिताभस्मना लिप्तं भविष्यति, एतत्तु अतीवानुचितमेव। अतएव त्वया तस्य प्राप्तेः इच्छा न करणीया ।

भाषा—**शिवजी का आलिङ्गन तुम को सुलभ न हो, इससे बढ़कर और अनुचित बात क्या हो सकती है, क्योंकि हरिचन्दन का लेप करने योग्य (तुम्हारे) दोनों स्तनों पर चिता की राख स्थान लेगी ।**

भावार्थ—हे पार्वति ! शिव अपने शरीर में सदैव चिता की भस्म लगाये रहते हैं तथा तुम्हारा वक्षस्थल हरिचन्दन के लेप से युक्त रहा करता है । ऐसी स्थिति में जब शिव तुम्हारा आलिङ्गन करेंगे तब तुम्हारे दोनों स्तन चिता की धूलि से लिप्त हो जावेंगे—यह अत्यन्त अनुचित होगा । चन्दन का लेप करने योग्य आपके दोनों स्तन चिताभस्म का लेप करने योग्य नहीं है ।

व्याकरण—**सुलभम्**=सु+लभ्+खल् (कर्मणि)। यहाँ 'खल्' प्रत्यय होने के कारण "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" से निषेध होने के कारण 'तव' में "कृदयोगा कर्तरि षष्ठी" से षष्ठी विभक्ति न होकर 'शेषे' से षष्ठी विभक्ति होती है । **अतः परम्**=इदम् ङसि पञ्चमी+तसि (स्वार्थे)। यहाँ 'अतः' 'परम्' के योग के कारण पञ्चमी हुई है। **अयुक्तरूपम्**=अयुक्त+रूपम् । यहाँ "प्रशंसायां रूपम्", से 'रूपम्' प्रत्यय होता है । **द्वये**=द्वि+तय—यहाँ तय के स्थान पर 'अयच्' हो जाता है । **करिष्यति**=कृ+लृट+प्रथम पुरुष एकवचन ।

समास आदि—**त्रिनेत्रवक्षः**=त्रीणिनेत्राणि यस्य सः (बहुव्रीहि), त्रिनेत्रस्य वक्षः त्रिनेत्रवक्षः । **सुलभम्**=सुखेनलब्धुं शक्यम् इति सुलभम् । **अयुक्तरूपम्**=न युक्तं अयुक्तं, अतिशयेन अयुक्तं इति अयुक्तरूपम् । **हरिचन्दनास्पदे**-हरेः चन्दनम् हरिचन्दनम् (षष्ठी तत्पुरुष), हरिचन्दनस्य आस्पदं हरिचन्दनास्पदम् तस्मिन् । **स्तनद्वये**=स्तनयोः द्वयं स्तनद्वयं तस्मिन् । **चिताभस्मरजः**= चितायाः

भस्म चिताभस्म एव रजः चिताभस्मरजः (कर्मधारय) अथवा=चिताभस्म रूपं रजः (शाकपार्थिवादि तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**त्रिनेत्रवक्षः**=शिव जी का आलिङ्गन—यहाँ लक्षणा शक्ति के द्वारा वक्षम् शब्द का अर्थ 'आलिङ्गन' हो जाता है। **त्रिनेत्र**=शिव। **तव**=तुमको। **सुलभम् अपि**=सुख पूर्वक अथवा सरलतापूर्वक प्राप्त ही जाय। **अतः परम्**=इससे अधिक अर्थात् शिव के आलिङ्गन की प्राप्ति से बढ़कर। **अयुक्तरूपम् किम्**=अत्यन्त अनुचित और क्या हो सकता है। अर्थात् इससे बढ़कर अनुचित और कुछ भी नहीं है। **यत्**=क्योंकि। **हरिचन्दनास्पदे**=हरिचन्दन लगाने योग्य स्थान। "हरिचन्दनमस्त्री स्यात् त्रिदशानां महीरुहे। नपुंसकं तु गोशीर्षेज्योत्स्नाकुंकुमयोरपि" इति मेदिनी। **स्तनद्वये**=इन दोनों स्तनों में। **चिताभस्मरजः**=चिता की राख—"भूतिर्भसितभस्मनी" इत्यमरः। **पदम्**=स्थान। यह 'करिष्यति' क्रिया का कर्म है। **करिष्यति**=करेगी, कर लेगी। कुछ विद्वानों ने 'त्रिनेत्रवक्ष सुलभम्' को एक पद मान लिया है और उसका अर्थ किया है—'त्रिनेव वक्षसि सुलभम् इति' अर्थात् जो शिव की छाती पर सरलापूर्वक प्राप्त हो सकती है। इस भाँति यह 'चिताभस्मरजः का विशेषण बन जाता है ॥६९॥

* * *

प्रसङ्ग—इसके अतिरिक्त जब शिवजी के बूढे बैल पर चढ़कर ले जाई जाओगी तब इसमें तुम्हारी ओर भी हँसी होगी—

इयं च तेऽन्या पुरतो बिडम्बना
यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया
महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥७०॥

अन्वयः—इयं च ते पुरतः अन्य विडम्बना (अस्ति) यत् ऊढया वारणराजहार्यया त्वया अधिष्ठितं वृद्धोक्षं विलोक्य महाजनः स्मेरमुखः भविष्यति ॥७०॥

संस्कृत-व्याख्या—इयं च=एषा च, ते=तव, पुरतः=आदौ एव पतिगृहप्रस्थानवेलायामित्यर्थः, अन्या=अपरा, पूर्वोक्तेभ्योऽपि विलक्षणा इत्यर्थः, विडम्बना=परिहासः, अस्ति=यत्, ऊढया=कृतविवाहया, वारणराजहार्यया

=गजराजनेतव्या, त्वया=भवत्या, अधिष्ठितं=आरूढं:, वृद्धोक्ष=वृद्धवृषभम्, विलोक्य=अवलोक्य, महाजनः=साधुजनः, स्मेरमुखः=स्मितमुखः, भविष्यति=भविता, उपहसतीतिभावः । त्वत्कृते गजराजः उपयुक्तं वाहनं अस्ति । शङ्करस्य वाहनं वृद्धः वृषभः अस्ति । अतः विवाहानन्तरं पतिगृह-प्रस्थानवेलायां यदा त्वं तं वृषभमारुह्य प्रयाणं करिष्यसि तदा सभ्याः जनाः दृष्ट्वा हसिष्यन्ति ।

भाषा—**यह तुम्हारी सर्वप्रथम एक और हँसी होगी कि हस्तिराज पर ले जायी जाने योग्य विवाहित तुमको (शिव के) वृद्ध बैल पर चढ़ा हुआ देखकर सभ्यजन हँसेंगे ।**

भावार्थ—गजराज ही तुम्हारे लिये उपयुक्त सवारी है । शिव का वाहन तो बूढ़ा बैल है । अतः विवाह-संस्कार हो जाने के पश्चात् पतिगृह को प्रस्थान करते समय जब तुम उस बूढ़े बैल पर बैठकर गमन करोगी तो तुमको इस अवस्था में देखकर सभ्यजन तुम्हारा उपहास करेंगे । इस भाँति तुम्हारा अत्यधिक उपहास होगा ।

व्याकरण—**विडम्बना**=वि+डम्ब+णिच्+युच् (अन्)+टाप् । **ऊढया**=वह+क्त+टाप्=ऊढा । तृतीया में ऊढया । **हार्यया**=हृ+ण्यत्+टाप् । **अधिष्ठितम्**=अधि+स्था+क्त (कर्मणि) । अधि पूर्वक स्था धातु सकर्मक हो जाती है । **विलोक्य**=वि+लोक्+ल्यप् । **स्मेर**=स्मि+र—"नमिकम्पिरस्म्यजसकमहिंसदीपो रः" से 'र' प्रत्यय होता है । **भविष्यति**=भू+लृट् ।

समास आदि—**वारणराजहार्यया**=हारयितुं योग्या हार्या, वारणानां राजा वारणराजः (षष्ठी तत्पुरुष) यहाँ ("राजाहःसखीभ्यष्टच" से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ है) । वारणराजेन हार्या वारणराजहार्या तया (तृतीया तत्पुरुष) । **वृद्धोक्षम**=वृद्धश्चासौ उक्षा वृद्धोक्षः तम् (कर्मधारय)—यहाँ "अचतुर विचतुर इत्यादि सूत्र से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो जाता है । **महाजनः**=महान् चासौ जनः महाजनः (कर्मधारय) यहाँ—"आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" से महत् को महा हो जाता है । **स्मेरमुख**+स्मेरं मुखं यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**पुरतः**=सामने, आदि, मेरे पतिगृह जाने से पूर्व ही । इससे

यहाँ पर यह ध्वनि निकल रही है कि इस बात को ब्रह्मचारी द्वारा पहले ही कहा जाना चाहिये था, किन्तु वह भूल गया था। यह अव्यय है। **अन्या**=दूसरी—पहले कही गई हुई बातों की अपेक्षा विचित्र। **विडम्बना**=हास्य, मजाक, उपहास। **ऊढया**=विवाहिता। **वारणराजहार्यया**=गजराज के द्वारा ले जाने योग्य। **वारण**=हाथी—"मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारण करी" इत्यमरः। उपर्युक्त दोनों विशेषण 'त्वया' के हैं। **त्वया**=आपके द्वारा। **अधिष्ठितम्**=चढ़े हुये। यह 'वृद्धोक्षम्' का विशेषण है। **वृद्धोक्षम्**=वृद्ध बैल की। **उक्षा**=बैल—"उक्षा भद्रो बलोवर्दः इत्यमरः। यह 'विलोक्य का कर्म है। **विलोक्य**=देखकर। **महाजनः**=सभ्यजन। यह 'भविष्यति' क्रिया का कर्त्ता है। **स्मेरमुखः**=मुस्कराता हुआ है मुख जिसका कुछ हँसीयुक्त मुख वाला। यह "महाजनः" का विशेषण है। **भविष्यति**=होता। **स्मेरमुखः भविष्यति**=उपहास (मजाक) करेंगे ॥७०॥

* * *

प्रसङ्ग—शिव को प्राप्त करने की इच्छा के कारण इस समय चन्द्रमा की कला तथा तुम (दोनों ही) शोचनीय हो गई हो—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम्
समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावत-
स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥७१॥

अन्वयः—पिनाकिनः समागमप्रार्थनया सम्प्रति कलावतः सा कान्तिमती कला च अस्य लोकस्य नेत्रकौमुदी त्वं च द्वयं शोचनीयतां गतम् ॥७१॥

संस्कृत-व्याख्या—पिनाकिनः=शिवस्य, समागमप्रार्थनया=प्राप्तिकामनया, सम्प्रति=साम्प्रतं, कलावतः=चन्द्रस्यः, सा=प्रसिद्धा-प्रागेव हरशिरोगता इति अभिप्रायः, कान्तिमति=शोभाविशिष्टा, कला—षोडशोभागः, च अस्य=एतस्य लोकस्य=भवनस्य=लोकत्रयवासिनो जनस्येत्यर्थः, नेत्रकौमुदी=नयनचन्द्रिका दर्शनमात्रेण नयनाह्लादिनीत्यर्थः, त्वं च=भवती च, द्वयं=द्वितयं शोचनीययता—शोच्यत्वं, गतम्=प्राप्तम्। अमाङ्गलिकस्य तस्य शिवस्य संसर्गं प्राप्य

शुभ वस्तु अपि शोचनीयताम् प्राप्नोति। शिवशिरोगता चन्द्रमसः प्रसिद्धकला तत्समागमात् प्रागेव शोच्या जाता, इदानीं च तत्कामनया त्वमपि शोच्या स्याः। अतः तत्प्राप्तिकामनां त्यजेतिभावः।

भाषा—शिव को प्राप्त करने की इच्छा से इस समय चन्द्रमा की वह प्रसिद्ध कान्तियुक्त कला तथा इस लोक के नेत्रों की चाँदनी सदृश तुम—ये दोनों ही शोचनीयता को प्राप्त हो गई हैं।

भावार्थ—हे पार्वती! शिव-प्राप्ति सम्बन्धी तुम्हारी इच्छा पूर्णतया अनुचित ही प्रतीत होती है, क्योंकि अमाङ्गलिक उस शिव के संसर्ग को प्राप्त करके शुभ वस्तु भी शोचनीय हो जाती है। महादेव जी के सिर में विद्यमान चन्द्रमा की वह प्रसिद्ध कला तो उनके संसर्ग से पहले ही शोचनीयता को प्राप्त हो चुकी है और इस समय इसकी प्राप्ति की इच्छा से लोक को आनन्द प्रदान करने वाली तुम भी शोचनीयता को प्राप्त कर लोगी। निकृष्ट उस शिव को प्राप्त करने की लालसा को तुम्हें त्याग देना चाहिये।

व्याकरण—पिनाकिनः=पिनाक+इनि (मत्वर्थे) पिनाकिना—षष्ठी में—पिनाकिनः। **समागमप्रार्थनया** सम्+आ+ग्+अप् (भावे)—समागम्। **प्रार्थना**=प्र+अर्थ+णिच्+युच्+टाप्। **द्वयम्**=द्वि=अयच्। **शोचनीयताम्**=शुच्+णिच्+अनीयर् (कर्मणि)—शोचनीय। **कलावतः**=कला+वतुप्—कलावत्—षष्ठी में—कलावतः। **कान्तिमती**=कान्टि+मतुप्+ङीप्।

समास आदि—पिनाकिनः=पिनाकं अस्यातीति पिनाकी तस्य पिनाकिनः। **समागमप्रार्थनया**=समागमस्य प्रार्थना—समागमप्रार्थना तया। **द्वयम्**=द्वौ अवयवौ यस्य तत्। **शोचनीयताम्**=शोचनीयस्य भाव शोचनीयता ताम्। **कलावतः**=कला अस्ति अस्य इति कलावत् तस्य। **कान्तिमती**=कान्ति अस्याः अस्ति इति। **नेत्रकौमुदी**=नेत्रयोः नेत्रकौमुदी (षष्ठी तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—पिनाकिनः=पिनाकधारी शिव की। इसका सम्बन्ध 'समागमप्रार्थनया' के समागम से है। "सापेक्षेत्वेऽपि गमकत्वात्समासः।" **समागम प्रार्थनया**=प्राप्त करने की अभिलाषा से, साथ रहने की इच्छा से। समागम—प्राप्त करना, साथ रहना। **द्वयम्**=दोनों—यह 'गतम्' का कर्त्ता है। **शोचनीयताम्**=शोचनीय दशा सोच करने की अवस्था को। यह 'गतम्' का कर्म

है। **गतम्**=प्राप्त हो गये हैं। **सा**=वह, प्रसिद्ध—अर्थात् शंकर जी के सिर अथवा मस्तक को जिसने पहले ही प्राप्त कर लिया है। यह 'कला' का विशेषण है। **कलावतः**=चन्द्रमा की। **कान्तिमति**=कान्ति से युक्त चमकने वाली। यह 'कला' तथा 'त्वम्' दोनों का विशेषण है। "शोभाकान्तिर्द्युतिश्छविः" इत्यमरः। **कला**=सोलहवां भाग—"कला तु षोडषोभागः" इत्यमरः। **अस्य**=इसकी। **लोकस्य**=संसार की। **नेत्रकौमुदी**=लोगों की आँखों को कौमुदी (चन्द्रचन्द्रिका) के सदृश आनन्द प्रदान करने वाली। **कौमुदी**=चादनी "चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्सना" इत्यमरः। चन्द्रमा की चाँदनी के सदृश प्रिय लगने वाली अन्य वस्तुओं के लिये भी 'कौमुदी' शब्द प्रयुक्त होता है ॥७१॥

◆

प्रसङ्ग—वर में जिन बातों की खोज की जाया करती है, क्या उनमें से एक भी शिव में हैं—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता
दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि! मृग्यते
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥७२॥

अन्वयः—वपुः विरूपाक्षम्, अलक्ष्यजन्मता, वसु दिगम्बरत्वेन निवेदितम्। हे बालमृगाक्षि? वरेषु यत् मृग्यते तत् त्रिलोचने व्यस्तं अपि अस्ति किम् ॥७२॥

संस्कृत-व्याख्या—वपुः=शरीरं, विरूपाक्षम्=विरूपाणि विकृतरूपा अक्षीणि नेत्राणि यस्य तत्, अलक्ष्यजन्मता=अज्ञातजननत्वं, कुलमपि न ज्ञाय इत्यर्थः, वसु=धनं, दिगम्बरत्वेन=नग्नत्वेन, निवेदितम्=सूचितम्, नास्तीति ज्ञापितमित्यर्थः। हे बालमृगाक्षि!=बालहरिणाक्षि पार्वति!, वरेषु=वोढृषु, यत्=रूपवित्तादिकं, मृग्यते=अन्विष्यते, तत्, त्रिलोचने=हरे, व्यस्तमपि=एकमपि, अस्ति किम्=विद्यते किम्=नास्ति एव इत्यर्थः। विवाहात् प्राक् वधूभिः तद्बन्धुभिश्च वरेषु कुलं, धनं, सौन्दर्यं, विद्यां च इति चत्वारि वस्तूनि

अन्विष्यन्ते। किन्तु त्वदभीष्टे वरे शिवे एतेषु एकमपि न दृश्यते। यतो हि तस्य त्रिनेत्रयुक्तं शरीरं सौन्दर्यविहीनमेवास्ति, कस्मिन् कुले स जन्म लब्धवान्? इत्यपि केनापि न ज्ञायते। स कियान् धनवानस्ति? इति तस्य नग्नतामेव दृष्ट्वा सर्वे ज्ञातुं शक्नुवन्ति। धनीपुरुष कदापि नग्नः न निवसति। अतः शिवः त्वदनुरूपो वरः नास्ति, इति भावः।

भाषा—(इस शिव का) शरीर विकृत अथवा विषम (तीन आँखों वाला) त्रों से युक्त है, उसके जन्म के बारे में कुछ भी पता नहीं, उनका नग्न रहना ही उनके धन के बारे में सूचित करता है, हे बालहरिण के नेत्रों के समान नेत्रों वाली पार्वती! वर के विषय में जिन बातों की खोज की जाया करती है क्या उनमें से एक भी (शिव में) है।

भावार्थ—हे पार्वति! विवाह से पूर्व वधू की ओर से उसके पिता, भाई आदि वर के कुल, सौन्दर्य, धन तथा उसकी विद्या के बारे में खोज किया करते हैं किन्तु आपके अभीष्ट वर में तो इनमें से एक भी दृष्टिगोचर नहीं होता है, क्योंकि तीन नेत्रों से युक्त उसका असुन्दर शरीर है, उनकी उत्पत्ति किस कुल में हुई है, इस बात को कोई नहीं जानता है। उनके धनवान् न होने का स्पष्ट प्रमाण उनका नग्न रहना ही है। धनवान् पुरुष कभी भी नग्न नहीं रहा करता है। अतः वह किसी भी दशा में तुम्हारे योग्य वर नहीं है।

व्याकरण - विरूपाक्षम् = विरूप + अक्षि + षच्। अलक्ष्यजन्मता = लक्ष्य + णिच् + यत्। जन्मता = जन्म + तल्। निवेदितम् = नि + विद् + णिच् + क्त। बालमृगाक्षि = बालमृग + अक्षि + षच् + ङीप्। वरेषु = वृ + अप। सप्तमी में। मृग्यते = मृग + णिच् (चुरादि) + लट्। व्यस्तम् = वि + अस् (क्षेपे = दिवादि) क्त (कर्मणि)।

समास आदि—विरूपाक्षम् = विषमं रूपं यस्य अथवा विगतं रूपं यस्य तत् विरूपम्—विरूपं अक्षि यस्य यस्मिन् वा (बहुव्रीहि) तत्। अथवा = विकृतं रूपं येषां तानि विरूपाणि तानि अक्षीणि यस्त तत् विरूपाक्षम्। अलक्ष्यजन्मता = लक्षितुं योग्य लक्ष्यम् न लक्ष्यं अलक्ष्यम् अलक्ष्यं जन्म यस्य सः अलक्ष्यजन्मा = तस्यभावः अलक्ष्यजन्मता (यहाँ भाव में तल् प्रत्यय होता

है ।) **दिगम्बरत्वेन**=दिगेव अम्बरं यस्य: स: (बहुव्रीहि) दिगम्बर: तस्य भाव: दिगम्बरत्वं तेन दिगम्बरत्वेन । **बालमृगाक्षि**=बालश्चासौ मृग: बालमृग: (कर्मधारय) तस्य अक्षिणी इव अक्षिणी यस्या: सा बालमृगाक्षी तत्सम्बद्धौ हे बालमृगाक्षि ! अथवा बालमृगस्य अक्षि बालमृगाक्षि (षष्ठी तत्पुरुष), बालमृगाक्षि इव अक्षि यस्या: सा बालमृगाक्षी तत्सम्बोधने । हे बालमृगाक्षि ! —यहाँ "सप्तम्युपमानपूर्वस्य उत्तरपदलोपश्च वक्तव्य" से बहुव्रीहि समास और उत्तर पद का लोप होने के पश्चात् समासान्त षच् प्रत्यय तथा स्त्रीत्व विवक्षा 'ङीष्' प्रत्यय होता है । **वरेषु**=व्रियन्ते इति वरा: तेषु । **त्रिलोचन:**=त्रीणि लोचनानि यस्य स: त्रिलोचन: (बहुव्रीहि) तस्मिन् त्रिलोचने ।

टिप्पणियाँ—**वपु:**=शरीर । **विरूपाक्षम्**=विषम अथवा विकृत आँखों वाले । शिव के तीन नेत्र हैं इसी कारण उनको विरूपाक्ष कहा गया है । समास होने के अनन्तर यहाँ पर 'बहुव्रीहि सक्थ्यक्ष्णो: स्वाङ्गात्षच्' सूत्र से समासान्त षच् प्रत्यय होता है । षच् प्रत्यय होने से अक्षि को अक्ष हो गया है । **अलक्ष्यजन्मता**=जन्म का पता न होना । **लक्ष्यम्**=जानने योग्य । शिव के जन्म अथवा कुल का कुछ पता नहीं है । **वसु**=धन । "रत्ने धने वसु" इत्यमर: । **दिगम्बरत्वेन**=नग्नता के द्वारा । **अम्बर**=वस्त्र । अम्बर का अर्थ आकाश भी होता है । "अम्बरं व्योमवस्त्रयो:" इत्यमर: । **दिगम्बर:**=नग्न, वस्त्र न पहिनने वाला । **निवेदितम्**=सूचित कर दिया है । उनका नग्न रहना ही उनके धनहीन होने का सूचक है । हे **बालमृगाक्षि**=हिरण के बच्चे की आँखों के सदृश आँखों वाली—"मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाऽजिनयोनय:" इत्यमर: । **वरेष**=वनों में । **यत्**=जो (गुण) । विवाह प्रकरण में वर के विचार के बारे आता है—

कन्या कामयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम् ।
बान्धवा: कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जना: ॥

मृग्यते=खोजा जाता है । इसका कर्म 'मत्' है । **तत्**=वह—रूप, धन इत्यादि । **त्रिलोचने**=तीन नेत्र वाले (शिव) में । **व्यस्तमपि**=एक भी । अलक्ष्यजन्मता के स्थान पर 'अलक्षिताजनि:' पाठ भी उपलब्ध होता है । अर्थ होगा, **अलक्षित:**=नहीं ज्ञात है, **जनि:**=उत्पत्ति जिसकी ॥७२॥

* * *

प्रसङ्ग—अब ब्रह्मचारी कहने योग्य बात को कहकर अपना कथन समाप्त करता है—

निवर्तयास्मादसदीप्सितात्मनः
क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा ।
अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी
श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ॥७३॥

अन्वयः—(हे पार्वती !) अस्मात् असदीप्सितात् मनः निवर्तय, तद्विधः क्व ? पुण्यलक्षणा त्वं च क्व ? साधुजनेन श्मशानशूलस्य वैदिकी यूपसत्क्रिया न अपेक्ष्यते ॥७३॥

संस्कृत-व्याख्या—हे पार्वति ! अस्मात्=एतस्मात्, असदीप्सितात्= अनिष्टमनोरथात्, मनः=चित्तं, निवर्तय=निवारय। तद्विधः=तादृशः, हरः= पूर्वोक्त सकलदोषाधिष्ठानभूतं इत्यर्थः, क्व=कुत्र ? पुण्यलक्षणा प्रशस्तभाग्य-चिन्हा त्वं=भवति क्व=कुत्र ? साधुजनेन=सज्जनेन, श्मशानशूलस्य=श्मशानभूमिनिखातस्य, वैदिकी=वेदोक्ता, यूपसत्क्रिया=यूपसंस्कारः न अपेक्ष्यते =न इष्यते। एवं शिवः पूर्वोक्तैः सम्पूर्णैः दोषैः पूर्णः अस्ति, त्वं च सौभाग्यप्रदैः सम्पूर्णलक्षणैः परिपूर्णा असि । अतः त्वं शिवप्राप्तिरूपात् अनिष्टमनोरथात् स्वचित्तं निवारय। यथा वैदिकत्वादलौकिकी यूपसत्क्रिया विशिष्टयज्ञोपयोग-योग्ययूपयोगया, न वध्यापरोपणशूलयोग्या तथैव त्वमपि विशिष्ट पुरुषयोग्या एव, न श्मशानाश्रयहरयोग्या इतिभावः।

भाषा—हे पार्वती ! तुम इस बुरे विचार से अपने को रोको। इस प्रकार का कहां वह (शिव) और सौभाग्ययुक्त लक्षणों वाली कहां तुम ? सज्जन व्यक्ति श्मशान के खूँटे का वेदों में वर्णित यज्ञ-स्तम्भ सम्बन्धी सत्कार नहीं करते।

भावार्थ—हे पार्वति ! शिव आपके अनुरूप वर नहीं है। आप में तथा उसमें महान अन्तर है। तुम सौभाग्यशाली सम्पूर्ण लक्षणों से परिपूर्ण हो और वह पूर्वोक्त सम्पूर्ण दोषों से परिपूर्ण है। इसलिये तुम शिव-प्राप्ति रूप अनिष्ट

मनोरथ से अपने मन को हटा लो। जैसे वेदों में वर्णित यज्ञ-स्तम्भ के समान ही श्मशान में स्थित खूँटे (स्तम्भ) का सत्कार नहीं किया जा सकता है अथवा वह श्मशानस्थित खूँटा यज्ञस्तम्भ का कार्य करने के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है, उसी भाँति सर्वगुणसंपन्न कुलीन व्यक्ति ही तुम्हारा वर होने योग्य है, श्मशान में निवास करने वाला शिव नहीं।

व्याकरण—**असदीप्सितात्** = आप् + सन् + क्त—ईप्सित। **निवर्त्तय** = निः + वृत् + णिच् + लोट्। **वैदकी** = वेद + ठञ् + ङीप्। **अपेक्ष्यते** = अप + ईक्ष् + लट्।

समास आदि—**असदीप्सिताद्** = न सत् असत्। असत् च तत् ईप्सितं असदीप्सितम् (कर्मधारय) तस्मात्। **तद्विधः** = तस्य विधा तद्विधा, तद्विधा इव विधा यस्य सः = यहाँ "सप्तम्युपमानपूर्वस्य उत्तरपदलोपश्चवक्तव्यः" वार्त्तिक से बहुव्रीहि समास हुआ है। **पुण्यलक्षणा** = पुण्यं लक्षणं यस्याः सा (बहुव्रीहि) अथवा पुण्यानि लक्षणानि यस्याः सा पुण्यलक्षणा। **साधुजनेन** = साधुश्चासौजनः साधुजनः (कर्मधारय) तेन। **श्मशानशूलस्य** = श्मशानस्य अथवा श्मशाने श्मशानस्थं वा शूलं—श्मशानशूलम् (षष्ठी तत्पुरुष अथवा शाकपार्थिवादि तत्पुरुष समास) तस्य। **वैदकी** = वेदेभवा इति वैदिकी। **यूपसत्क्रिया** = यूपस्य सत्क्रिया अथवा यूपोचिता सत्क्रिया यूपसत्क्रिया।

टिप्पणियाँ—**असदीप्सितात्** = अनिष्ट मनोरथ से, बुरे विचार से (शिव-प्राप्तिविषयक असद् विचार से) **असत्** = बुरा। **ईप्सित** = इच्छा। "वारणार्थानामीप्सितः"—सूत्र से यहाँ अपादान में पञ्चमी विभक्ति हुई है। **निवर्त्तय** = रोको, लौटाओ। इसका कर्म मनः' है। **तद्विधः** = उस प्रकार का अर्थात् जैसा उपर्युक्त श्लोकों में वर्णन किया गया है (जो समस्त दोषों का आश्रय है)। **तद्विधः क्व** = वैसा कहाँ? क्या अव्यय यहाँ पर एक महान् अन्तर का द्योतक है अर्थात् शिव तथा पार्वती के रूपादि में महान् अन्तर है। **पुण्यलक्षणा** = अच्छे लक्षणों से युक्त। यह 'त्वम्' का विशेषण है। ऊपर की दोनों पंक्तियों में जो कहा गया है उसी का समर्थन नीचे की दोनों पंक्तियों द्वारा किया गया है। **साधुजनेन** = सज्जनों के द्वारा, सज्जन पुरुषों के द्वारा। **श्मशानशूलस्य** = श्मशान में गड़े हुये खूंटे की "श्मशानं स्यात् पितृवनम्" इत्यमरः। **शूलशङ्कु** =

खूंटा। **वैदिकी**=वेदोक्त, वेदों में कही गई हुई विधि के अनुसार। यह "यूपसत्क्रिया" का विशेषण है। **यूपसत्क्रिया**=यज्ञस्तम्भ सम्बन्धी संस्कार। **यूप**=यज्ञ का खम्भा जिसमें यज्ञ में बलि दिया जाने वाला पशु बाँधा जाया करता है। **सत्क्रिया**=प्रोक्षण तथा अभ्युक्षण आदि संस्कार। **न अपेक्ष्यते**=नहीं अपेक्षित होता है, आवश्यकता नहीं है। श्मशान का शूल (खूंटा) अशुभ कार्य के लिये होता है। किन्तु यूप (यज्ञस्तम्भ) शुभ कार्य के लिये ही प्रयुक्त होता है। इसी कारण यूप (यज्ञस्तम्भ) का वैदिक रीति से संस्कार होता है किन्तु श्मशान के खूंटे का नहीं। जैसे श्मशानशूल का वैदिक रीति से संस्कार किया जाना सम्भव नहीं है उसी भाँति श्मशान में विचरण करने वाले शिव के साथ विवाह करने की तुम्हारी उत्कट अभिलाषा को उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। इस श्लोक में वर्णित 'यूपसत्क्रिया' पार्वती का प्रतीक है तथा श्मशानशूल शिव का। अत: ब्रह्मचारी का यह कथन कि पार्वती के लिये उनका अभिलषित वर शिव सर्वथा अनुपयुक्त तथा त्याज्य है, ठीक ही है ।।७३।।

प्रसङ्ग—ब्रह्मचारी के इस अनर्गल प्रलाप को सुनकर पार्वती ने क्रोधपूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखा—

इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि
प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया।
विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया
विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ।।७४।।

अन्वय:—इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि (सति) प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया तया उपान्तलोहिते विलोचने विकुञ्चितभ्रूलतम् तिर्यग् आहिते ।।७४।।

संस्कृत-व्याख्या:—इति=इत्थं, द्विजातौ=द्विजे, प्रतिकूलवादिनि सति=अप्रियभाषिणि सति, प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया=प्रवेपमानेन चञ्चलेन अधरोष्ठेन लक्ष्य: अनुमेय: कोप: क्रोध: यस्यास्तथोक्तया, तया=पार्वत्या, उपान्तलोहिते—प्रान्तरक्ते, विलोचने=नेत्रे, विकुञ्दितभ्रूलतम्=कुटिलतभ्रूलतम् यथा तथा=सभ्रूभङ्गमित्यर्थ:, तिर्यक्=साचि, आहिते=निहिते। इत्थं

शिवनिन्दां आकर्ण्य पार्वती नितरां क्रुद्धा संजाता। तस्याः अधरोष्ठः क्रोधेन कम्पितुं प्रारभत। क्रोधवशादपाङ्गरक्ते निजनयने तन्मुखादनादरेण निर्वर्त्य सभ्रूभङ्गं यथा स्यात्तथा सा तिर्यगपश्यत् इति भावः।

भाषा—इस भाँति उस ब्रह्मचारी के (पार्वती को इच्छा के) विरुद्ध बोलने पर निचले ओष्ठ के फड़कने से जिसका क्रोध प्रकट हो रहा था। ऐसी उस पार्वती के कोनों की ओर लाल नेत्रों से भौंहों को टेढ़ा करके उस पर तिरछी दृष्टि डाली।

भावार्थ—ब्रह्मचारी द्वारा की गई शिव की निन्दा को सुनकर पार्वती अत्यधिक क्रोधित हो गईं तथा उनके ओष्ठ कम्पन करने लगे। उनकी आँखें लाल हो गईं और उन्होंने भौंहें तानकर उस ब्रह्मचारी की ओर आँखें तरेर कर देखा।

व्याकरण—**प्रतिकूलवादिनि**=प्रतिकूल+वद्+णिनि। **प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया**=प्र+वेप्+शानच्—प्रवेपमान। **लक्ष्य**=लक्ष+णिच्+यत्। **कोप**=कुप्+घञ्। **विकुञ्चितभ्रूलतम्**=वि+कुञ्च्+क्त (कर्मणि)—विकुञ्चित्। **तिर्यग्**=तिरस्+अञ्च्+क्विन्। **आहिते**=आ+धा+क्त।

समास आदि—**द्विजातौ**=द्वे जाती यस्य सः द्विजातिः तस्मिन्। यहाँ पर "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" से भाव में सप्तमी होती है। प्रतिकूलवादिनि कूलं प्रतिगतं प्रतिकूलम्। प्रतिकूलं वदतीति प्रतिकूलवादि तस्मिन्। **प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया**=प्रवेपमानश्चासौ अधरः (कर्मधारय) प्रवेपमानाधरः तेन लक्ष्यः प्रवेपमानाधरलक्ष्यः, तादृशः कोपः यस्याः सा (बहुव्रीहि) तया। **उपान्तलोहिते**=अन्तस्य समीपं उपान्तम् उपान्तयो. लोहिते (सुप्सुपा) भ्रूपान्तलोहिते। **विकुञ्चितभ्रूलतम्**=भ्रुवोलते इव भ्रूलते (उपमित तत्पुरुष) विकुञ्चिभ्रूलता यस्मिन् कर्मणि तत् विकुञ्चिभ्रूलतम्। **तिर्यग्**=तिरः वक्रं अञ्चति उञ्चति इति तिर्यग्।

टिप्पणियाँ—**द्विजातौ**=ब्राह्मण के, ब्रह्मचारी के। **प्रतिकूलवादिनि**=इच्छा के विपरीत कहने पर। कूल=तट, किनारा। **प्रतिकूल**=कूल के विपरीत अर्थात् इच्छा के विरुद्ध। अनेक दोषों से युक्त होने पर भी शिव पार्वती को

अनन्य रूप से अभीष्ट थे। अतः शिव की निन्दा सुनने को वे किसी भी दशा में उद्यत न थीं। अतः ब्रह्मचारी पार्वती की इच्छा के विरुद्ध कथन कर रहा था। **प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया** — कम्पन करते हुये नीचे के ओष्ठ से जिसके क्रोध की कल्पना की जा सकती थी ऐसी। **प्रवेपमान**=कम्पमान। **अधर**= नीचे का ओष्ठ। **लक्ष्य**=अनुमान करने योग्य, देखे जाने योग्य। **कोप**=क्रोध। यह 'तया' का विशेषण है। अत्यधिक क्रोध में मनुष्य के ओष्ठ कम्पन करने लगा करते हैं। पार्वती शिव की निन्दा नहीं सुन सकती थीं। किन्तु ब्रह्मचारी बराबर उनकी निन्दा करने में ही संलग्न था। अतः पार्वती का क्रोध बराबर बढ़ता ही चला गया। परिणाम यह हुआ कि जब उन्होंने कुछ कहना चाहा तब उनके ओष्ठ कम्पन करने लगे। **उपान्तलोहिते** = कोने लाल हैं जिनके ऐसे नेत्र। यह 'विलोचने' का विशेषण है। लोहित=लाल। **विकुञ्चितभ्रूलतम्** = भौंहों को टेढ़ा कर, भौंहों को कुछ सिकोड़ती हुई। **विकुञ्चित**=टेढ़ा किया है। यह 'आहिते क्रिया का विशेषण होने के कारण क्रिया विशेषण है। तिर्यग्= तिरछी, टेढ़ी। **आहिते**=दृष्टि डाली, दृष्टिपात किया। इनका कर्म "विलोचने" है ॥७४॥

* * *

प्रसङ्ग—पार्वती उस ब्रह्मचारी से बोलीं—

उवाच चैनं परमार्थतो हरम्
न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकम्
द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ७५॥

अन्वयः—(पार्वती) एनं उवाच च (त्वम्) परमार्थतः हरं नूनं न वेत्सि। अतः माम् एव आत्थ। मन्दाः अलोकसामान्यं अचिन्त्यहेतुकं महात्मना चरितं द्विषन्ति ॥७५॥

संस्कृत-व्याख्या—पार्वती, एनं=ब्रह्मचारिणां, उवाच च=अब्रवीत् च, त्वम्, परमार्थतः=यथार्थतः, हरं=शिवं, नूनं=निश्चयेन, न वेत्सि=न जानासि। यतः=यस्माद्धेतोः, मां=पार्वतीं, एवं=इत्थं, आत्थ=ब्रवीषि।

मन्दाः = मूढाः, अलोकसामान्य = असाधारणम्, अचिन्त्यहेतुकं = दुर्बोधिकारणकम्, महात्मनाम् = महानुभावानां, चरितं = चरित्र द्विषन्ति = दूषयन्ति । हे ब्रह्मचारिन् । यथार्थः त्वं शिवं न जानासि, अतएव मामुक्तरीत्या तत्स्वरूपं कथयसि । मूढाः महापुरुषाणां असाधारणं चरित्रं तत्वतः न विदन्ति, आशक्ताः तत्पदं गन्तं, "ततो निन्दां प्रकुर्वते" इति न्यायेन न तं निन्दन्तीतिभावः ।

भाषा—**(पार्वती) उस (ब्रह्मचारी) से बोली—वस्तुतः (तुम) शिव को नहीं जानते हो, इसलिये मुझसे इस प्रकार कहते हो । मूर्ख पुरुष दुर्बोध कारण वाले महापुरुषों के असाधारण चरित्र से द्वेष किया करते हैं ।**

भावार्थ—अपने क्रोध को प्रकट करती हुई पार्वती ब्रह्मचारी से बोली—हे ब्रह्मचारिन् ! तुम यथार्थ रूप में शिव को नहीं जानते हो इसी कारण उनके चरित्र की निन्दा करते हो । संसार में प्रायः यह देखा जाता है कि तुम्हारे सदृश मूर्ख पुरुष महापुरुषों के असाधारण चरित्र को सच्चे रूप में नहीं जान पाते हैं और इसलिये वे उनकी निन्दा किया करते हैं ।

अलङ्कार—उपर्युक्त श्लोक में प्रथम दो पंक्तियों में वर्णित विशेष का (तुम शङ्कर को यथार्थतः, नहीं जानते हो) समर्थन एक सामान्य बात (मूर्ख पुरुष महापुरुषों के असाधारण चरित्र को नहीं समझ पाते हैं । इसीलिये वे उनकी निन्दा किया करते हैं ।) के द्वारा किया गया है—अतः यहां पर अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

व्याकरण—परमार्थतः = परमार्थ + टा + तसि (स्वार्थ) । **आत्थ** = ब्रू + लट् (सि) यहाँ "ब्रुवः पञ्चानामादितः आहो ब्रुवः" सूत्र से ब्रु धातु के लट् लकार के प्रथम पाँच (प्रथमपुरुष के तीनों तथा मध्यम पुरुष के एकवचन और द्विवचन के रूपों में) रूपों का निर्माण होते समय लिट् लकार की प्रथम पाँच विभक्तियाँ विकल्प से हो जाती हैं तथा ब्रू के स्थान पर 'आह' हो जाता है । इस भांति ब्रू के लट् लकार के प्रथम पाँच रूपों में ब्रवीति इत्यादि रूपों के अतिरिक्त "आह, आहतुः, आहुः । आत्थ, आहथुः" रूप भी बनते हैं । **सामान्यम्** = समान + ष्यञ् । **अचिन्त्यहेतुकम्** = चिन्त् + णिच् + यत्—चिन्त्य ।

समास आदि—परमार्थतः = परमश्चासौ अर्थः परमार्थः (कर्मधारय)

तस्मात् । **अलोकसामान्य**=समानस्यम् भावः सामान्यम् । लोकानां सामान्यम् लोकसामान्यम् (षष्ठी तत्पुरुष), न लोकसामान्यं अलोकसामान्यम् (नञ् तत्पुरुष)। **अचिन्त्यहेतुकम्**=न चिन्त्यः अचिन्त्यः (नञ् तत्पुरुष) अचिन्त्यः हेतुः कारण यस्य तत् (बहुव्रीहि) अचिन्त्यहेतुकम् (यहाँ पर "शेषाद् विभाषा" सूत्र के समास के अन्त में कप्' प्रत्यय हो जाता है। **महात्मनाम्**=महान् आत्मा येषां ते महात्मनः तेषां (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**एनम्**=ब्रह्मचारी से—"यहाँ द्वितीय टौस्वेनः" सूत्र से अन्यादेश में एतत् के स्थान पर एन आदेश हो जाया करता है। **परमार्थतः**=यथार्थ में, वास्तव में। **हरम्**=शिव को। **न वेत्सि**=नहीं जानते हो। श्लोक संख्या ६५ में ब्रह्मचारी ने कहा था कि मैं शिव को भली-भाँति जानता हूँ। (विदितो महेश्वरः)। इसी के उत्तर में पार्वती ब्रह्मचारी से कह रही हैं कि वस्तुतः तुम शिव को नहीं समझते हो। **यतः**=क्योंकि, जिससे, जिस कारण से अर्थात् यथार्थ रूप में शिव को न जानने के कारण। **माम्**=मुझ (पार्वती) को। **एवम्**=इस प्रकार। **आत्थ**=कहते हो। **मन्दाः**=मूर्ख पुरुष। **अलोकसामान्यम्**=जो साधारण पुरुषों के सदृश न हो अर्थात् असाधारण या अलौकिक। यह 'चरितम्' का विशेषण है। साधारणजन असाधारण व्यक्तियों के चरित्र को समझ पाने में सदैव असमर्थ रहा करते हैं। इसी कारण वे उनकी निन्दा भी किया करते हैं। **अचिन्त्यहेतुकम्**=जिसके कारण की कोई कल्पना नहीं कर सकता। **अचिन्त्य**=समझ में न आ सकने योग्य। पार्वती के कहने का भाव यह है कि ब्रह्मचारी यह नहीं जान सकता है कि शिवजी के नग्न रहने का क्या कारण है? तथा वे श्मशान में निवास क्यों करते हैं? इत्यादि। **महात्मनाम्**=महापुरुषों का। **द्विषन्ति**=द्वेष करते हैं ॥७५॥

* * *

प्रसङ्ग—ब्रह्मचारी द्वारा "अमङ्गलाभ्यासरतिम्" इत्यादि शिव के विषय में कहा गया था। उसी के उत्तर में वह कहती है—

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं
निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा।

जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः
किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ।।७६।।

अन्वयः—विपत्प्रतीकारपरेण भूमिसमुत्सुकेन वा मङ्गलं निषेव्यते । जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः आशोपहतात्मवृत्तिभिः एभिः किम् ? ।।७६।।

संस्कृत-व्याख्या—विपत्प्रतीकारपरेण = आपत्परिहारार्थिना, भूतिसमुत्सुकेन वा = ऐश्वर्यकामेन वा, मङ्गलं = गन्धमाल्यादिकं, निषेव्यते = सेव्यते । जगच्छरण्यस्य = लोकशरणसाधोः, निराशिषः = निरभिलाषस्य, सतः = तत्पुरुषस्य, हरस्येत्यर्थः, आशोपहतात्मवृत्तिभिः = आशया तृष्णया उपहता दूषिता आत्मवृत्तिः अन्तःकरणवृत्तिः येषां तैः एभिः = मङ्गलैः, किम् = किं प्रयोजनम् ? न किमपीत्यर्थः । अनर्थपरिहारार्थिना, महदेश्वर्यकामेन वा नरेण गन्धमाल्यादिकं मङ्गलं सेव्यते । शिवस्तु कदापि विपद्ग्रस्तः न भवति, सः तु एतावान् शक्तियुक्तः वर्तते यत् स एकाकी एव समस्तं लोकं रक्षितुं प्रभवति; ऐश्वर्यस्यापि कामना तस्य नास्ति यतोहि सः पूर्णतया निष्कामः अस्ति । अतः एभिः मङ्गलप्रदैः वस्तुभिः तस्य किमपि प्रयोजनं नास्ति यानि खलु अन्तःकरणवृत्तिं दूषयन्ति ।

भाषा—विपत्ति का परिहार करने में संलग्न अथवा ऐश्वर्य प्राप्त करने के इच्छुक लोगों के द्वारा ही माङ्गलिक पदार्थों का सेवन किया जाया करता है । लोक की रक्षा करने में समर्थ तथा निष्काम (किसी भी प्रकार की कामना से रहित) शिव के लिये आशाओं के आधार पर अन्तःकरण की वृत्ति को दूषित करने वाली इन माङ्गलिक वस्तुओं की क्या आवश्यकता है ?

भावार्थ—विपत्ति में पड़ा हुआ मनुष्य विपत्ति के निवारणार्थ तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति की कामना रखने वाला व्यक्ति मङ्गलप्रद वस्तुओं का सेवन किया करते हैं । शिव तो कभी विपत्ति से ग्रसित होता ही नहीं । वह तो इतनी अधिक शक्ति से युक्त है कि वह अकेला ही सम्पूर्ण लोकों की रक्षा करने में समर्थ है । उसे ऐश्वर्य प्राप्ति की भी अभिलाषा नहीं है, क्योंकि वह तो पूर्णतया निष्काम है । अतः इन मङ्गलप्रद वस्तुओं के प्रयोग से उसका क्या प्रयोजन ? अर्थात् ये सब उसके लिये निरर्थक ही हैं ।

व्याकरण—विपत्प्रतीकारपरेण = प्रति + कृ + घञ्—प्रतिकार अथवा

प्रतीकार—यहाँ "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" से घञ् प्रत्यय हुआ है तथा "उपसर्गस्य घञ् मनुष्ये बहुलम्" से प्रति के इकार को विकल्प करके दीर्घ होता है। अतः प्रतिकार और प्रतीकार दो रूप बनते हैं। **निषेव्यते** = नि + सेव् + य + ते। **शरणस्य** = शरण + यत्। **निराशिषः** = आ + शास् + क्विप् = आशिस्। **सतः** = अस् + शतृ—सत्। **उपहत** = उप + हत् + क्त (कर्मणि)।

समास आदि—विपत्प्रतीकारपरेण = विपदः प्रतीकारः। (षष्ठी तत्पुरुष) विपत्प्रतीकारः एव परं प्रधानं यस्य सः (बहुव्रीहि) तेन। **भूतिसमुत्सुकेन** = भूत्यां भूतौ वा समुत्सुकः भूतिसमुत्सुकः तेन। **जगच्छरण्यस्य** = शरणं साधुः शरण्यः, जगतां शरण्यः (षष्ठी तत्पुरुष) तस्य। **निराशिषः** = निर्गता आशीः यस्य सः निराशीः तस्य। अथवा निर्गता आशी; यस्मात् स निराशी तस्य। **आशोपहतात्मवृत्तिभिः** = आत्मनः वृत्तिः, आत्मवृत्तिः, आशया उपहता आशोपहता (तृतीया तत्पुरुष), आशोपहता आत्मवृत्तिः येषां (बहुव्रीहि) तैः। अथवा आशया उपहता आत्मनः वृत्तिः यैः तानि आशोपहतात्मवृत्तीनि तैः।

टिप्पणियाँ—ब्रह्मचारी द्वारा लगाये गये शिव सम्बन्धी आरोपों का उत्तर इस श्लोक से लेकर आगे पाँच श्लोकों में पार्वती द्वारा दिया जा रहा है। उक्त श्लोक में "अमङ्गलाभ्यासरतिम्" का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। **विपत्प्रतीकारपरेण** = विपत्ति को दूर करने में संलग्न। **प्रतीकार** = दूर करना, निवारण करना, परिहार करना। वह 'निषेव्यते' का अनुक्त कर्त्ता है। **भूतिसमुत्सुकेन** = ऐश्वर्य पाने के लिये उत्सुक। **भूति** = ऐश्वर्य "भूतिर्भस्मनि सम्पदि" इत्यमरः। **मङ्गलम्** = कल्याणकारी पदार्थ। **निषेव्यते** = केवल की जाती हैं। "मङ्गलम्" इस क्रिया का कर्म है। **जगच्छरणस्य** = जिसकी शरण में सारा संसार है ऐसे जगत् को शरण में रखने योग्य अथवा संसार की रक्षा करने वाले की। **शरण** = अक्षण रक्षण। **शरण्य** = रक्षक, आश्रयभूत। **जगत्** = संसार में स्थित प्राणिवर्ग। **निराशिषः** = निरही, निरभिलाषी, किसी भी प्रकार की इच्छा से रहित। **आशिस्** = इच्छा। यह 'सतः' का विशेषण है। **सतः** = सत्पुरुष की, शिव की। **सत्** = सदैव रहने वाला। **आशोपहतात्मवृत्तिभिः** = तृष्णाओं से (सांसारिक इच्छाओं से) आत्मा को दूषित करने वाली **आत्मवृत्तिः** = अन्तःकरण की वृत्ति। **उपहत** = दूषित। **आशा** = तृष्णा, इच्छा।

यह 'एभिः' का विशेषण है। एभिः = इनसे माङ्गलिक वस्तुओं से। किम् = क्या प्रयोजन ? मङ्गल आशा का जनक है तथा आशा का संचार अन्तःकरण की वृत्ति को दूषित करता है। इसी कारण निरीह व्यक्ति मङ्गल की कामना कभी भी नहीं किया करता है ॥७६॥

प्रसङ्ग—शिव में परस्पर विरोधी गुण निवास करते हैं—

अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां
त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते
न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ॥७७॥

अन्वयः—सः अकिञ्चनः सन् सम्पदां प्रभवः। पितृसद्मगोचरः (सन्) त्रिलोकनाथः, स भीमरूपः (सन्) शिव इति उदीर्यते। पिनाकिनः याथार्थ्यविदः न सन्ति ॥७७॥

संस्कृत-व्याख्या—स = शिवः, अकिञ्चनः सन् = दरिद्रः सन्, सम्पदां = सम्पत्तीनां, प्रभवः = कारणम्, पितृसद्मगोचरः सन् = श्मशानाऽऽश्रयो भवन्, त्रिलोकनाथः = लोकत्रयपतिः, सः = शिवः, भीमरूपः सन् = भयंकराकारः सन्, शिवः = सौम्यरूपः, इति, उदीर्यते = उच्यते। अतः = अस्मात्कारणात्, पिनाकिनः = हरस्य, याथार्थ्यविदः = तत्त्ववेत्तारः, न सन्ति = न विद्यन्ते। नः शिवः दरिद्रः सन्नपि महदैश्वर्याणां उद्भवस्थानमस्ति, श्मशाननिलयः सन्नपि। त्रयाणां लोकानां स्वामी इति। एवमेव भयङ्कराकारः सन्नपि पुराणेषु सः मङ्गलकारीति उच्यते। एवंविधैः, विरोधिगुणैः समन्वितं शिवं स्वादृशाः पुरुषाः ज्ञातुं न शक्नुवन्तीति भावः।

भाषा—वह शिव दरिद्र होते हुए भी सम्पत्तियों का कारण है—उत्पत्ति स्थान है। श्मशाननिवासी होने पर भी वह तीनों लोकों का स्वामी (रक्षक) है। भयङ्कर आकृति वाला होने पर भी वह शिव कल्याणकारी शब्द के द्वारा ही पुकारा जाता है। अतः शिव को याथातथ्यरूप में समझने वाला कोई नहीं है।

भावार्थ—वह शिव अनेक परस्पर विरोधी गुणों से युक्त है। वह दरिद्र होते हुए भी सम्पत्तियों का उत्पादक, श्मशानवासी होने पर भी तीनों लोकों का स्वामी तथा भयङ्कर आकृति से सम्पन्न होने पर भी वह कल्याणकारी है। ऐसे परस्पर विरोधी गुणों से युक्त उस शिव का ज्ञाता कोई विरला ही हो सकता है।

व्याकरण—सन्=अस+शतृ। **सम्पदाम्**=सम्+पद्+क्विप्। यहाँ "सम्पदादिभ्यश्च" से क्विप् प्रत्यय होता है। **प्रभवः**=प्र+भू+अप्। यहाँ "ऋदोरप" सूत्र से अप् होता है। **गोचरः**=गो+चर् घ। **उदीर्यते**=उद्+ईर्+णिच्+लट्। **यथार्थ्यविदः**=यथार्थ+ष्यञ्। यथार्थ्य+विद्+क्विप्।

समास आदि—अकिञ्चनः=नास्ति किञ्चन् यस्य सः। यहाँ "मयूरव्यंसकादयश्च" से तत्पुरुष समास ही होता है, क्योंकि मयूरव्यंसकादि गण में इसका पाठ है। **प्रभवः**=प्रभवति अस्मात् इति। पितृसद्मगोचरः पितॄणं सद्म, पितृसद्म गोचरः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **त्रिलोकनाथः**=त्रीणि लोकः त्रिलोकः (शाकपार्थिवादि तत्पुरुष), त्रिलोकस्य नाथः (षष्ठी तत्पुरुष)। **भीमरूपा**=विभेति अस्मात् इति भीमम्, भीमं रूपं यस्य स (बहुव्रीहि)। **पिनाकिनः**=पिनाकः अस्यास्तीति पिनाकीः तस्य। **यथार्थ्यविदः**=यथाभूता अर्थः यथार्थः (प्रादि समास), यथार्थस्य भावः याथार्थ्यम्, याथार्थ्यम्, विदन्ति इति याथार्थ्यविदः।

टिप्पणियाँ—अकिञ्चनः=जिसके पास कुछ न हो—निर्धन। **किञ्चन**=कुछ। **सन्**=होते हुए। **सम्पदाम्**=सम्पत्तियों का, धन का—"सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च" इत्यमरः। **प्रभवः**=उत्पत्तिस्थान। **पितृसद्मगोचरः**=श्मशान में रहने वाला। पितृ=भूत, सद्म=गृह, घर—गृहं गेहोद्वासितंम वेश्म सद्मं निकेतनम्, इत्यमरः। गोचरः—आश्रय, स्थान। पितृसद्म—श्मशान—"श्मशानं स्यात् पितृवनम्" इत्यमरः। **त्रिलोकनाथः**=तीनों लोकों का स्वामी। **भीमरूपः**=भयंकर आकृति वाला। **सन्**=होते हुएं। **शिवः**=सौम्यरूप, मङ्गलकारी। **उदीर्यते**=कहा जाता है। **पिनाकिनः**=महादेव के। **याथार्थ्यविदः**=वास्तविक रूप को जानने वाले। **यथार्थ**=वास्तविक, सच्ची बात ॥७७॥

प्रसङ्ग—शिव का वास्तविक रूप उनके आकारादि के द्वारा नहीं जाना जा सकता है—

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा
गजाऽजिनालम्बि दुकूलधारी वा ।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं
न विश्वमूर्त्तेरवधार्यते वपुः ॥७८॥

अन्वयः—विश्वमूर्तेः वपुः विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाऽजिनालम्बि दुकूलधारि वा कपालि वा अथवा इन्दुशेखरं स्यात् इति न अवधार्यते ॥७८॥

संस्कृत-व्याख्या—विश्वमूर्त्तेः=शिवस्य, वपुः=शरीरं, विभूषणोद्भासि=भूषणैः उद्भासते इति, पिनद्धभोगि वा=बद्धभुजङ्गम वा स्यात्, गजाजिनालम्बि=हस्तिचर्मालम्बि, दुकूलधारि वा=क्षौमधारकं वा स्यात्, कपालि वा=कपालयुक्त वा, अथवा, इन्दुशेखरं स्यात्=चन्द्रमुकुटं भवेत् इति, न अवधार्यते=न निर्धार्यते। जगद्रूपस्य अष्टमूर्त्ते शरीरं कुण्डलाद्यलङ्कारैरुपशोभितं अथवा समवेष्टितम्, अलोकिकेन गजचर्मणालंकृतम् आहोस्वित् लौकिकेन दुकूलेनाऽलंकृतम् ब्रह्मशिरः कपालधारि, चन्द्रशेखर वेति, केनापि निश्चेतुं न शक्यते इति भावः ।

भाषा—विश्व ही हैं रूप जिसका, ऐसे शिव का शरीर आभूषणों से चमकने वाला है अथवा साँपों से लपेटा हुआ है, हस्तिचर्म धारण किये हुये अथवा रेशमी वस्त्र। शिर में कपाल धारण किये हुये हैं अथवा चन्द्रमा यह निश्चय नहीं किया जा सकता है।

भावार्थ—अष्टमूर्ति भगवान् शिव का शरीर कैसा है यह निश्चय किया जाना सम्भव नहीं है। उनका शरीर अलङ्कार से सुशोभित है अथवा सर्पों से ढका है। वह गजचर्म धारण किये हुए हैं अथवा सुन्दर रेशमी वस्त्र। वह नरमुण्डों से युक्त है अथवा अपने सिर पर चन्द्रमा को धारण किये हुए हैं।

व्याकरण—विभूषणोद्भासि=वि+भूष्+ल्युट्—विभूषण। विभूषण+उद् भास्+णिनि (कर्त्तरि)। पिनद्धभोगि=अपि+नह+क्त। भोगि—भोग+इनि। गजाऽजिनालम्बि=गजाजिन+आ+लम्ब+णिनि। दुकूलधारि

=दुकूल=धृ + णिनि । कपालि =कपाल + इनि । अवधार्यते=अव + धृ + णिच् + लट् ।

समास आदि—**विश्वमूर्त्तेः**=विश्वं मूर्तिः यस्य सः तस्य (बहुव्रीहि)। **विभूषणोद्भासि**=विभूषणैः उद्भासते तच्छीलं विभूषणोद्भासि । **पिनद्धभोगि**=पिनद्धाः भोगिनः यस्मिन् सत् (वहुव्रीहि)। **गजाऽजिनालम्बि**=गजस्य अजिनम् गजाजिनम् (षष्ठी तत्पुरुष), गजाजिनं आलम्बते इति गजाजिनालम्बि । **दुकूलधारि**=दुकूलं धारयति इति । **कपालि**=कपालं अस्ति भूषणत्वेन अस्य इति । **इन्दुशेखरम्**=इन्दु शेखरे यस्य अथवा इन्दु शेखरः यस्य तत् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**विश्वमूर्त्ते**=विश्व ही है रूप जिसका अर्थात् अष्टमूर्ति शिव का । इसका सम्बन्ध "वपु" से है यहाँ शेषे षष्ठी हुई है, **वपुः**—शरीर । **विभूषणोद्भासि**=आभूषणों से चमकता हुआ । विभूषण—आभूषण, अलङ्कार । यह "वपुः" का विशेषण है । **पिनद्धभोगि**=सर्प लपेटे हुए, सर्पों में आच्छादित । भोग—फल । भोगी–सर्प । "उरगः पन्नगः भोगी जिह्मग पवनाशनः" इत्यमरः । **गजाऽजिनालम्बि**=हाथी का चमड़ा ओढ़े हुए । अजिन—चर्म, चमड़ा "आजिनं कृत्तिः चर्म" इत्यमरः । **दुकूलधारी**=दुकूल (रेशमी वस्त्र) धारण किये हुए । **कपालि**=मनुष्य की खोपड़ी (नरमुण्ड) धारण करने वाला । कपाल—नरमुण्ड, मनुष्य की खोपड़ी 'स्यात् कपरःकपालोऽस्त्री' इत्यमरः । शिव जी ब्रह्मा के सिर की माला धारण करते हैं—"जगत्मिसृक्षासमयेषु वेधसाम् प्रणामलोलानि शिरांसि पादयोः । ज द्विरामेषु कपाल शेषताम् गतानि तिष्ठन्ति जटासु धूर्जटेः"। स बारे में एक और कथा है—ब्रह्मा ने कहा कि "वह हमारे मस्तक से उत्पन्न ये हैं" इस पर शिव क्रोधित हो गये तथा उन्होंने भैरवकाल को प्रकट कर या । इस काल-भैरव ने ब्रह्मा के सिर को अपने नाखूनों के अग्रभाग से काट डाला । पुनः शिव ने काल-भैरव का रूप धारण कर लिया और ब्रह्मा के सिर की माला बनाकर उसे धारण कर लिया । यह "वपुः" का विशेषण है । **इति न अवधार्यते**=समझ में नहीं आता । ब्रह्मचारी द्वारा ५/६७ श्लोक में कहे गये हुए आरोपों का खण्डन उक्त पद्य में किया गया है ॥७८॥

* * *

प्रसङ्ग—अब पार्वती "अयुक्तरूपं कियतः···इत्यादि (५/६९) में ब्रह्मचारी द्वारा किये गये आरोपों का उत्तर देती हुयी कहती हैं—

तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते
ध्रुवं चिताभस्मरजो विशुद्धये ।
तथा हि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं
विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥७९॥

अन्वयः—तदङ्गसंसर्ग अवाप्य चिताभस्मरजः अपि ध्रुवं विशुद्धये कल्पयते तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं अम्बरौकसां मौलिभिः विलिप्यते ॥७९॥

संस्कृत-व्याख्या--दतङ्गसंसर्गम्=शिवशरीरसंसर्गम्, अवाप्य=प्राप्य, चिताभस्मरजः=चितिभसितधूलिः, अपि, ध्रुवं=निश्चयेन, विशुद्धये=विशुद्धयै, कल्पते=अलङ्कारतामाप्नोति । तथा हि=प्रसिद्धः एव, नृत्याभिनयक्रियाच्युतं=ताण्डवाभिनयकर्मपतितं (चिताभस्मरजः) अम्बरौकसां=देवानाम्, मौलिभिः=शिरोभिः, विलिप्यते=ध्रियते । हरस्य शरीरमेतावत् शुद्धमस्ति यत् तस्य सम्पर्केण अपावनं चिताभस्मरजः अपि पावनं भूत्वा नरान् पावयति । इदमेव कारणमस्ति यत् नर्त्तनाभिनयव्यापतितं चिताभस्मरजः देवानां शिरोभि धार्यते । ऐतेन ज्ञायते यत् हरस्य शरीरं कियत्पावनमस्तीतिभावः ।

भाषा—उन शिवजी के शरीर का स्पर्श पाकर चिता की राख भी निश्चय ही स्वयं पवित्र होकर दूसरों को भी पवित्र करने में समर्थ हो जाती है। इसी कारण शिव के ताण्डवनृत्य में अभिनय करते समय गिरी हुई धूलि को देवगण अपने मस्तक में लगाया करते हैं।

भावार्थ—शिवजी का शरीर इतना अधिक पवित्र हैं कि उसके सम्पर्क से नितान्त अपवित्र चिता की राख भी स्वयं पवित्र होकर दूसरों को भी पवि किया करते हैं । यही कारण है कि ताण्डवनृत्य करते समय जब शिव अभिनय करते हैं तो उस समय उनके शरीर में लगी हुयी चिता की राख नीच गिर पड़ती है। उस भस्म को देवगण उठाकर अपने-अपने मस्तकों में लगाते हैं तथा अपने को पवित्र करते हैं। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव का शरीर कितना पवित्र है।

व्याकरण—तदङ्गसंसर्गम्=सम् + सृज् + घञ्—संसर्ग । अवाप्य=अव + आप् + ल्यप् । विशुद्धये=वि + शुध् + क्तिन्—विशुद्धि । चतुर्थी विभक्ति

में --विशुद्धये । "नमः स्वस्तिस्वाहास्तआलंवअषड्योगाच्च" । सूत्र में "अलं" पर्याप्त अर्थ वाला लिया गया है ।" अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणन्' अतः यहाँ अलम् अर्थ वाले कल्प के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। "क्लृपि संपद्यमाने च" वार्तिक सूत्र से चतुर्थी विभक्ति का विधान संगत नहीं है क्योंकि 'क्लृप्' यहाँ उत्पद्यमानार्थक नहीं है। अभिनय = अभि + नी + अच् । विलिप्यते—वि + लिप् + लट् ।

समास आदि—तदङ्गसंसर्गम् = तस्य अङ्गं तदङ्गं, तदङ्गस्य संसर्गः तदङ्ग=संसर्गः (षष्ठी तत्पुरुष) तम् । चिताभस्मरजः—चितायाः भस्म चिताभस्म (षष्ठी तत्पुरुष) तदेव रजः अथवा तस्य रजः (कर्मधारय अथवा षष्ठी तत्पुरुष)। नृत्याभिनयक्रियाच्युतम् = नृत्ये अभिनयः नृत्याभिनयः (सुप्सुपा), तस्य क्रिया नृत्याभिनयक्रिया (षष्ठी तत्पुरुष) अथवा नृत्याभिनयः एव क्रिया (कर्मधारय), तस्याः च्युतम् (सुप्सुपा)। अम्बरौकसाम्—अम्बरं ओकः येषां ते (बहुव्रीहि) तेषाम् ।

टिप्पणियाँ—तदङ्गसंसर्गम् = उनके (शिव के) शरीर का स्पर्श । यह 'अवाप्य' का कर्म है। अवाप्य = प्राप्त करके । चिताभस्मरजः = चिता की राख की धूलि, अथवा चिता की राख के कण जिनको शिव अपने शरीर में लगाया करते थे । रज = धूलि या कण । यह 'कल्पते' का कर्त्ता है । विशुद्धये = पावन बनाने अथवा पवित्र करने के लिये । विशुद्धि = पवित्रता । कल्पते = समर्थ बन जाती है । तथाहि = यह 'अव्यय' है और यह 'प्रसिद्ध' अर्थ का द्योतक है। समर्थनृत्याभिनयक्रियाच्युतम् = ताण्डवनृत्य के समय अभिनय करने के रण (नीचे) गिरी हुई । नृत्य—शिव का ताण्डवनृत्य । अभिनय, हावभाव ारीरिक चेष्टायें जो हृदय के भावों की अभिव्यक्ति करने के लिये की जाती हैं। शिव के नृत्य को 'ताण्डव' कहा जाता है—"ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्तने" इत्यमरः । यह चिताभस्मरजः का विशेषण है। अम्बरौकसाम् = स्वर्ग में रहने वाले देवताओं के । अम्बर = आकाश, स्वर्ग । (ओकस्—गृह, घर —"लोकः सदमननि चाश्रये" इत्यमरः । मौलिभिः =ः मस्तकों के द्वारा । विलिप्यते = लगाई जाती है, भली-भाँति लेप के रूप में मली जाती है ॥७६॥

◆

प्रसङ्ग—अब ब्रह्मचारी द्वारा ५/७० में "इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना" इत्यादि [illegible] ...२ में कहीं गई "दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु" इत्यादि बातों का उत्तर पार्वती [illegible] ही है—

असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः
प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा
करोति पादावुपगम्य मौलिना
विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली ॥८०॥

अन्वयः—प्रभिन्नदिग्वारणवाहनः वृषा असम्पदः वृषेण गच्छतः तस्य पादौ मौलिना उपगम्य विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली करोति ॥८०॥

संस्कृत-व्याख्या—प्रभिन्नदिग्वारणवाहनः = मदस्राविदिग्गजयानः, ऐरावतेन गच्छन् इत्यर्थः, वृषा = देवेन्द्रः, असम्पदः = दरिद्रस्यः, वृषेण = वृषभेण, गच्छतः = गमनकर्तुः,—वृषभारूढस्येत्यर्थः, तस्य = हरस्य, पादौ = चरणौ, मौलिना = मस्तकेन मुकुटेन वा, उपगम्य = प्राप्य, प्रणम्येत्यर्थः विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुलौ = विनिद्राणां विकसितानां मन्दाराणां कल्पतरुकुसुमानां रजोभिः परागैः अरुणा रक्तवर्णा अङ्गुलयः ययोस्तौ तथोक्तौ करोति । मन्दोन्मत्तैरावतवाहनः देवः अपि दरिद्रस्य वृषभारूढस्य तस्य शिवस्य पादौ कल्पवृक्षपुष्पैः अलङ्कृतं स्वमस्तकेन प्रणम्य विकसित मन्दारवृक्षकुमुमपरागरक्तवर्णाङ्गुली करोति । एतेन ज्ञायते यत् इन्द्रादयः देवाः अपि तच्चरणसेवकाः सन्ति ।

भाषा—मदोन्मत्त ऐरावत हाथी पर चढ़ने वाला इन्द्र दरिद्र तथा बैल भी पर सवारी करने वाले उन शिव के चरणों को अपने मस्तक से प्राप्त करके शिव (प्रणाम करके), विकसित कल्पवृक्ष के फूलों के पराग से लाल अंगुली वाला कर देता है ।

भावार्थ—देवराज इन्द्र ऐरावत हाथी की सवारी किया करते हैं तथा मन्दारवृक्ष (अथवा कल्पवृक्ष) के विकसित फलों से सुसज्जित मुकुट को अपने मस्तक पर धारण किया करते हैं । ऐसे इन्द्र जब शिवजी के चरणों में नतमस्तक होकर प्रणाम किया करते हैं तब उस समय विकसित मन्दार-पुष्पों की रक्तवर्ण की कान्ति से शिवजी के चरणों की अंगुलियाँ भी रक्तवर्ण (लाल) हो

जाया करती हैं। पार्वती के कहने का तात्पर्य यह है दरिद्र तथा बैल की सवारी करने वाले शिव के चरणों में देवताओं का राजा इन्द्र भी झुका करता है। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि शिव देवताओं की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।

व्याकरण—प्रभिन्नदिग्वारणवाहनः—प्र + भिद् + क्तः—प्रभिन्न । वह् + ल्युट् (अन)—वाहन । असम्पदः = सम् + पद् + क्विप—सम्पद् । गच्छतः = गम् + शतृ । उपगम्य = उप + गम् + ल्यप् । मन्दार (मन्दारपुष्प—मन्दार + अण् ।

समास आदि—प्रभिन्नदिग्वारणवाहनः - दिशां दिशि वा वारणः दिग्वारणः । प्रभिन्नः दिग्वारण (कर्मधारय), प्रभिन्नदिग्वारणः, सः वाहनं यस्य स (बहुव्रीहि) । वृषा = वर्षतीति वृषा । असम्पदः = अविद्यमाना सम्पद् यस्य सः । यहाँ 'नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः' बहुव्रीहि समास होता है । विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली = विगता निद्रा यस्य इति विनिद्रः (बहुव्रीहि) यहां "प्रादिभ्यो धातुजस्य (बहुव्रीहि) यहाँ 'प्रादिभ्यो धातुजस्य बहुव्रीहिः उत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः" से समास हुआ है । मन्दारस्य इमानि इति मन्दार + अण् । अण् के लुप्त हो जाने के कारण मन्दार शब्द में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ । अतः वह ज्यों का त्यों रहा । विनिद्राणि च तानि मन्दराणि विनिद्रमन्दाराणि तेषां राजांसि तैः अरुणः विनिद्रमन्दाररजोरुणाः तादृश्यः अङ्गुलयः ययोस्तौ विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली ।

टिप्पणियाँ—प्रभिन्नदिग्वारणवाहन—मद चूनेवाला दिग्गज (ऐरावत) है सवारी जिसकी । अथवा दिग्गजों को हरा देने वाला है वाहन जिसका ऐसा (इन्द्र) । प्रभिन्न = मदचूने वाला "प्रभिन्नोगर्जितो मतः" इत्यमरः । वारण = हाथी । पुराणों में आये हुये कथानकों के आधार पर पूर्वदिशा का हाथी ऐरावत है तथा वह इन्द्र की सवारी है । पृथ्वी का भार धारण करने वाले तथा सभी दिशाओं में निवास करने वाले हाथियों में से ऐरावत भी एक है । यह 'वृषा' का विशेषण है । वृषा इन्द्र—"वासवो वृत्रहा वृषा इत्यमरः । असम्पदः = निर्धन के । वृषेण = बैल से—उक्षा भद्रोबलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषा" इत्यमरः । गच्छतः = जाते हुये । यह 'तस्य' का विशेषण है । तस्य =

शिव के, उसके। **मौलिना**=मस्तक से। **उपगम्य** = प्राप्त कर, समीप आकर। भाव में--'प्रणाम करके' यह अर्थ ही यहाँ पर अभीष्ट होगा। **विनिन्द्रमन्दार-रजोरुणाङ्गुल** खिले हुये फूलों के पराग से लाल कर दी गई उंगलियाँ जिनकी। यह "पादौ' का विशेषण है। **विनिन्द्र**=विकसित खिले हुये। **मन्दार**=कल्पवृक्ष। किन्तु इस स्थल पर मन्दार शब्द का अर्थ वृक्ष न होकर मन्दार पुष्प ही है। "पञ्चैतेदेवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्" इत्यमरः। इन्द्र अपने मस्तक पर लगे मुकुट में मन्दार के खिले हुये, पुष्पों को धारण किया करता है। जब इन्द्र शिव के चरणों में नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं तब मन्दार के विकसित पुष्पों की लालिमा से शिव के पैरों की अंगुलियाँ भी रक्तवर्ण (लाल) ही हो जाया करती हैं। पार्वती के कहने का अभिप्राय यह है कि जब ऐरावत की सवारी करने वाला इन्द्र भी वृषभारूढ़ शिव के चरणों में आकर झुका करता है तो इन्द्रादि देवताओं की अपेक्षा शिव की श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध हो जाती है ॥८०॥

* * *

प्रसङ्ग—ब्रह्मचारी ने 'अलक्ष्यजन्मता' कहकर शिव के कुलीन होने तथा कुल का पता ज्ञात न होने के बारे में सन्देह प्रकट किया था। इसका उत्तर देते हुये पार्वती कह रही है—

विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना
त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं
कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥८१॥

अन्वयः—दोषं विवक्षता अपि च्युतात्मना त्वया ईशं प्रति एकं साधु भाषितम्। यं आत्मभुवः अपि कारणं आत्मनन्ति सः कथं लक्ष्यप्रभव भविष्यति ॥८१॥

संस्कृत-व्याख्या—**दोष**=दूषणं, विवक्षता अपि=वक्तुमिच्छता अपि, च्युतात्मना=नष्टस्वभावेन, त्वया=भवता, ईशं प्रति=शङ्करस्य विषये एकं =एकं वस्तु 'अलक्ष्यजन्मता' इत्येतत् वचनमित्यर्थः, साधु=सम्यक् भाषितम् =उक्तम् (श्रुतयः)। यं=शिवः, आत्मभुवः अपि=ब्रह्मणः अपि, कारणं=

उत्पत्ति-स्थानं, आमनन्ति=उदाहरन्ति, सः=शिवः, कथं=केन प्रकारेण, लक्ष्यप्रभवः=लक्ष्यजन्मा, भविष्यति, न कथमपीत्यर्थः। हे ब्रह्मचारिन्! केवलं दोषमेव वक्तुमिच्छता नष्टस्वभावेन भवता शिवमुद्दिश्य: "अलक्ष्यजन्मता" इत्यादि वस्तु सम्यगुक्तम् श्रुतयः यं शिवं ब्रह्मणः अपि स्रष्टारं कथयन्ति स शिवः लक्ष्यजन्मा कथं भवितुमर्हतीतिभावः।

भाषा—केवल दोष कथन करने की इच्छा रखते हुए होने पर भी नष्ट-स्वभाव वाले तुमने शिव के सम्बन्ध में एक अच्छी बात कह (ही) डाली जिसको वेद ब्रह्मा का भी कारण (उत्पत्ति स्थान) बतलाते हैं, उस शिव की उत्पत्ति किस प्रकार सोची जा सकती है ?

भावार्थ—यद्यपि आपने शिवजी के अनेक दोषों को दिखलाया है किन्तु इन दोषों का वर्णन करते हुये, आपने शिव के बारे में एक अच्छी वात भी कह डाली है और वह यह कि "वेद भी जिन शिव को ब्रह्मा की उत्पत्ति का कारण मानते हैं।" आपकी इस बात से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन शिव से ब्रह्मा की उत्पत्ति का कारण कहा गया है उन शिव की उत्पत्ति के बारे में क्या सोचा जा सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

अलङ्कार—पार्वती ब्रह्मचारी द्वारा कथित "अलक्ष्यजन्मता" का वक्रोक्ति द्वारा अपने मन के अनुकूल अर्थ लेकर उसका निराकरण करती हैं अतः उक्त पद्य में वक्रोक्ति अलङ्कार है।

व्याकरण—विवक्षता=वच्+सन्+शतृ—विवक्षत्। आत्मभुवः= आत्मन्+भू+क्विप्—आत्मभूः। आमनन्ति=आङ्+म्ना+लट्—प्रथम-पुरुष, बहुवचन। यहाँ "पाघ्राध्मास्थाम्नादाण इत्यादि" सूत्र से म्ना' के स्थान पर 'मन' हो जाता है।

समास आदि—च्युतात्मना=च्युतः आत्मा यस्य सः च्युतात्मा तेन। विवक्षता=वक्तुमिच्छत् इति विवक्षत् तेन। आत्मभुवः=आत्मना भवतीति आत्मभू तस्य आत्मभुवः। लक्ष्यः प्रभवः यस्य सः लक्ष्यप्रभवः।

टिप्पणियाँ—च्युतात्मना=नष्टस्वभाव वाले, क्षुद्रात्मा (तुम्हारे द्वारा) ब्रह्मचारी ने शिव की बहुत अधिक निन्दा की थी, इसी कारण पार्वती को विवश होकर उसको 'च्युतात्मा' कहना पड़ा। **विवक्षता**=कहने की इच्छा

रखते हुये । यह 'त्वया' का विशेषण है । ईशं प्रति=शिव के बारे में—"अभितः परितः समया निकषा हा प्रति योगेऽपि" इन सभी शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। इस स्थल पर भी प्रति के योग के कारण ही 'ईश' में द्वितीया विभक्ति हुई है । एकम्=एक बात—अर्थात्—'अलक्ष्यजन्मता' इत्यादि कथन । भाषितम्=कहा है । आत्मभुवः अपि=ब्रह्मा का भी । आत्मभुः=स्वयं उत्पन्न होने वाला ब्रह्मा । यह भी ब्रह्मा का एक नाम है । कारणम्=उत्पत्ति स्थान, जन्म का कारण । "यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् ।" आमनन्ति=कहते हैं । लक्ष्यप्रभवः=जिसका उत्पत्ति स्थान ज्ञात हो । वेद जिन शिव को ब्रह्मा की भी उत्पत्ति का कारण मानते हैं, उनके उत्पत्ति-स्थान को कैसे जाना जा सकता है ।८१॥

प्रसङ्ग—अब पार्वती ब्रह्मचारी से कहती हैं कि मैं निन्दा की चिन्ता नहीं करती, मैं तो एकमना होकर शिव में अनुरक्त हूँ । मुझे लोकनिन्दा की चिन्ता नहीं—

अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया
तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं ।
न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ।।८२।।

अन्वयः—(अथवा) विवादेन अलम्, स त्वया यथा श्रुतः अशेषं तथाविधः तावदस्तु, मनः अत्र भावैकरसं स्थितं, कामवृत्तिः वचनीयं न ईक्षते ।।८२।।

संस्कृत-व्याख्या—(अथवा=यद्वा) विवादेन=कलहेन, अलम्, सः=शिवः, त्वया=भवता, यथा=येन प्रकारेण, श्रुतः=आकर्णितः, अशेषं=कार्त्स्न्येन, तथाविधः=तादृशः, तावदस्तु=भवतु । मम=मदीयं, मनः=चित्तम्, अत्र=ईश्वरे, भावैकरसम्=अभिलाषैकपक्षपाति, हरविषयाभिलाषमात्र तत्परमित्यर्थः स्थितं=वृत्तम् । (तथा हि) कामवृत्तिः=स्वेच्छाव्यवहारी, वचनीयं=निन्दां, न ईक्षते=न विचारयति । न हि स्वेच्छाचारिणः लोकापवादाद् बिभ्यतीति-भावः । हे ब्रह्मचारिन् शिवविषयकः विवादः त्वया त्यज्यताम् । अनेन वाक्कलहेन

न किमपि प्रयोजनम् । सः शिवः भवता येन प्रकारेण आकर्णितः पूर्णरूपेण स तथैवास्तु । शिवं प्रति मम हृदयं निश्चलमस्ति । यतोहिस्वेच्छा व्यवहारी लोकनिन्दां न विचारयति ।

भाषा—विवाद से बस, तुमने उसे जिस प्रकार का सुना है वह चाहे पूर्णरूपेण वैसा ही हो, पर मेरा मन उनके प्रेम में पूर्णतया निश्चल है—अपनी इच्छानुसार कार्य करने वाला व्यक्ति लोकनिन्दा की चिन्ता नहीं करता है ।

भावार्थ—अधिक विवाद करने से क्या लाभ ? आपने उन शिव के बारे में जैसा सुना है, चाहे वह वैसा ही क्यों न हो, मुझे उसकी कोई चिन्ता नहीं है । मेरा मन तो उन्हीं के प्रति पूर्ण निश्चलता के साथ रम गया है । अतः मैं उस ओर से अपने मन को हटाने में असमर्थ हूँ । मुझे तो उन्हीं की प्राप्ति करनी है । अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करने वाला व्यक्ति लोकनिन्दा की चिन्ता नहीं किया करता है ।

अलङ्कार—इस पद्य में 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है ।

व्याकरण—विवादेन = वि + वद् + घञ्—विवादः । तृतीया में—विवादेन । यथा = यद् + थाल । श्रुतः = श्रु + क्त । तथाविधः—तद् + थाल—तथा । अशेषम् = शिष् + घञ् (कर्मणि)—शेषः । कामवृत्तिः वृत् + क्तिन् (भावे)—वृत्तिः । वचनीयम् = वच् + अनीयर् । ईक्षते = ईक्ष् + लट् ।

समास आदि—विवादेन = विरुद्धो वादः विवाद तेन ("कुगतिप्रादयः सूत्र समास हुआ है ।) तथाविधः = तथा विधा प्रकारः यस्य सः । अशेषम् = अविद्यमानः शेषः यस्मिन् कर्मणि (बहुब्रीहि) तत् यथा स्यात्तथा । भावैकरसम् = एकः रसः एकरस (कर्मधारय), भाव एव एकः रसः यस्य तत् भावैकरसम् (बहुब्रीहि) । कामवृत्तिः = कामा वृत्तिः यस्य सः (बहुब्रीहि) ।

टिप्पणी—विवादेन = वाणी की कलह से—शाब्दिक युद्ध से । **अलम्** = बस । यहाँ पर यह वारणार्थक अव्यय के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।" "अलंभूषणपर्याप्तशक्तिवारणवाचकम्" । **यथा** = जिस प्रकार यह क्रिया विशेषण है यथा 'श्रुतः' की विशेषता बतलाता है । क्रिया विशेषणानां क्वचिद् फलभावनां प्रति करणत्वम्" । **श्रुत** = सुना है । **तथाविध** = उस प्रकार का । **अशेषम्** = पूर्णरूपेण । यह क्रिया विशेषण है तथा 'अस्तु' क्रिया की विशेषता बतलाता

है । **तावत्** = यह अव्यय है,--यहाँ निश्चय अर्थ में प्रयुक्त है । **अत्र** = शिव में, शिव के प्रति । **भावैकरसम्** = प्रेम अथवा भक्ति ही है । आनन्द जिसका अर्थात् जिस मन को केवल शिव की भक्ति में ही आनन्द की उपलब्धि होती है । **भावः** = प्रेम भक्ति । **एकं** = मुख्य प्रधान । **रस** = आनन्द । यह 'मनः' का विशेषण है । **स्थितम्** = निश्चल है, लगा हुआ है । **कामवृत्तिः** = स्वेच्छापूर्वक काम करने वाला व्यक्ति । **कामा** = स्वेच्छा । **वृत्तिः** = व्यवहार । यह 'ईक्षते' क्रिया का कर्म है । **ईक्षते** = देखता है विचार करता है । "न कामवृत्तिः वचनीयमीक्षते" इस सूक्ति का भाव--जो व्यक्ति स्वेच्छा के अनुसार आचरण किया करता है उसे लोकनिन्दा की कोई चिन्ता नहीं हुआ करती है ॥८२॥

* * *

प्रसङ्ग--अब पार्वती उस ब्रह्मचारी को पुनः कुछ कहने के लिये तत्पर देखकर सखी से कहती है--

निवार्यतामालि ! किमप्ययं वटुः
पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराऽधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाषते
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥८३॥

अन्वयः--हे आलि ! स्फुरितोत्तराधरः पुरः किमपि विवक्षुः अयं वटुः निवार्यताम् । (तथा हि) यः महतः अपभाषते न केवलं स एव पापभाक्, अपितु तस्मात् यः शृणोति, सोऽपि पापभाक् भवति ॥८३॥

संस्कृत-व्याख्या--हे आलि ! = हे सखि ! स्फुरितोत्तराधरः = स्फुरणभूयिष्ठोष्ठः = पुनः, भूयः, किमपि = किंचिदपि, विवक्षु वक्तुमिच्छुः, अयं = एषः, वटुः = वाचाटः, निवार्यताम् = अपसार्यताम् = अस्मात् आश्रमात् निस्सार्यताम् । तथा = हि, यः = पुरुषः, महतः = पूज्यान्, अपभाषते = अपवदति, न केवलं सः = निन्दाकर्त्ता एव पापभाक् = पापीयान् भवति अपितु तस्मात् यः शृणोति = आकर्णयति, सः अपि = श्रोताऽपि, पापभाक् = पापीयान् भवति । हे सखि ! अस्य ब्रह्मचारिणः अधरः विशेषतः कम्पतयुक्तः दृश्यते । एतेन प्रतीयते यदयं पुनः किमपि वक्तुमिच्छति, अतो बहिः निस्सार्यताम् । यः

महापुरुषान् निन्दति केवलं सः एव पापीयान् न भवति अपितु यः तस्मात् पुरुषात् महाजननिन्दावचनं शृणोति, सः अपि पापीयान् भवत्येव ।

भाषा—हे सखि ! कम्पन युक्त अधर वाले, कुछ कहने की इच्छा रखने वाले इस ब्रह्मचारी को रोक दो-(अब यह कुछ न कहे) (क्योंकि) जो महापुरुषों की निन्दा करता है केवल वही नहीं अपितु जो उसे सुनता है वह भी पाप का भागी होता है ।

भावार्थ—हे सखि ! ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह ब्रह्मचारी उन शिव के विषय में पुनः कुछ कहना चाहता है । अब मेरे लिये इसकी कोई भी बात सुन सकना सम्भव नहीं है । अतः इनसे कह दो कि अब ये कुछ न कहें क्योंकि महापुरुषों की निन्दा करने वाला व्यक्ति तो पाप का भागी हुआ ही करता है, साथ ही जो लोग उसका श्रवण किया करते हैं वे भी पाप के भागी हुआ करते हैं ।

व्याकरण—स्फुरित = स्फुर + क्त । विवक्षः = वच् + सन् + उः । निवार्यताम् = नि + वृ + णिच् + लोट् । अपभाषते = अप + भाष् + लट् । पापभाग् = पाप + भाज् + ण्विः ।

अलङ्कार—इसमें "अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार है ।

समास आदि—स्फुरितोत्तराधरः उत्तरः च अधरश्च उत्तराधरम्, स्फुरितं उत्तराधरं यस्य सः स्फुरितोत्तराधरः । स्फुरितं उत्तरं यस्मिन् सः स्फुरितोत्तरः, तादृश अधरः यस्य सः । "स्फुरितं उत्तरं यस्मिन्" इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि समास किये जाने पर 'उत्तर' शब्द का जो विशेषण है उसे पहलें आना था । किन्तु "वाहिताऽन्यादिषु" में वर्णित नियम के अनुसार उसे बाद में ही (उत्तर पद में ही) रखा गया है । उत्तर शब्द का अर्थ 'युक्त' भी होता है । इस दृष्टि से फिर समास इस प्रकार होगा = स्फुरितेन (कम्पनेन) उत्तर (युक्तः) स्फुरितोत्तरः अधरः यस्य सः । पापाभाग् = पापं भजतीति पापभाक् ।

टिप्पणियाँ—आलि = सखि । स्फुरितोत्तराधरः = जिसके ऊपर और नीचे के ओठ हिलते हों अथवा अधिक हिल रहा है नीचे का ओष्ठ (अधर) जिसका । यहाँ 'उत्तर' का अर्थ अधिक' किया गया है । अथवा = कम्पन से युक्त है अधर (नीचे का ओठ) जिसका । यहाँ 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'युक्त'

है। **विवक्षुः**=बोलने की इच्छा रखने वाला । यह 'वटुः' का विशेषण है। वटु=ब्रह्मचारी, वाचाल। यह "वटुः" शब्द कुछ तिरस्कारव्यंजक है। इसी कारण पार्वती ने इसका प्रयोग यहाँ पर किया है । **निवार्यताम्**=रोक दिया जायं अथवा आश्रम से) बाहर निकाल दिया जाय । इसका कर्ता त्वया है जो छिपा हुआ है । इसका कर्म 'वटु' है। **यः**=जो व्यक्ति। **महतः**=पूज्यों अथवा महापुरुषों की। **अपभाषते**=निन्दा करता है इसका कर्त्ता "यः" है। **न केवलं सः**=न केवल निन्दा करने वाला ही अपितु। **सः अपि**=वह भी (सुनने वाला भी)। **पापभाक्**=पाप का भागी। मनुस्मृति में भी इस प्रकार का विधान उपलब्ध होता है। देखिये—

गुरोर्यत्र परिवादो निन्दा वापि प्रवर्त्तने ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ मनु० २—२२०॥

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पार्वती का शिव के प्रति अटूट प्रेम तथा भक्ति थी ॥८३॥

* * *

प्रसङ्ग—अथवा हे सखि ! मैं ही यहाँ से चली जाती हूँ। पार्वती द्वारा ऐसा कह कर चल दिये जाने पर शिव ने अपने वास्तविक रूप को प्रकट कर दिया—

इतो गमिष्यम्यथवेति वादिनी
चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला ।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः
समाललम्बे वृषराजकेतनः ॥८४॥

अन्वयः—"अथवा इतः गमिष्यामि" इति वादिनी स्तनभिन्नवल्कला बाला चचाल। वृषराजकेतनः च स्वरूपं आस्थाय कृतस्मितः (सन्) तां समालम्बे ॥८४॥

संस्कृत-व्याख्या—अथवा=पक्षान्तरे इतः=अस्मात् स्थानात् (अहमेव), गमिष्यामि=यास्यामि" इति=एवं, वादिनी=वदन्ती, स्तनभिन्नवल्कला=कुचस्रस्तचीरा, बाला=युवतिः पार्वतीत्यर्थः, चचाल=त्वरितं गन्तुमारेभे।

वृषराजकेतनः च = वृषभध्वजश्च—शिवश्चेत्यर्थः, स्वरूपं = निजरूपं, आस्थाय = आश्रित्य, कृतस्मितः = ईषद् हास्ययुक्तः सन्, ताम् = पार्वतीम्, समाललम्बे = जग्राह। "अथवा अस्य वटोः सकाशात् अहमेव दूरतो गमिष्यामि" इति वदन्ती सा पार्वती त्वरितं ततः चलितवती। शिवः ब्रह्मचारी वेष परित्यज्य आत्मनः वास्तविकरूपमाश्रित्य मन्दस्मितं कृत्वा तां पार्वती जग्राहेति भावः।

भाषा—अथवा "मैं" ही यहाँ से चली जाती हूँ" यह कहती हुई खिसक गया था स्तनों पर से वल्कल वस्त्र जिसका ऐसी पार्वती (वहाँ से) चल पड़ी। उसी समय बैल के ध्वजचिन्ह वाले शंकर ने वास्तविक रूप को धारण कर मुस्कराते हुए पकड़ लिया।

भावार्थ—अथवा यदि यह ब्रह्मचारी अपने कथन से अपने को शान्त नहीं करते हैं तो मैं ही इस स्थान से चली जाती हूँ। ऐसा कहकर पार्वती उस स्थान से अन्यत्र चले जाने के लिए जैसे ही तैयार होती हैं वैसे ही शिवजी अपने वास्तविक स्वरूप को धारण कर पार्वती को पकड़ लेते हैं अर्थात् वे पार्वती के समक्ष अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर देते हैं।

इस भाँति ब्रह्मचारी वेषधारी शिव द्वारा शिव के प्रति अनन्य अनुराग रखने वाली पार्वती की परीक्षा ले ली जाती है और वह उसमें उत्तीर्ण होती है। अर्थात् शिवजी को विश्वास हो जाता है कि शिव के प्रति पार्वती का स्नेह अटूट तथा वास्तविक है। अतः वे प्रसन्न होकर अपने सही रूप को उसके समक्ष प्रकट कर देते हैं।

व्याकरण—अतः + इदम् + तमिल्। **गमिष्यामि**—गम् + लृट्। **वादिनी** = वद् + णिनि + ङीप् = (स्त्रीलिङ्ग में)। **भिन्न** = भिद् + क्त—भिन्न। **चचाल** = चल् = लिट्। **केतनम्**—केत + ल्युट्। **आस्थाय** = आ + स्था + ल्यप्। **स्मितः** = स्मि + क्त। **समालम्बे** = सम् + आ + लम्ब + लिट्।

समास आदि—**वादिनी** = वदतीति वादिनी। **स्तनभिन्नवल्कला** - स्तनाभ्यां भिन्नं स्तनभिन्नं (सुप्सुपा), स्तनभिन्नं वल्कलं यस्याः सा (बहुव्रीहि)। 'भिन्नम्' शब्द का अर्थ टूटा हुआ (त्रुटितम्) भी होता हैं अतः यह अर्थ होने पर—'स्तनाभ्यां भिन्नं वल्कलं यस्याः सा। **वृषराजकेतनः** = वृषाणां राजा इति

वृषराजः (षष्ठी तत्पुरुष) यहाँ समास होने के पश्चात्" राजाहः सखिभ्यष्टच्" से 'टच् प्रत्यय हो जाता है। वृषराजः केतनं यस्य सः अथवा वृषराजः केतने यस्य सः। **केतनम्**=केत्यते (ज्ञायते) अनेन इति केतनम्। **स्वरूपम्**=स्वस्य रूपम् (षष्ठी तत्पुरुष) अथवा स्वं रूपम् (कर्मधारय)। **कृतस्मितः**=कृतं स्मितं येन सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**इतः**=इस स्थान से, यहाँ से। **गमिष्यामि**=चली जाऊँगी। **वादिनी**=कहती हुई। **बाला**=युवती पार्वती। **स्तनभिन्नवल्कला**=हट गया है वल्कल वस्त्र स्तनों से जिसके। भिन्न—खिसक गया है, हट गया है। अथवा स्तनों की ऊँचाई तथा कठोरता के कारण उनको ढकने वाले वस्त्र फट गये थे जिसके ऐसी पार्वती। यहाँ भिन्न का अर्थ टूटा हुआ या फटा हुआ किया गया है। **चचाल**=तुरन्त ही चल दी। इसका कर्त्ता "बाला" है। **वृषराजकेतन**=बैल का चिह्न है ध्वजा पर जिसको अर्थात् शिव। केतन=चिह्न, पताका—"पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्" इत्यमरः। वृष=बैल। **आस्थाय**=ग्रहण करके, धारण करके। इसका कर्म "स्वरूपम्" हैं। **स्वरूप**=अपना (वास्तविक) रूप। भाव यह है कि शिव ने ब्रह्मचारी का वेश त्यागकर अपना रूप धारण कर लिया। **कृतस्मितः**=मुस्कराते हुए। स्मितम्—मुस्कान। शिव को मुस्कराहट इसलिये आई कि उन्होंने पार्वती को अभीष्ट से विचलित करने का निरन्तर प्रयास किया लेकिन वह विचलित न हो सकी थी। शिव के प्रति उनका अनन्य प्रेम तथा अटूट भक्ति थी। अतः शिव पार्वती से पूर्णतया सन्तुष्ट हो गये। इसके अतिरिक्त उसकी मुस्कराहट उसके सन्तोष की भी द्योतक थी। **ताम्**=उस पार्वती को। **समाललम्बे**=पकड़ लिया है ॥८४॥

प्रसङ्ग—प्रिय की निन्दा को सुनने से अपने को पृथक् रखने के लिये पार्वती ने उस प्रदेश को छोड़कर अन्यत्र जाने का निश्चय कर लिया। उन्होंने चल देने के लिये जैसे ही अपने पैर को उठाया वैसे ही शिव ने अपने वास्तविक स्वरूप को धारण कर उनको पकड़ लिया। पार्वती शिव को अचानक ही देखकर लज्जित हुई। लज्जा के कारण उनका वहाँ रुक सकना सम्भव न था,

साथ ही प्रिय को मन भरकर देख लेने की लालसा भी उनके चरणों को आगे बढ़ने से रोक सी रही थी। उस समय पार्वती की दशा उस नदी के सदृश थी कि जो मार्ग में पर्वत के आ जाने के कारण न तो आगे ही बढ़ सकती है और न अपनी धारा की तीव्रगति के कारण पीछे ही अपने को मोड़ सकती है। आगामी श्लोक में महाकवि कालिदास ने इस उपर्युक्त विषय का कितना सुन्दर चित्र अङ्कित किया है—

तं वीक्ष्य वेपथुमति सरसाऽङ्गयष्टि–
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराऽऽकुलितेव सिन्धुः
शैलाऽधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥८५॥

अन्वयः—तं वीक्ष्य वेपथुमति सरसाऽङ्गयष्टिः निपेक्षणाय उद्धृतं पदं उद्वहन्ति शैलाधिराजतनया मार्गाचलव्यतिकराकुलिता सिन्धु इव न ययौ न तस्थौ ॥८५॥

संस्कृत-व्याख्या—तम् = देव शिवम्, वीक्ष्य = दृष्टवा, वेपथुमति = कम्पवती, सरसाऽङ्गयष्टि = स्विन्नगात्री, निक्षेपणाय = अन्यत्र-विन्यासाय, उद्धृतम् = उत्क्षिप्तम्, पदम् = चरणम्, उद्वहन्ति = धारयन्ती, शैलाधिराजतनया = पर्वतराजपुत्री, पार्वतीत्यर्थः, मार्गाचलव्यतिकराकुलिता = अध्वपर्वतसमाहतिसम्भ्रमिता, सिन्धुरिव = नदीव, न ययौ = प्रियतमावलोकनकौतुकहर्षवशात् न जगाम, न तस्थौ = लज्जया न स्थितवति। तं शिवं दृष्ट्वा तत्स्पर्शं च प्राप्य तस्याः (पार्वत्याः) शरीरे कम्पस्वेदस्तम्भाद्याः सात्विकाः भावाः समुत्पन्नाः। लज्जा तां ततः गन्तुम् प्रैरयत् प्रियसम्पर्कजन्यसुखलालसा च तत्रैव स्थातुम्। एवं किंकर्तव्यविमूढा सा किमपि निश्चेतुं समर्था न बभूव। तथा वेगेन निम्नाभिमुखं प्रवहन्ती नदी मार्गे आगतेन गिरिणा अवरुद्धा भूत्वा अग्रे गन्तुं न प्रभवती प्रवाहवेगाच्च स्थातुमपि नार्हति तथैव पार्वत्याः दशाऽपि जाता।

भाषा—उसको (शिव को) देखकर कम्पन तथा पसीने से युक्त, अन्यत्र गमन करने के लिये उठाये हुए पैर को धारण करती हुई पर्वत से अवरुद्ध गति वाली नदी के समान न तो आगे ही बढ़ सकी और न (वहां) ठहर ही सकी।

भावार्थ—उन शिव को देखकर तथा उनके स्पर्श को प्राप्त कर उस पार्वती के शरीर में रोमांच उत्पन्न हो गया। लज्जा ने उस पार्वती को वहाँ से चले जाने की प्रेरणा दी और अपने प्रिय (पति शिव) के सम्पर्क से उत्पन्न हुये सुख की लालसा ने उसे वही रुके रहने के लिये प्रेरित किया। ऐसी स्थिति में किकर्तव्यविमूढ़ होकर वह कुछ भी कर सकने में उसी प्रकार समर्थ न हो सकी कि जैसे तीव्र गति से युक्त कोई पर्वती नदी बहती हुई चली आ रही हो और उसके मार्ग में कोई पर्वत आ जाय तो वह नदी न तो आगे ही बढ़ने में समर्थ हो पाती है और अपनी तीव्रगति के कारण न पीछे लौटने में ही।

अलङ्कार—इस पद में उपमा अलङ्कार है।

छन्द—इस पञ्चम सर्ग में प्रारम्भ से लेकर ८४वें श्लोक तक वंशस्थ वृत्त है तथा ८५वें और ८६वें श्लोक में वसन्ततिलका नामक वृत्त है।

व्याकरण—**वीक्ष्य**—वि + ईक्ष् + ल्यप्। **वेपथुमति** = वेप् + अथुच्—यहाँ वेप् (कम्पने) धातु से "ट्वितोऽथुच्" से अथुच् प्रत्यय जुड़ जाता है। वेपथु + मतुप + ङीप्। **निक्षेपणाय** = नि + क्षिप् + ल्युट् (अन)। **उद्धृतम्** = उद् + धृ अथवा हृ + क्त। **उद्वहन्ती** = उद् + वह + शतृ + ङीप्। यहाँ 'शप् श्यनोर्नित्यम् से नुम् हो जाता है। **शैल** = शिला · अण्। **व्यतिकरः** = वि + अति + कृ + अप्। **ययौ** - य + लिट्। **तस्थौ** = स्था + लिट्।

समास आदि—**वेपथुमती** = वेपथुः अस्तीति वेपथुमती। **सरसाङ्गयष्टिः** = अङ्गं यष्टिः इव अङ्गयष्टि [उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्य प्रयोगे" से उपमित तत्पुरुष समास हुआ है] रसेन सहवर्त्तमाना सरसा, सरसा अङ्गयष्टि यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **शैलाधिराजतनया** = शैलानां अधिराजः—शैलाधिराजः (षष्ठी तत्पुरुष) तस्या तनया, शैलाधिराजतनया। **मार्गाचलव्यतिकराकुलिता** = चलतीतिचलः न चलः अचलः अचलस्य व्यतिकरः (षष्ठी तत्पुरुष); मार्गे अचलव्यतिकरः तेन आकुलिता मार्गाचलव्यतिकराकुलिता।

टिप्पणियाँ—**वीक्ष्य** = देखकर। इसका कर्म 'तम्' है। **वेपथुमति** = कम्पनयुक्त, काँपती हुई। कम्प एक सात्त्विक भाव है। ये सा० भाव आठ प्रकार के होते हैं और वे होते हैं—'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथु। वैवर्ण्यमश्रु प्रलयाविन्यष्टौ सात्त्विकाः गुणाः।" यह शैलाधिराज तनया

का विशेषण है। शिव के अचानक ही प्रकट हो जाने से पार्वती के शरीर में कम्पन (वेपथु) उपन्न हो गया। **सरसाङ्गयष्टिः**=पसीने से युक्त शरीर वाली। **निक्षेपणाय**=दूसरी जगह पर रखने के लिये। यहाँ 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' से चतुर्थी विभक्ति हुई है। **उद्धृतम्**=उठाये हुए को। यह 'पदम्' का विशेषण है। **पदम्**=चरण को। **उद्वहन्ती**=ले जाती हुई, धारण करती हुई। "शैलाधिराजतनया" का विशेषण है। **शैलाधिराजतनया**=पर्वतराज हिमालय की पुत्री—पार्वती। **मार्गाचलव्यतिकराकुलिता**=मार्ग में पर्वत के आ जाने के कारण जिसका गमन रुक गया हो, ऐसी (नदी)। **व्यतिकर**=सम्पर्क विघ्न, अवरोध होने के कारण! **सिन्धु इव**=नदी के समान। **ययौ**=न गमन किया। **न तस्थौ**=न ठहरी, न रुकी ॥८५॥

* * *

प्रसङ्ग—अपने प्रति अनन्य अनुराग को देखकर शिव पार्वती से अत्यधिक प्रसन्न हुए और उन्होंने पार्वती से कहा—

अद्यप्रभृत्यवनताऽङ्गि तवाऽस्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अन्हाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥८६॥

अन्वयः—हे अवतनाङ्गि! अद्यप्रभृति तव तपोभिः क्रीतः दासः अस्मि चन्द्रमौलौ इति वादिनि सा आन्हाय नियमजं क्लम उत्ससर्ज। हि क्लेशः फलेन पुनः नवतां विधत्ते ॥८६॥

संस्कृत-व्याख्या—हे अवताङ्गि! =हे पार्वती! अद्यप्रभृति=आस्माद्दिनादारभ्य, तव तपोभिः=ते नियमैः, क्रीतः=स्वायत्तीकृतः, दासः=सेवकः अस्मि। इति=इत्थं, चन्द्रमौलौ—शिवे, वादिनि=वदति सति, सा=पार्वती अन्हाय=सम्पदिः, नियमजं=तपोजन्यं, क्लमं=क्लेशं, उत्ससर्ज=फलप्राप्त्या क्लेशं विसस्मार। हि=यस्मात्कारणात्, क्लेशः=कष्टं फलेन=फलसिद्ध्या, पुनः=भूयः, नवतां=नूतनताम्, विधते=धारयति। पार्वत्या तपस्याया अत्यधिकं संतुष्टः शिवः पार्वतीमुवाच—हे विनीते पार्वति! त्वं मां स्वतपस्यया क्रीतवती।

अद्यप्रभृति अहं तव वशंवदः दासः संजातः अस्मि । हरस्य ईदृशं वचः श्रुत्वा गौरी नियमजं अखिलमपि क्लेशः विस्मृतवती । क्लेशः खलु फलसिद्धया पूर्वदेव अक्लिष्टतां आपादयतीति भावः ।

भाषा—हे विनम्र अङ्गों वाली पार्वती ! आज से लेकर मैं तुम्हारी तपस्या के द्वारा मोल लिया गया हुआ तुम्हारा सेवक हूँ । शिव के इस प्रकार कहने पर वह (पार्वती) अपने तपोजन्य कष्ट को भूल गई । क्योंकि फल की प्राप्ति हो जाने पर कष्ट फिर नवीनता को ला दिया करता है ।

भावार्थ—पार्वती की तपस्या से अत्यधिक संतुष्ट शिव ने पार्वती से कहा—" हे पार्वती ! तुमने अपनी तपस्या के द्वारा मुझे खरीद लिया है । आज से मैं तुम्हारे द्वारा खरीदा गया तुम्हारा दास हूँ । "शिव के इन वचनों को सुनकर पार्वती अति प्रसन्न हुयीं और तपस्या से उत्पन्न सम्पूर्ण कष्टों को भूल गईं । क्योंकि अनेक कष्टों के सहन करने के उपरान्त भी यदि व्यक्ति को सफलता प्राप्त हो जाया करती है तो वह अपनी सफलता की उपलब्धि के कारण अपने विगत सभी कष्टों को भूल जाया करता है । यह स्वाभाविक बात है ।

व्याकरण—अवनताङ्गि=अव+नम्+क्त=अवनत । यहाँ "नासिकोदरोष्ठ-जङ्घादन्तकर्णशृंगाच्च" सूत्र के अन्तर्गत "अंगगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इस वार्तिक से विकल्प करके ङीप् प्रत्यय होता है । किन्तु जहाँ ङीप् प्रत्यय नहीं होता है तब वहीं टाप् प्रत्यय होकर "अवनतांगा" रूप बनता है तथा इसके सम्बोधन में अवनतांगे बनता है । क्रीतः—क्री+क्त । अस्मि=अस्+लट् (मिप्) । वादिनि=वद्+णिनि । नियमजम्=नियम्+जन्+ड । क्लमम्=क्लम+घङ् । उत्ससर्ज=उद्+सृज+लिट् (अ) । नवताम्=नव+तल् । विधत्ते=वि+धा+लट् ।

समास आदि—अवनताङ्गि—अवनतं अंगं यस्याः सा (बहुव्रीहि) तत्सम्बोधने । चन्द्रमौलौ—चन्द्रः मौलिः यस्य सः चन्द्रमौलिः (बहुव्रीहि) तस्मिन् । नियमजम्—नियमाज्जायते (उपपद तत्पुरुष तम् । नवताम् = नवस्य भावः नवता, ताम् ।

टिप्पणियाँ—हे अवनताङ्गिः—हे विनम्र अंगों वाली । अद्यप्रभृति= आज से लेकर । तपोभिः—तपस्या से, नियमों से । क्रीतः=खरीदा हुआ । यह 'दासः' का विशेषण है । दास=सेवक । चन्द्रमौलौ=शिव के । मौलि=

शिनरोभूषण। यह 'वादिनि' का कर्म है। "वादिनि"=कहते हुए। अन्हाय=शीघ्र ही। नियमजम्=तपस्या से उत्पन्न। नियम=तपस्या के नियम। यह "क्लमम्" का विशेषण है। क्लमम्=थकावट को उत्ससर्ज=त्याग दिया। इस क्रिया का कर्त्ता 'सा' है वैसे 'सृज्' धातु का अर्थ बनाना अथवा सृजन करना होता है। किन्तु उत्+सृज का अर्थ त्यागना हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शिव को प्राप्त करने के निमित्त पार्वती ने जो कठोर तपस्या की थी, उसके कारण उसे जिन महान् कष्टों को सहन करना पड़ा था, शिव की प्राप्ति के अनन्तर वह उन कष्टों को एकदम भूल गई क्योंकि जिस कार्य की सफलता के निमित्त कठोर परिश्रम किया जाता है और उसमें पूर्ण सफलता मिल जाती है तो मनुष्य उन कष्टों को भूल जाया करता है कि जो उसे अपने उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त सहन करने पड़े थे। हि=क्योंकि—'ही हेतावधारणे" इत्यमरः। फलेन=फल की प्राप्ति से—यहाँ हेतु में तृतीया विभक्ति हुई है। यहाँ लक्षणा 'फल' शब्द का अर्थ फल प्राप्ति ही है अतः कारण में तृतीया की अपेक्षा हेतु में तृतीया अधिक संगत प्रतीत होती है। नवताम्=नवीनता को। यह 'विधत्ते' क्रिया का कर्म है। विधत्ते=धारण करता है। "इस क्रिया का कर्त्ता" "क्लेश" है। 'धा' धातु उभयपदी धातु है। इसके दधाति, धत्तः दधति तथा धत्ते, दधाते दधते इत्यादि परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी दोनों ही प्रकार के रूप चलते हैं।

इत्युत्तरप्रदेशस्थ 'मैनपुरी' मण्डलान्तर्गत 'भोगाँव' उपमण्डलान्तर्गत
'महावतपुर' ग्राम निवासिनः श्रीमतो दयानन्द महोदयस्य
श्रीमत्याः सुखदेव्याश्च तनुजनुषा वृन्दावनस्थगुरुकुल-
विश्वविद्यालयाधीतविद्यन पी-एच० डी० इत्यु-
पाधिधारिणा आचार्यसुरेन्द्रदेवशास्त्रिणा
विरचिता कुमारसम्भवस्य तपः
फलोदयो नाम पंचमसर्गस्य
"आशुबोधिनी" व्याख्या
समाप्ता ॥

* * *

परिशिष्ट १

कुमारसम्भव (पञ्चम सर्ग) के अन्तर्गत आये हुये सुभाषित

	श्लोक संख्या
१. प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।	१
२. पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ।	४
३. कः ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुख प्रतीपयेत् ।	५
४. न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ।	९
५. न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ।	१६
६. भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ।	२१
७. शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् ।	३३
८. सतां संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ।	३९
९. पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं प्रसारयेत पन्नगरत्नसूचये ।	४३
१०. वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ।	४४
११. न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ।	४५
१२. न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ।	४६
१३. मनोरथानामगतिर्न विद्यते ।	६४
१४. अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ।	७३
१५. अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ।	७५
१६. न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ।	७७
१७. न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ।	८२
१८. न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ।	८३
१९. मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।	८५

परिशिष्ट २

कालिदास के सम्बन्ध में कही गई उक्तियाँ

१. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥
२. उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मतं मम ।
अर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते ॥
६. काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्कः तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥
४. कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम् ।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्कः यत्र याति शकुन्तला ॥
५. शाकुन्तलचतुर्थोऽङ्कः सर्वोत्कृष्ट इति प्रथा ।
न सर्वसंमता यस्मात् पञ्चमोऽस्ति ततोऽधिकः ॥
६. पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥
७. निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥
[बाण, हर्षचरित भूमिका श्लोक १३]

८. साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीलाकालिदासोक्ती ॥
[गोवर्धनाचार्य, आर्यासप्तशती—भूमिका श्लोक ३६]

९. यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो ।
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ॥
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः ।
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ॥
जयदेव, प्रसन्नराघव १/२२ ।

१०. भासो रामिलसोमिली वररुचिः श्रीसाहसाङ्कः कविः
मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धश्च यः ।
दण्डी वाव दिवाकरो गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते ।।
[राजशेखर, शार्ङ्गधरपद्धति श्लोक १८८]

११. एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ।।
[राजशेखर, सूक्ति-मुक्तावली]

१२. माघश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथ भवभूत्याह्वयो भोजराजः ।
श्रीदण्डी दिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लटो भट्टबाणः
ख्याताश्चान्ये सुबन्ध्वादय इह कृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति ।।
[विश्वगुणादर्शचम्पू श्लोक १४६]

१३. धनवन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु—
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहरो नृपते सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।।

[ज्योतिर्विदाभरण २२/१०]

१४. येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
सः जयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ।।
[एहोल—शिलालेख (पुलकेशी द्वितीय) शक संवत् ५५६ (६३४ ई०)]

१५. श्रीकालिदासकविवर्यसरस्वतीयं
किं वर्णयाभ्यतितिरां रसवाहिनीति ।
यत् कालिका भगवती शुचिभाव योगाद्
यस्यामहो मुहुरनुग्रहमादधाति ।।
[पिठोवामण्णो, कुण्नोफ लाघव ४१७-१८]

१६. लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरिः ।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ॥

[दण्डी अवन्तिसुन्दरीकथा-भूमिका, श्लोक १५]

१७. कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद् विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥ [मल्लिनाथ]

१८. अनघा गुणसम्पूर्णा समुचितविच्छित्तिवृत्तिरीतिरसौ ।
प्रस्तुतरसन्दोहा सरस्वती जयति कालिदासस्य ॥

१९. बाल्मिकेरजनि प्रकाशितगुणा व्यासेन लीलावती
वैदर्भी कविता स्वयं वृतवती श्रीकालिदासं वरम् ।
याऽसूतामरसिंहमाघधनिकान् सेयं जरानीरसा
शून्यालंकरणा स्खलन्मधुपदा कं वा जनं नाश्रिता ।

२०. कालिदासकविता नवं वयो माहिषं दधि सशर्करं पयः ।
शारदेन्दुरबला च कोमला स्वर्ग सौख्यमुपभुञ्जते नराः ॥

२१. कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी ।
पर्वंत परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम् ॥

२२. कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च ।
अन्ये कवयः कपयश्चापलमात्रं परं दधति ॥

२३. वयमपि कवयः कवयोऽपि च कालिदासाद्याः ।
दृष्टो भवन्ति दृषदश्चिन्तामणयोऽपि हा दृषदः ॥

२४. वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते ।

२५. सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति ।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ॥

२६, श्रीकालिदासस्य वचो विचार्य नैवान्यकाव्ये रमते मतिर्मे ।
किं पारिजातं परिहृत्य हन्त भृङ्गलिरानन्दति सिन्दुवारे ॥

२७. रसभारभरोद्भिन्नां भारतीममराहृते ।
श्रीमतः विकालिदासस्य ज्ञातुं कः क्षमः पुमान् ॥ [स्थिरदेव]

२८. अपशब्दशतं माघे भारवौ च शतत्रयम् ।
कालिदासे न गण्यन्ते कविरेको धनञ्जयः ॥

२९. पुष्येषु जाती नगरीषु काञ्ची नदीषू, गङ्गा कवि कालिदासः ।

३०. अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा, हरावली न ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव प्रकामहृद्या, न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

३१. भासयत्यपि भासादौ कविवर्गे जगत्त्रयम् ।
के न यान्ति निबन्धारः कालिदासस्य दासताम् ॥

३२. अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो ,
द्वित्राः पञ्चसा एव वा महाकाव्य इति गण्यन्ते ।

[आनन्दवर्धनाचार्य]

३३. ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः,
शुद्धा सुदा स्वादुमती च यस्य ।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्र-
सिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः ॥ [सोड्ढल]

Bhavan's Sri Sankaracharya Sanskrit Maha Vidyapeetha
596